शिशुपालवध महाकाव्य में ध्वनि-तत्त्व - एक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
प्रो0 डा. चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्री
श्रीमती विजय लक्ष्मी
एम0ए0

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1998

संकेत सूची

ऋ.सं.	-	ऋग्वेद संहिता
यजु.सं.	-	यजुर्वेद संहिता
श.प्रा.	-	शतपथ प्रातिशाख्य
आश्व.श्रौ.	-	आश्वलायन श्रौतसूत्र
का.प्र.	-	काव्यप्रकाश
कौ.अ.शा.	-	कौटिल्य अर्थशास्त्र
कि.	-	किरातार्जुनीयम्
नैषध	-	नैषधीयचरितम्
पा.शि.	-	पाणिनी शिक्षा
म.भा.आ.प.	-	महाभारत आदिपर्व
म.भा.स.प.	-	महाभारत सभापर्व
ध्व.	-	ध्वन्यालोक
रस गं.	-	रस गंगाधर
शि.व.	-	शिशुपालवध

निवेदन

संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्ययन के प्रति मेरे हृदय में विशेष रुचि थी। परास्नातक की कक्षाओं में काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन करने का अवसर मिला, जिससे काव्यशास्त्र के प्रति मेरी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। परास्नातक की कक्षा में माघकवि विरचित शिशुपालवध महाकाव्य का अध्ययन करने का अवसर मिला। परास्नातक के पश्चात् गुरुवर्य डा. पद्माकर मिश्र तथा जयश्री मित्रा ने शोध करने की प्रेरणा दी। फलतः मन में शोध करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। अपनी इस शोध विषयक जिज्ञासा के समाधान हेतु मैने पूज्यपाद गुरुवर्य प्रोफेसर डा. चण्डिका प्रसाद शुक्ल से बड़े संकोच से यह चिर जिज्ञासा प्रकट की। पूज्यपाद गुरुवर्य ने माघकवि के काव्य का ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन की ओर मुझे इङ्गित किया और कहा कि विषय कठिन है, किन्तु अध्यवसाय से सम्भव है। मैंने भी महाकवि माघ विषयक उक्तियों- **'मेघे माघे गतं वयः'** तथा **'माघेन विघ्निहोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे'** के अनुशीलन से 'माघकाव्य' की महत्ता जानकर गुरुवर्य के इस सङ्केत एवं इच्छा को आदेश मानकर, यह शोध यात्रा आरम्भ की। माघकवि की एकमात्र कृति 'शिशुपालवध' महाकाव्य का ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन मुझ जैसी अल्पज्ञानी एवं संघर्ष के वात्याचक्र में ग्रस्त छात्रा के लिए उतना ही कष्टसाध्य था, जितना एक पंगु का गिरि लांघना, क्योंकि यह कार्य तो महतो महीयान का सा था किन्तु गुरुवर्य की असीम अनुकम्पा का आश्रय लेकर मैंने अपनी यह शोधयात्रा मई, 1995 से प्रारम्भ की।

इस युग में माघकवि के काव्य का मूल्यांकन अनेक विद्वानों ने, अनेक दृष्टियों से करने का प्रयास किया है, किन्तु जिस ध्वनि-तत्त्व के निवेश के कारण उन्हे महाकवि की उपाधि प्रदान की गयी है- उस ध्वनि तत्त्व का विवेचन अभी तक नहीं हुआ था। अतः माघकवि के काव्य में ध्वनि तत्त्व का विवेचन मैंने अपनी अल्पबुद्धि के द्वारा इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत करने का यत्किञ्चित प्रयास किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सब मिलाकर नव अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में माघकवि के जीवन तथा जन्मस्थान, वंश एवं प्रारम्भिक जीवन आदि के विषय में विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय के 'क' तथा 'ख' दो भाग हैं- क-भाग में सम्पूर्ण काव्य कथानक रखा गया है तथा 'ख' भाग में शास्त्रीय ढंग से उस काव्य कथानक की मीमांसा की गयी है।

तृतीय अध्याय में शिशुपालवध महाकाव्य के इतिवृत्त का स्रोत तथा माघ की नूतन कल्पना के औचित्य विषय पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त का विवेचन हुआ है। माघकवि के काव्य में ध्वनि तत्त्व जितना नवीन है, उतना ही नवीन एवं दुष्कर ध्वनि तत्त्व का अवगाहन है। ध्वनि का वास्तविक रूप समझकर फिर उस कुञ्चिका के आधार पर माघकवि की काव्यतालिका का सम्यक् उद्घाटन किया जा सकता है। अत: यहाँ ध्वनि के विषय का सम्यक् विवेचन किया गया है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा दिये गये ध्वनि की परिभाषा, ध्वनिकाव्य के भेद, ध्वनिभेद आदि का सम्यक् विवेचन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में शिशुपालवध महाकाव्य की ध्वनिकाव्यता के विषय में विचार किया गया है। इस अध्याय के 'क' तथा 'ख' दो भाग है- क-भाग में विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का केवल एक भेद रसादि ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के द्वितीय भेद संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेदोपभेदों का सम्यक् विवेचन किया गया है और 'ख' भाग में ध्वनिकाव्य के द्वितीय भेद अविवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दोनों भेदों का निरूपण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में शिशुपालवध महाकाव्य से गुणीभूतव्यंग्यता के स्थलों को खोजकर उनका विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में शिशुपालवध महाकाव्य से चित्रकाव्यता के स्थलों को खोजकर विवेचन किया गया है।

अष्टम अध्याय में माघकवि की व्युत्पत्ति का विवेचन हुआ है। इसके 'क' 'ख' 'ग' 'घ' चार भाग है। 'क' भाग में वेद तथा वेदाङ्ग विषयक व्युत्पत्ति का मौलिक विवेचन किया गया है। साथ ही ज्योतिषशास्त्र के अंग होने के कारण शकुन शास्त्र विषयक विवेचन को भी यहाँ रखा गया है। 'ख' भाग में शिशुपालवध महाकाव्य में उल्लिखित दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। 'ग' भाग में पुराणों के आख्यानों का उन-उन मौलिक स्थलों से खोजकर विवेचन किया गया है, जिनका उल्लेख माघकाव्य में किया गया है। 'घ' भाग में महाकवि माघ की धर्मशास्त्र तथा अन्य विविध विषय सम्बन्धी विशेषज्ञता का परिशीलन हुआ है और तत्कालीन समाज की राजनीतिक एवं सामाजिक अवस्था (लोकचित्रण) को निरुपित करने का प्रयास किया गया है।

नवम अध्याय के 'क' तथा 'ख' दो भाग है। 'क'-भाग में 'आदान' है, जिसमें पूर्ववर्ती काव्यों का शिशुपालवध पर क्या प्रभाव पड़ा है? इसका सम्यक् विवेचन हुआ है 'ख'-भाग में परवर्ती काव्य में शिशुपालवध का क्या प्रभाव पड़ा है? इसका संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

इस शोधप्रबन्ध के लिखने में मैने जिन ग्रन्थों की सहायता ली है, उन सबके प्रति मैं परम कृतज्ञ हूँ। माघकवि के काव्य का अर्थ समझने के लिए मैंने 'मल्लिनाथ टीका' सहित 'शिशुपालवध' से विशेष सहायता ली है। अतः उक्त ग्रन्थ के प्रति हृदय विशेष रूप से आभारी है। परम पूज्यपाद गुरुवर्य प्रोफेसर डा. चण्डिका प्रसाद शुक्ल के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए मेरे पास वाणी नहीं है, जिनसे समय-समय पर यथाभिलषित दुर्लभ उपदेश एवं पुस्तके सुलभ होती रही है। गुरुवर्य के स्नेह एवं उपदेश से यह शोध प्रबन्ध सम्पन्न हो सका। उनके प्रति मेरा हृदय कृतज्ञता से सन्नत रहेगा।

गंगानाथ झां शोध संस्थान के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ, जहाँ से पुस्तकें सुलभ होती रही। प्रयाग विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय एवं संस्कृत-संस्थान, लखनऊ, पुस्तकालय के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने लेखों एवं दुर्लभ पुस्तकों को देने की व्यवस्था की।

परम पूजनीय पतिदेव श्री हेमेन्द्र कुमार मिश्र की विशेष कृतज्ञ हूँ, जिनके सतत प्रेरणास्पद उपदेशों ने मेरे शोधकार्य में गति प्रदान की है तथा पूजनीया वत्सला (मेरी माँ) ने जो गार्हस्थिक कार्यो से मुझे निश्चिन्त कर सहयोग प्रदान किया, उनके प्रति मैं परम कृतज्ञ हूँ।

मैं अपने पूज्यपाद पितृद्वय पण्डित श्रीकान्त मिश्र एवं श्री पवन कुमार शुक्ल जी से किन शब्दों को व्यक्त कर उऋण होऊँ, जिनसे समय-समय पर प्रेरक विचार सुलभ होते रहे हैं। तदतिरिक्त डा. पद्माकर मिश्र अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, ईविंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद तथा जयश्री मित्रा, प्रवक्त्री, संस्कृत-विभाग, ईविंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद, ज्येष्ठ भ्राता श्री, डा. अनिल कुमार मिश्र, पितृव्य (चाचा) डा. दीनानाथ शुक्ल, प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे विशेष सहयोग प्रदान कर इस योग्य बनाया कि मैं इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत कर सकूँ।

मैं समस्त स्टाफ, अबैकस कम्प्यूटिंग (कम्प्यूटर शाखा-जे.एस.एल. ग्रुप) महेवा, नैनी-इलाहाबाद-7 को भी धन्यवाद देती हूँ, जिन्होने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शुद्ध एवं स्पष्ट टंकण कर मुझे सहयोग प्रदान किया। मैं उन समस्त विद्वज्जनों, गुरुजनों, सहृदय शुभाकांक्षियों

एवं परिवार के सदस्यों की भी विशेष अनुगृहीत हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुझे प्रेरित ही नहीं किया अपितु समय-समय पर विशेष सहयोग प्रदान कर मेरा उत्साह वर्धन किया।

विजय लक्ष्मी
श्रीमती विजयलक्ष्मी
शोधकर्त्री

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ क्रमांक

प्रथम अध्याय 1 - 8

महाकवि माघ का जीवन वृत्त

अन्तः साक्ष्य, बहिःसाक्ष्य, माघ का जन्म स्थान, देशकाल, वंश तथा प्रारम्भिक जीवन।

द्वितीय अध्याय 9 - 66

(क) काव्य कथानक या कथावस्तु विधान

इन्द्र सन्देश-गृहमन्त्रणा-द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान - रैवतक गिरि रम्यता - गिरि - विश्राम-ऋतु वैभव - वन विहार - जलक्रीड़ा - मद्यपान वर्णन - प्रभात सुषमा - प्राभातिक प्रस्थान - धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा अभिनन्दन - साभिनन्दन यज्ञारम्भ - शिशुपाल का मात्सर्य - शिशुपाल दूतवाक्य - श्रीकृष्ण सभाक्षोभ एवं युद्ध प्रस्थान - तुमुल युद्ध - द्वन्द्व युद्ध - शिशुपालवध।

(ख) आधिकारिक तथा प्रासंगिक वृत्त

अर्थप्रकृतियां - बीज - बिन्दु - पताका - प्रकरी - कार्य - कार्यावस्थाएं - आरम्भ - यत्न - प्राप्त्याशा - नियताप्ति - फलागम - सन्धियां - मुख - प्रतिमुख - गर्भ - विमर्श - उपसंहृत।

तृतीय अध्याय 67 - 69

शिशुपालवध महाकाव्य के इतिवृत्त का स्रोत तथा माघ की नूतन कल्पना का औचित्य।

चतुर्थ अध्याय 70 - 79

काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनि की परिभाषा-ध्वनि काव्य के भेद - ध्वनिभेद - अविवक्षितवाच्य ध्वनि या लक्षणामूलक ध्वनि - अत्यन्त - तिरस्कृतवाच्यध्वनि या अभिधा मूला ध्वनि - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य या रसादिध्वनि - भावध्वनि - रसाभास - भावाभास - भावोदय - भावशान्ति - भावसन्धि - भावशबलता - संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि - शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि - अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि।

पञ्चम अध्याय 80 - 125

ध्वनि काव्यता

(क) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

1. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि - रस और भाव की अभिव्यक्ति - वीर रस ध्वनि - श्रृंङ्गार रस ध्वनि - श्रृङ्गार आलम्बन श्रीकृष्ण - हास्य रसध्वनि - रौद्र रसध्वनि - भयानक रसध्वनि - वीभत्स रसध्वनि - करुण रसध्वनि - अद्भुत रसध्वनि - शान्त रसध्वनि - भक्तिवात्सल्यादिभाव रसध्वनि।

2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य - अलङ्कार ध्वनि तथा वस्तुध्वनि - अलङ्कार व्यङ्ग्य तथा वस्तु व्यङ्ग्य - कविप्रौढ़ोक्ति वस्तु से अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य - कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य - स्वत:सम्भवी अलङ्कार व्यङ्ग्य - कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु व्यङ्ग्य - स्वत:सम्भवी वस्तु व्यङ्ग्य-कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य।

(ख) अविवक्षितवाच्य ध्वनि - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृत

षष्ठ अध्याय 126 - 140

गुणीभूतव्यङ्ग्यता

अर्थालङ्कार - उपमा - रूपक - उत्प्रेक्षा - ससन्देह - निदर्शना - दृष्टान्त - अर्थान्तरन्यास - स्वभावोक्ति - भ्रान्तिमान्।

सप्तम अध्याय 141 - 148

चित्रकाव्यता (अवरकाव्य)

शब्दालङ्कार - अनुप्रास - यमक - श्लेष।

अष्टम अध्याय 149 - 234

व्युत्पत्ति

(क) व्युत्पत्ति - वेद - वेदाङ्ग

वेद - वेदाङ्ग - शिक्षा - व्याकरण - ज्योतिष - शकुन - वस्तु के टूटने तथा गिरने से प्राप्त शकुन-क्षुत (छींक) से प्राप्त शकुन।

(ख) व्युत्पत्ति दर्शन

सांख्यदर्शन - योगदर्शन - मीमांसादर्शन - गीतादर्शन।

(ग) व्युत्पत्ति-पुराणेतिहास

मैनाक पर्वत का जन्म तथा उसका सागर में वास-पृथ्वी का उद्धार - त्रिपुरदाह - अगस्त्य का दक्षिण दिशावास या अगस्त्य द्वारा विन्ध्यपर्वत को झुकाना - गरुड़ पर इन्द्र के द्वारा वज्र प्रहार एवं शेषनाग के साथ गरुड़ की मित्रता - रावण की तपस्या और वर प्राप्ति - गौतम पत्नी अहिल्या का अल्प समय के लिए इन्द्र की पत्नी बनना - गजासुरवध - समुद्रमन्थन - नारायण का क्षीरसागर में शेषशैय्या पर शयन - हिरण्यकशिपु - रुक्मिणी हरण - भूमि पुत्र नरकासुर - मोहिनीरूप में विष्णु द्वारा राहु का शिरच्छेद जरासन्धोत्पत्ति तथा भीम द्वारा उसका वध - श्रीकृष्ण के साथ बाणासुर का युद्ध - गोवर्धन पूजा सन्ध्या - शकट भंजन - दधीचि का अस्थिदान - दत्तात्रेय अवतार - राम अवतार - कृष्ण अवतार - पारिजात हरण - शिशुपालवध - यमलार्जुनभंग - भगवान् बुद्ध द्वारा मार विजय।

(घ) व्युत्पत्ति - धर्मशास्त्र तथा अन्य विविध विषय - नाट्यशास्त्र - नायिकाएं - आयुर्वेद - सामरिक विज्ञान - घमासान युद्ध का वर्णन - धनुर्वेद - अलङ्करण - तन्त्र मन्त्र शास्त्र - श्रुति -

श्रुतिमण्डल - स्वर मूर्च्छना - आलाप - ताल - तन्त्रीगतवाद्य - भूगोल - पशु विज्ञान - तुरगलक्षण - गजशास्त्र - पक्षी विज्ञान - माणिक्य ज्ञान - लोकचित्रण - शिशुपाल वध में राजनीतिक दशा - सामाजिक अवस्था।

नवम अध्याय 235 - 246

(क) आदान

माघकवि पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव।

(ख) प्रदान

परवर्ती काव्यों पर माघकवि का प्रभाव।

महाकवि माघ का जीवन-वृत्त

अन्त:साक्ष्य

अपनी अलोकसामान्य भव्यभास्वर प्रतिभा एवं मेधाशक्ति के प्रभाव से देशकाल की परिधि को लांघकर महाकवि देशान्तर तथा कालान्तर को भी निरवधि आलोकित करता रहता है। महाकवि अपनी मेधाशक्ति तथा स्वलेखनी से अपनी तथा अपने युग की चेतना को सार्वभौम सार्वकालिक और सार्वजनीन बना देता है। उसकी अपनी अनुभूति विश्व की अनुभूति बन जाती है। विश्व के जिन साहित्यों को ऐसे महाकवि मिले हैं वे अमर हो गये हैं। संस्कृत वाङ्मय उनमें सर्वाग्रणी है। संस्कृत साहित्य को अमरत्व प्रदान करने वाले महाकवियों की ज्योतिर्मयी परम्परा में महाकवि 'माघ' अन्यतम हैं। शिशुपालवध महाकाव्य इनकी एकमात्र वाङ्मयी कृति है, जिसे 'माघकाव्य' भी कहा जाता है।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी-भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। उन छोटे-छोटे राज्यों के सभी नरेश चक्रवर्ती बनने की महत्वाकांक्षा रखते थे। बड़े नरेश के अधीन अनेक छोटे-छोटे सामन्त भी होते थे, जो उस नरेश की शक्ति कम होते ही सदैव स्वतंत्र होने का प्रयास करते थे। इस प्रकार परस्पर सैनिक संघर्ष होते रहते थे। इसी समय उत्तर भारत के दक्षिण-पश्चिम भाग में गुजरात, राजस्थान और वलभी में अधिक बलवती शक्तियां विद्यमान थी। वलभी के ही अर्न्तगत श्री भिन्नमाल या भीनमाल राज्य था। सम्भवत: श्री भिन्नमाल को ही श्रीमाल भी कहा जाता था। इसी भिन्नमाल अथवा भीनमाल के नरेश वर्मलात अर्थात् धर्मनाभ के यहां एक सुप्रभदेव नामक मंत्री थे। शिशुपालवध महाकाव्य के अन्त में जो पांच श्लोक कविवंश के विषय में दिये गये हैं, उनमें सुप्रभदेव को वर्मलात के यहां सर्वाधिकारी तथा द्वितीय नरेश (देवोऽपर:) ही कहा गया है।[1]

सुप्रभदेव की मन्त्रणा को किसी भी प्रकार का अनुरोध किये बिना ही नरेश ऐसे मानते थे जैसे बुद्धिमान जन गौतमबुद्ध (तथागत) का उपदेश मानते थे। उन सुप्रभदेव के उदात्त,

---

1. सर्वाधिकारी सुकृताधिकार: श्रीवर्मलाख्य बभूव राज्ञ:।
   असक्त-दृष्टिर्विरजा: सदैव देवोऽपर: सुप्रभदेवनामा।।

क्षमाशील मृदु एवं धर्मपरायण पुत्र 'दत्तक' हुए।[1]

'दत्तक' की उदारता तथा दानशीलता से मुग्ध होकर उन्हें सर्वाश्रय की उपाधि दी गयी थी। माघ के पैतृक निधि के रूप में समृद्धि के साथ उदारता मिली थी।[2]

माघकवि दत्तक सर्वाश्रय के पुत्र थे, जिन्होंने शिशुपालवध नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की।[3]

शिशुपालवध महाकाव्य के कवि वंश वर्णन में उद्घृत इस अन्तिम श्लोक में यद्यपि कवि का वास्तविक नाम नहीं दिया गया है, तथापि महाकाव्य के प्रति सर्ग के अन्त में पुष्पिका में **'इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये'** दिया गया है तथा 19वें सर्ग के अन्तिम श्लोक – **'सत्त्वं मान विशिष्ट..........'** इस 120वें श्लोक में जो चक्रबन्ध प्रयुक्त किया गया है, उसमें 5वें वृत्त में शिशुपालवध तथा 8वें वृत्त में माघकाव्यमिदम् पठनीय है।[4]

शिशुपालवध की कुछ कृतियों में सर्गान्त पुष्पिका में इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है-

'इति श्रीभिन्नमालवास्तव्यदत्तकसुनोर्महावैयाकरणस्य माघस्य कृतौ शिशुपालवधं महाकाव्यं............' जिससे भी उनका नाम माघ, पिता का नाम दत्तक, स्थान श्रीभिन्नमाल तथा महाकवि माघ का महावैय्याकरणत्व प्रमाणित होता है। इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर माघकवि के विषय में इससे अधिक सूचना नही उपलब्ध होती।

बहि:साक्ष्य

बल्लाल, पण्डित-रचित 'भोजप्रबन्ध' में शिशुपालवध का एक श्लोक-'कुमुद वनमपश्रि उद्घृत हुआ है, जिसमें माघकवि को अतिशय दानी होने के कारण धनहीन होकर सपत्नीक धारानगरी में जाने, वहां पत्नी के हाथ कुमुद के दरबार में भेजने, भोज से प्राप्त पारितोषिक

---

1. तस्याभवद्दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः।
   यं वीक्ष्य वैयासमजातशत्रोर्वचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये।।
2. सर्वेण सर्वाश्रयइत्यनिन्द्यमानन्दभाजा जनितं जनेन।
   यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीयो मुख्यः सतां गौणमवाप नाम।।
3. श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्म, लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू।
   तस्यात्मजः सुकविकीर्तिदुराशयाऽदः, काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम्।।
4. शि.व. 19/120

को भी पत्नी द्वारा मार्ग में याचकों को दे दिए जाने, पुनश्च कतिपय याचकों के निराश होकर लौटने पर निर्वेद से माघ का दम तोड़ देने तथा राजा भोज द्वारा उनकी अन्त्येष्टि क्रिया किये जाने का मार्मिक वर्णन है। इस कथा को देखकर यह विश्वास किया जाता रहा है कि माघ भोज के समकालीन थे। किन्तु राजा भोज का समय सन् 1010 से 1050 ई0 के मध्य माना जाता है। अतः माघ 11वीं शताब्दी में हुए किन्तु यह मन्तव्य अब सर्वथा कल्पित सिद्ध हो चुका है।

सोमदेव के 'यशस्तिलक' चम्पू (959 ई0) में माघ का उल्लेख हुआ है। माघ कवि का समय वामन (800 ई0) तथा आनन्दवर्धन (850 ई0) के बाद रखा ही नहीं जा सकता क्योंकि वामन तथा आनन्दवर्धन इन दोनों आचार्यों ने शिशुपालवध से उदाहरण उद्धृत किया है। वामन ने 'काव्यालङ्कार सूत्र' में तुल्ययोगिता अलङ्कार के उदाहरण में **'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः'** शिशुपालवध महाकाव्य के तृतीय सर्ग का 53वां श्लोक दिया है तथा आनन्दवर्धन नें ध्वन्यालोक में इस श्लोक - **'रम्या इति.......'** को और 5वें सर्ग के 26वें श्लोक **'त्रासाकुल परिपतन परितोनिकेतान्,......'** को प्रसंगान्तर में उद्धृत किया है। अतः भोजप्रबन्ध की कथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती क्योंकि इस आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि शिशुपालवध की रचना वामन से पहले हुई और 750 ई0 तक शिशुपालवध प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में लब्धप्रतिष्ठ था।

जैन मेरूतुङ्गचार्य द्वारा 1361 संवत्सर में प्रणीत प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में 'भोज प्रबन्ध' सदृश माघ जीवन वर्णित है किन्तु यह मन्तव्य सर्वथा कल्पित सिद्ध हो चुका है। एक अन्य ग्रन्थ श्री चन्द्रप्रभसूरि द्वारा विरचित 'प्रभावक चरित' के चतुर्दश सर्ग के 'सिद्धर्षि चरित प्रसङ्ग' में माघ-जीवन वृत्त वर्णित है। इस ग्रन्थ में भी माघ को भोज का बालमित्र कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रभावक चरित' ग्रन्थ भी जनश्रुतियों तथा किंवदन्तियों के आधार पर निर्मित है - जैसा कि 'प्रभावक चरित' के प्रारम्भ में ही लिखा है।[1]

अतः इसकी भी प्रामाणिकता विश्वसनीय नहीं है। अस्तु माघ-इतिवृत्त कहने वाले पूर्वोक्त तीनों ग्रन्थों के अप्रामाणिक सिद्ध हो जाने पर शिशुपालवध के अन्त में आये हुए

1. बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राग्ग्रन्थेभ्यश्च कानिचित्।

उपश्रुत्येतिवृत्तानि वर्णयिष्ये किमन्यत्यपि।।

श्लोको में प्राप्त सूचना को ही अन्य ऐतिहासिक तथ्यों के साथ परीक्षित करना सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

माघ का जन्मस्थान :

माघकवि के समय की भांति ही उनके जन्मस्थान के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है।

1. कुछ विद्वान माघकवि को गुजरात प्रान्त में आबूपर्वत के निकट स्थित भीनमाल के निवासी मानते हैं।
2. 'भोजप्रबन्ध', 'प्रबन्धचिन्तामणि', 'प्रभावकचरित' तथा माघ काव्य की कुछ प्रतियों में उल्लिखित - **'इति श्री भिन्न मालव - वास्तव्य'** - आदि के अनुसार माघ राजस्थान के प्रान्तान्तर्गत भीनमाल के (जो पूर्व में श्रीमाल के नाम से प्रसिद्ध था) निवासी थे।
3. डा. भोलाशंकरव्यास माघकवि को भीनमाल के निवासी नहीं मानते, वे उन्हें राजस्थान के पर्वतीय प्रदेश डूंगरपुर, बांसवाड़ा के समीप का निवासी मानतें हैं।
4. इसके विपरीत डा. मनमोहन लाल शर्मा, डा. व्यास के विचारों से सहमत नहीं है। उनके विचार में माघ की जन्मभूमि प्राचीन गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत भीनमाल ही है। जो आज राजस्थान के सिरोही जिले के समीप एक तहसील है।

वस्तुत: मारवाड़ की भूमि एक समय गुजरात ही कहलाती थी और आबू पर्वत के समीप ही भीनमाल की स्थित भी थी। ऐसी स्थिति में वर्तमान भीनमाल ही स्वीकार करना चाहिए। डूंगरपुर बांसवाड़े के समीप की भूमि उसे क्यों समझी जाय। शिशुपालवध महाकाव्य में वर्णित ऊंटों का तथा ऊंटो की प्रकृति का यथार्थ वर्णन कवि को उस प्रदेश का निवासी निश्चित करता है। डूंगरपुर - बांसवाड़े जैसे पथरीले भाग का निवासी कवि ऐसा यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता जैसा एक निवासी प्रत्यक्ष द्रष्टा। वस्तुत: ऊँट तो रेगिस्तान का जहाज कहलाता है, और भीनमाल तो मारवाड़ में है ही। अत: ऊँटो का वहां होना स्वाभाविक ही है। भीनमाल के निकट आबू पर्वत है और वहीं लूणी नदी भी प्रवाहित हो रही है। माघकवि ने इसी पर्वत का वर्णन रैवतक पर्वत के रूप में किया है। यहां की जड़ी-बूटियां रात्रि की चन्द्रिका में प्रकाशित होकर पर्वत की शोभा को बढ़ाती हैं। इसके अतिरिक्त शिशुपालवध की अनेक प्रतियों

में यह उल्लेख – **'इति श्री भिन्नमालव-वास्तव्यः दत्तक सूनोर्माघ........'** माघ को भीनमाल का निवासी घोषित करता है।

शिशुपालवध महाकाव्य के 19वें सर्ग के चक्रबन्ध श्लोक में श्लिष्ट रूप में अंकित वत्सभूमि (भीनमाल, जालौर, मारवाड़) का संकेत है, जो कवि को भीनमाल को निवासी बताता है।

प्रबन्ध तथा अन्य तद्विषयक ग्रन्थ माघकवि को भीनमाल का निवासी बताते हैं।

बसन्तगढ़ के शिलालेख तथा ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त के आधार पर कवि माघ भीनमाल के ही निवासी सिद्ध होते हैं।

उक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि माघकवि की जन्मभूमि प्राचीन गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत भीनमाल ही है जो भाग राजस्थान के सिरोही जनपद के निकट एक तहसील है।

देशकाल :

डा. कीलहार्न को राजपूताने (राजस्थान) के बसन्तगढ़ नामक स्थान से वर्मलात नामक किसी राजा का 682 विक्रम संवत् अर्थात् 625 ई0 का एक शिलालेख प्राप्त हुआ था। भीनमाल के आसपास के प्रदेश में इस लेख के मिलने के कारण निश्चित ही थे वर्मलात सुप्रभदेव के आश्रयदाता रहे होंगे। शिशुपालवध काव्य के अन्त में माघ ने पांच श्लोको में अपने वंश का वर्णन किया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके पितामह सुप्रभदेव गुजरात के श्रीवर्मलात् नामक राजा के मन्त्री थे। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में इस राजा को वर्मलात, वर्मनाभ, धर्मलात और धर्मनाभ आदि अनेक नामों से मण्डित किया गया है। उक्त शिलालेख के प्राप्तकर्ता डा. कीलहार्न ने राजा का शुद्ध नाम वर्मलात माना है और उनको माघ में पितामह सुप्रभदेव का आश्रयदाता स्वीकार किया है। अतः उनके पौत्र माघ का समय उनके लगभग 50 वर्ष बाद अर्थात् 656 ई0 के आसपास माना जाना चाहिए। आचार्य वामन द्वारा माघकृत श्लोक का उद्धरण दिये जाने के कारण, माघ 800 ई0 के पूर्व ही माने जायेंगे। शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग के श्लोक में राजनीति की तुलना शब्द-विद्या अर्थात् व्याकरण से की गयी है।[1]

---

1. अनुत्सूत्र पदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।

   शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा।।

इस श्लोक में 'काशिका-वृत्ति' और 'न्यास' नाम के व्याकरण-ग्रन्थों को उल्लेख मिलता है। यहां 'वृत्ति' पद से तात्पर्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर की गयी जयादित्य 650 ई0 की 'काशिकावृत्ति' है। अत: माघ का समय 650 ई0 के बाद ही होना चाहिए। उक्त श्लोक में 'न्यास' शब्द के विषय में विवाद है। यदि जिनेन्द्रबुद्धि (600 ई0 लगभग) कृत काशिका की 'विवरणपंजिका' - नामक टीका, जो न्यास नाम से प्रसिद्ध है, मानी जाती है तो माघ का समय 600 ई0 के बाद होना चाहिए, जो युक्तियुक्त नहीं है। अत: यहां न्यास का सम्बन्ध जिनेन्द्र कृत न्यास से पूर्ववर्ती कृति से है, जैसा कि स्वयं जिनेन्द्रबुद्धि ने अनेक पूर्ववर्ती न्यास ग्रन्थों का उल्लेख किया है और जैसा कि श्रेष्ठ गद्यकवि बाणभट्ट (620 ई0) नें भी श्लेष द्वारा किसी 'न्यास ग्रन्थ का उल्लेख अपनी प्रसिद्ध कृति 'हर्षचरित' में किया है- कृतगुरून्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि, ही मानी जानी चाहिए। काणे महोदय के अनुसार बाण (620 ई0) के 'हर्षचरित' में प्रयुक्त हुए 'न्यास' के समान जिनेन्द्र बुद्धि ने पहले के ही न्यास ग्रन्थ की ओर संकेत किया है न कि 600 ई0 के जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास ग्रन्थ का संकेत।

उपर्युक्त प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए हम मान सकते है कि माघकवि का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक है और शिशुपालवध लगभग 600 ई0 तक प्रणीत हो चुका होगा। इस प्रकार माघ का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध अर्थात् 675 ई0 के आस-पास मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी।

वंश तथा प्रारम्भिक जीवन

श्री प्रभाचन्द्र (चन्द्रप्रभसूरि) ने अपनी कृति 'प्रभावकचरित' में माघ के पितृव्य (चाचा) शुभंकर को 'श्रेष्ठी' लिखा है। श्रेष्ठी शब्द उस समय जैनियों तथा वैश्यों दोनों के लिए प्रयुक्त होता था। उस समय जो वैश्य जैन धर्मावलम्बी नहीं थे वे भी श्रेष्ठी कहे जाते थे। माघ के पितृव्य (चाचा) के पुत्र सिद्ध नें अपनी कृति 'उपमितिभाव-प्रपंचकथा' में जिनेश्वर की वन्दना की है। इससे विदित होता है कि सम्भवत: माघ के पितृव्य तथा भाई सिद्धर्षि जैन थे। किन्तु माघ के शिशुपालवध महाकाव्य का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि माघ की वाङ्मयी मूर्ति ब्राह्मण-धर्मावलम्बी ही है। शिशुपालवध काव्य के स्थान-स्थान पर माघ का ब्राह्मणत्व स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

कविकुलकमलदिवाकर महाकवि माघ का जीवन ऐश्वर्य विलास के मध्य व्यतीत हुआ, प्रतीत होता है। शिशुपाल वध के एकादश सर्ग के 40वें श्लोक के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत

होता है कि सम्भवत: उनके एक पुत्री भी थी और उन्होंने उस पुत्री की विदायी भी देखी थी। सम्भवतः माघ कभी सैनिकयात्रा में भी सम्मिलित हुए थे, जो उनके शिविर जीवन के चित्रण से प्रमाणित होता है। पश्चिमी समुद्र तट के आसपास का प्रान्त उनका अतिशय परिचित था। उस प्रान्त के जीव जन्तुओं, पशुओं एवं वनस्पतियों का उन्होंने सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था। उन्होंने अपने महाकाव्य का श्रयड्.क नाम सम्भवतः श्रीमाल के निवासी होने के कारण ही रखा था। सामन्तीय ऐश्वर्य-विलास के मध्य पालन-पोषण होने के कारण माघ की लेखनी से स्वतः ही ऐश्वर्य-वैभव के चित्रण प्रस्फुटित होते चलते हैं।

वस्तुतः माघ के व्यक्तित्व पर सबसे गहरा प्रभाव राजसभा के वातावरण का पड़ा है। माघ राजसभा को अलंकृत करने वाले महाकवि थे। उनकी कविता का ऐसी परिस्थिति में तत्कालीन राजधानीय संस्कृति से ओत-प्रोत होना स्वाभाविक है। माघ का व्यक्तितत्व सामन्त वर्ग के वैभंव-विलास से पूर्णरूपेण ओत-प्रोत था। राजाश्रित कवि भव्य प्रासाद में ऐश्वर्य एवं सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते थे। कवि सहृदयों एवं विदग्धों की गोष्ठियों में भाग लेता था और इन गोष्ठियों में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए उसे (कवि को) उक्ति वैचित्र्य बौद्धिक व्यायाम, वाग्जाल तथा वैदुष्य प्रदर्शन में पारङ्गत होना अनिवार्य था। व्युत्पत्ति-प्रदर्शन उस युग की काव्य चेतना बन गयी थी। अतएव आचार्य दण्डी नें व्युत्पत्ति को बहुत महत्त्व दिया है तथा दण्डी के समान महाकवि माघ ने भी व्युत्पत्ति प्रदर्शन को विशेष महत्त्व दिया। किसी भी प्रकार के काव्य को कवि की अभिरूचि प्रवृत्ति और प्रकृति सीधे प्रभावित करती है। काव्य कवि की आत्माभिव्यक्ति है।[1]

शिशुपालवध महाकाव्य के अनुशीलन से माघ का विशाल पाण्डित्य, असीम-अगाध ज्ञान तथा विलासमयी प्रवृत्ति स्पष्टतः परिलक्षित होती है। वस्तुतः व्यक्ति की स्वस्थ मानसिकता का निर्माण उसके स्वस्थ शरीर के द्वारा अधिक होता है, जैसा कि प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री अरस्तू ने कहा है- 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मास्तिष्क का निर्माण होता है।'

गहन अनुभूतियों के क्षणों में निष्पन्न भावुक हृदय की अनूठी गद्य-पद्य मयी रचना को काव्य कहते हैं। काव्यसर्जना के समय कवि उद्‌बुद्ध ऐन्द्रिय संस्कारों को ही स्वलेखनी के द्वारा

---

1. अयमात्मा वाड्.मयः।

प्रस्तुत करता है। कवि भी सांसारिक एवं सामाजिक प्राणी है, अत: उसके व्यक्तित्व में उसकी सांस्कृतिक-साहित्यिक-समकालिक तथा अभिजात्य-सम्बद्ध चेतना पृष्ठभूमि रूप में रहती है। कवि अर्थान्तर-न्यास-गत सामान्य जीवन का उच्च आदर्श उनकी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ कृति-'शिशुपालवध' महाकाव्य में प्रतिफलित है। कवि की स्वातन्त्र्य-प्रियता इस कथन से स्वयं ही स्पष्ट है।[1]

अर्थात् महान् पुरुष बलप्रयोग से वश में नहीं लाये जा सकते। कवि का यह सिद्धान्त था कि- 'महान् व्यक्ति उपकार करने के अनन्तर वहाँ से हट जाते थे। वे उपकृत का उपरोध नहीं करते थे।

महाकवि माघ के परम आराध्यदेव श्रीकृष्ण थे। शिशुपालवध की रचना को माध्यम बनाकर तथा इस महान् कृति की रचना के बहानें उन्हें श्रीकृष्ण का चरित्र कीर्तन करना था। अतएव महाकवि ने शिशुपालवध में श्रीकृष्ण का चरित्रमात्र चारू माना है।[2]

यद्यपि माघ द्वारा विरचित इस महाकाव्य का प्रयोजन 'सुकविकीर्तिदुराशा' है किन्तु श्रीकृष्ण चरितगान ही इसका परम प्रयोजन है।

शिशुपालवध महाकाव्य माघकवि की एकमात्र वाङ्मयी कृति है, जिसकी रचना इन्होंने बीस सर्गों में निबद्ध की है।

---

1. 'आक्रान्तितो न वशमेति महान् परस्य ।'
2. 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारू ।'

द्वितीय अध्याय

काव्य कथानक का कथावस्तु विधान
आधिकारिक तथा प्रासंगिक वृत्त

काव्य कथानक या कथा वस्तु विधान

शिशुपाल वध की कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के 74वें अध्याय में तथा महाभारत के सभापर्व के 33वें से 45वें तक कुल तेरह अध्यायों में उपलब्ध होती है। यह कथा श्रीमद्भागवत में कुछ सूक्ष्म रूप से है तथा महाभारत में अत्यन्त विस्तृत रूप से लिखी गयी है। इस महाकाव्य की रचना भी माघकवि ने महाभारत के कथा के आधार पर की है। इस प्रकार शिशुपालवध के प्रमुख स्रोतोभूत महाभारत तथा श्रीमद्भागवत में और शिशुपालवध काव्य में कथा का आरम्भ लगभग समान ही हुआ है। तीनों ही ग्रन्थों में कथा का आरम्भ देवर्षि नारद के आगमन से होता है। यद्यपि तीनों ग्रन्थों में नारद तथा उनके आगमन का वर्णन भिन्न-भिन्न है।

इन्द्र-सन्देश

जगदाधार श्रीकृष्ण जगत की सुव्यवस्था के लिए श्री सम्पन्न वसुदेव के गृह में निवास करते हुए द्वारिकापुरी में लोकशासन कर रहे थे, तब उन्होने एक दिन गगन तल से (आकाश मार्ग से) उतरते हुए तेजःपुञ्ज पद्मयोनिपुत्र नारद को देखा। नीचे की ओर आते हुए नारद के सर्वत्र प्रसृत होने वाले तेजपुञ्ज को लोग निर्निमेष एवं व्याकुल दृष्टि से देख रहे थे, और यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि यह क्या है?

आकाश से उतरते हुए नारद मुनि को नीचे से देखते हुए लोगों के अचम्भित मनोभाव कहते हैं- 'क्या यह अपनी आत्मा को दो भागों में विभक्त कर उसका एक भाग नीचे की ओर आता हुआ सूर्य है? ऐसे दो सन्देहों के मन में उठने पर उनका निराकरण करते हुए लोग सोचते है- सूर्य की चाल तिरछी होती है तथा अग्नि का ऊपर की ओर चलना (गमन करना) प्रसिद्ध है (और) सब ओर फैला हुआ वह तेज नीचे गिर रहा है, यह क्या है? इस प्रकार लोगों ने व्याकुलतापूर्वक देखा।'[1] तदनन्तर प्रभु श्रीकृष्ण ने उस तेजपुञ्ज को नारद रूप में पहचाना। देवर्षि नारद विशाल श्यामवर्ण के मेघों के नीचे-नीचे कर्पूर-गौर (देवर्षि) गजेन्द्र चर्म

---

1. गतं निरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
   पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।।

   (शि.व. 1/2)

ओढ़े, विभूति लपेटे कैलाशपति शिव के समान लग रहे थे।[1] कमल केसर सी चमकती जटाओं को धारण किए हुए शरत् कालीन चन्द्रमा के समान धवल देवर्षि नारद विपाकपीत लतापंक्तियों से आवृत हिम के सदृश धवल नगाधिराज की भांति प्रतीत हो रहे थे। वे पीतमौञ्जी मेखला पहिने कृष्णजिन धारण किए हुए तथा पीत यज्ञोपवीत से सुशोभित थे। उनके हाथ की स्फटिकाक्षमाला रक्तवर्ण अंगुष्ठांशु से मिश्रित हो प्रवालयुक्त सी प्रतीत हो रही थी क्योंकि मुमुक्षु नारद जी महती नामक वीणा को सदैव बजाते थे, अतएव वीणा के तारों से अंगूठा घिसकर कुछ रक्तवर्ण हो गया है और स्वभावत: स्वच्छ नख की कान्ति भी उससे लाल होकर स्फटिक माला पर पड़ रही है, वह ऐसी प्रतीत होती है कि इन स्फटिकमणि के दानों में आधा मूंगा लगा है। उस स्फटिकमाला से नारद जी सुशोभित हो रहे थे।[2] चितकबरे चमूरुचर्म ओढ़े देवर्षि नारद अपनी महती नामक वीणा को, जो वायु के आघात (संघटनमात्र) से पृथक ध्वनि करते हुए, षड्ज ऋषभ आदि विभिन्न सप्तस्वरों का उद्गिरण कर रही थी, ऐसी वीणा को बार-बार देख रहे थे।

अन्त में देवर्षि नारद ने स्वर्ग से आये हुए अनुचर देवों को वापस लौटाकर पुरन्दर प्रासाद से मनोरम चक्रपाणि श्री कृष्ण के महल में प्रवेश किया। नीचे उतरते हुए सूर्य के समान तपोनिधि (नारद जी) जब तक पृथ्वी पर इन (श्री कृष्ण भगवान्) के आगे उतरे ही नहीं कि तब तक (देवर्षि के पृथ्वी पर स्थित होने के पहले ही) श्री कृष्ण ऊंचे पर्वत से मेघ के समान ऊंचे सिंहासन से ससम्भ्रम, वेगपूर्वक उठ खड़े हुए।[3]

तदनन्तर आदि पुरुष श्रीकृष्ण ने अर्घ्य आदि पूजासामग्रियों से पूज्य देवर्षि की पूजा कर उन्हें अपने हाथ से आसन देकर बैठाया और उनका समुचित आतिथ्य कर स्वयं अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। देवर्षि नारद ने भी समस्त तीर्थों का पावन तथा पापनाशक जल अपने कमण्डलु से स्वयं अपने हाथों में लेकर श्रीकृष्ण के ऊपर छिड़का, जिसे श्रीकृष्ण के द्वारा नतशिर से स्वीकार किया गया।

---

1. शि.व. 1/4
2. शि.व. 1/9
3. पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधि: पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत।
   गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युत:।।

   शि.व.(1/12)

तपोधन देवर्षि नारद के द्वारिकापुरी आगमन से उत्पन्न जगन्निवास श्रीकृष्ण का हर्ष उनके शरीर में नहीं समा रहा था (सूर्य के समान परमतेजस्वी देवर्षि नारद जी के सामने हर्ष से विकसित नेत्रद्वय को धारण करते हुए श्रीकृष्ण वस्तुतः पुण्डरीकाक्ष (कमलनेत्र) हो गये।[1] जिस प्रकार सूर्य के देखने से कमल विकसित होता है, उसी प्रकार परम तेजस्वी नारदजी के देखने से श्रीकृष्ण के नेत्र हर्ष से विकसित हो गये, उन्हें वे निर्निमेष (अपलक) होकर देखने लगे। अतएव इस समय श्रीकृष्ण का पुण्डरीकाक्ष कहलाना अक्षरशः सत्य हुआ। जगदाधार श्रीकृष्ण शुचिस्मित वाणी बोले- भगवन्, आपका दर्शन त्रिकाल में शरीर धारियों की योग्यता को प्रकट करता है क्योंकि वर्तमान काल में पाप को नष्ट करता है, भविष्यत्काल में आने वाले शुभ का कारण है तथा भूतकाल में पहले किए गये पुण्यों का परिणाम है।[2]

पुनश्च श्रीकृष्ण देवर्षि नारद से कहते हैं कि यद्यपि मैं आपके दर्शनमात्र से कृतार्थ हो गया हूं तथापि आपकी गौरवमयी वाणी सुनने का इच्छुक हूं। भला कल्याणलाभ से किस व्यक्ति को तृप्ति होती है। मेरे घर आपका जो यह महिममण्डित आगमन हुआ उसी ने मुझ-में गौरव भावना उत्पन्न कर यह धृष्टता प्रदान की कि मैं आपसे पूंछू- भगवन् विगतस्पृह भी आपके आगमन का क्या प्रयोजन है?

इस प्रकार कहते हुए श्रीकृष्ण से नारद मुनि ने कहा, पुरुषोत्तम, आप ऐसा न कहें- कपिल सनत्कुमारादि योगियों के भी साक्षात्करणीय (ध्यान, जप, तप आदि के द्वारा साक्षात् करने योग्य) आप ही हैं, अतएव आपके इस प्रत्यक्ष दर्शन से बड़ा कौन कार्य है? अर्थात् कोई नहीं। (इसलिए निस्पृह होते हुए भी आप आने का कारण कहें। पुराविदों ने आप ही को तो प्रकृति से परे पुरातन पुरुष कहा है।) यदि अपने तेज से जगद्रोहियों का विनाश करने के लिए आप भूतल पर अवतार धारण न किये होते तो समाधिनिष्ठों के लिए भी दुर्लभ आप मुझ-सदृशजनों को दृष्टिगोचर कैसे होते? हे विश्वम्भर (संसार के पालनकर्ता) मद से उद्धत (कंस, शिशुपाल आदि) से पीड़ित इस संसार की रक्षा के लिए आप ही समर्थ हैं, क्योंकि रात्रि के अन्धकार-समूह से मलिन आकाश को स्वच्छ करने हेतु सूर्य के बिना कौन समर्थ होता है?

---

1. शि.व. 1/24
2. हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः। ,
   शरीरभाजां भवदीय दर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।

   शि.व.(1/26)

अर्थात् कोई नहीं।[1]

आगे पुनः देवर्षि नारद कहते हैं- हे हरे! मृगों के समान कंस आदि राजाओं के वध करने से लोग जो आपकी प्रशंसा करते हैं, वह हिरण्याक्ष आदि असुर-रूपी हाथियों को मारने वाले आपका तिरस्कार है। ऐसा कहकर देवर्षि नारद ने यह संकेत किया कि कंस आदि के मारने से ही आपके अवतार लेने का कार्य पूरा नहीं हुआ, क्योंकि अभी उससे भी अधिक लोक-प्रपीडक शिशुपाल का वध करना है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की स्तुतिकर उन्हें अनुकूल करने के उपरान्त नारदजी अपने आगमन के प्रयोजन को कहना चाहते हैं- 'आप परिश्रम होने की चिन्ता छोड़कर यद्यपि लोकद्रोहियों का वध करने के लिए स्वयमेव प्रवृत्त ही है, तथापि एकान्त में आपके साथ बातचीत करने के लिए लोभी मेरा मन मुझे वाचालता से युक्त कर रहा है, मुझे वाचाल बना रहा है। इस कारण हे उपेन्द्र! महेन्द्र ने कुछ विश्वकल्याण के लिए सन्देश भेजा है।' चूंकि उनके समस्त कार्यो में आप ही अग्रणी रहते हैं- अतः महेन्द्र के उस सन्देश को सुनें, 'दिति का पुत्र सूर्य सा तेजस्वी हिरण्यकशिपु हुआ। शत्रुजन्य भय का स्थान अर्थात् शत्रु से सदा निर्भय सूर्य के समान तेजस्वी दिति का पुत्र दैत्य हुआ, जिसे लोग परमैश्वर्यवान् ऐसे इन्द्र शब्द के अर्थ को नष्ट करने वाला हिरणकशिपु कहते हैं।'

लक्ष्मी का आश्रय वह हिरण्यकशिपु दूसरे-दूसरे लोकों में भ्रमण करता हुआ स्वेच्छा से जिस दिशा में जाता था, मुकुटों में जड़े गये रत्नों पर हाथ रखे हुए (हाथ जोड़कर सिर पर रखे हुए) देवगण भयभीत होकर उसी दिशा की ओर तीनों सन्ध्याकाल में प्रणाम करते थे। आपने विशाल नृसिंह रूप धारण कर अपने नाखूनों से उसका उदर विदीर्ण कर वध किया।[2]

तत्पश्चात् नारदजी उसी के रावण जन्म धारण किये गये उपद्रवों का वर्णन करते हैं- 'हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद वही हिरण्यकशिपु देवों के साथ युद्धकर बलदर्पजन्य

---

1. उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर! विश्वमीशिषे।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः।।
(शि.व. 1/38)

2. सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह! सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभंगुरैरूरोर्विदारं प्रतिचस्करे नखैः।।
(शि.व. 1/47)

खुजली का आनन्द चाहता हुआ स्वर्ग की रक्षा को नष्ट करने वाला अत्यन्त भयङ्कर रावण नाम का राक्षस हुआ।"[1]

रावण के औद्धत्य का देवर्षि नारद विस्तृत वर्णन करते हुए कहते हैं- 'तीनों लोकों का स्वामी होने की इच्छा करने वाला, (अतएव शिवजी की अतिशय प्रसन्नता के लिए) अधिक भक्ति से दसवें सिर को काटने का इच्छुक तथा महासाहसी जो (रावण) इच्छानुकूल शिवजी की वरदान रूप प्रसन्नता को विघ्न के समान समझा, वह रावण नामक राक्षस हुआ।'[2]

अतुलित बलशाली रावण ने त्रैलोक्य की प्रभुता पाने के लिए भगवान् पिनाकी को अपने दसों सिर चढ़ाकर प्रसन्न किया था। उसके (रावण) अतुलित प्रताप से देवगण भयभीत रहते थे। ऐसा बली रावण भी आपसे विरोध करके आपके ही हाथ से मारा गया। नारदजी कहते हैं- मनुष्य भिन्न तथा अज (उत्पत्तिहीन) होते हुए भी रामरूप से मनुकुल में मानव बने हुए प्रभावयुक्त और भविष्य में अपना नाशक आपको जानते हुए भी जिस रावण ने जानकी को नहीं छोड़ा (वापस नहीं लौटाया) यह ठीक ही है, क्योंकि मानी लोगों का सर्वदा एकमात्र अभिमान ही धन होता है।[3] फिर देवर्षि कहतें है कि- आपको स्मरण होगा आपने दशरथ पुत्र होकर वनान्त से वनितापहारी उस रावण का सागर में सेतु बांधकर लंका में जाकर वध किया था।

वही (रावण) इस समय शिशुपाल नामक दूसरी भूमिका निभा रहा है। बिना किसी देवता की आराधना के उसमें सहज शक्ति है, जिससे वह समस्त जगत् को प्रताड़ित कर रहा है।

---

1. विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
   स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः।।
   (शि.व. 1/48)
2. प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः।
   अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः।।
   (शि.व. 1/49)
3. अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः।
   मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधना हि मानिनः।।
   (शि.व. 1/67)

शिशुपाल के विषय में वर्णन करते हुए देवर्षि कहते है- 'जब शिशुपाल का जन्म हुआ तब उसके चार हाथ तथा तीन नेत्र थे, इस प्रकार बचपन में वह एक तरह से हरिहर का रूप धारण करता था, तथा इस युवावस्था में अपने बाहुबल से राजाओं को आक्रान्त कर अपने तीव्र प्रताप रूपी किरणों से पर्वतों को आक्रान्त करने वाले तीव्र तेज से युक्त सूर्य हो रहा है, इस प्रकार शिशुपाल बचपन में विष्णु तथा शिव था, और इस समय युवावस्था में तीव्र तेजस्वी सूर्य होने से अनेक देवमय है।[1]

देव, दैत्य तथा राक्षसों के अनुग्रह तथा अवग्रह को स्वेच्छा से स्वयं (किसी देव के वरदानादि के बल से नही) करने वाला यह शिशुपाल, शिव आदि देवों की आराधना से अधिक पराक्रमी बने हुए रावण आदि को अपने से तुच्छ समझता है।[2]

जगत् विजय की महत्वाकांक्षा वाला वह शिशुपाल बल के दर्प से इस समय भी अपने पूर्ववंश के (रावणादि) जन्मावस्था के समान संसार को पीड़ित कर रहा है। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार जन्मान्तर में भी पूर्वजन्म के पति को प्राप्त करती है, उसी प्रकार सुनिश्चित स्वभाव भी जन्मान्तर में पुरुष को प्राप्त करता है।[3] इस कारण देव, दैत्य तथा राक्षसों के अनुग्रहावग्रह को स्वेच्छापूर्वक स्वयं करने से ब्रह्मा के आदेश को उल्लंघन करने वाले इस शिशुपाल को आप यमपुरी का अतिथि बनाइये क्योंकि अत्याचार की पराकाष्ठा पर पहुंचे दुर्जन का निपात करना ही उचित है।[4]

जगदाधार श्रीकृष्ण ने इस इन्द्र सन्देश को स्वीकार किया और उधर देवर्षि स्वर्ग की ओर उड़े इधर कंसारि श्रीकृष्ण की भौहें शिशुपाल के प्रति वक्र हो उठीं।

गृहमन्त्रणा

देवर्षि नारद से इन्द्र का सन्देश सुनने तथा उसकी स्वीकृति पाकर नारदजी के चले जाने के अनन्तर यज्ञ करने के इच्छुक पृथापुत्र युधिष्ठिर के द्वारा निमंत्रित तथा शिशुपाल के यहां

---

1. स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभास्त्रिलोचनः।
   युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः।।
   (शि.व. 1/70)
2. स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया।
   दशाननादीन भिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ।।
   (शि.व. 1/71)
3. शि.व. 1/72
4. शि.व. 1/73

युद्ध करनेके इच्छुक श्रीकृष्ण परस्पर विरोधी कार्यों के उपस्थित होने से अनिश्चित चित्त थे।[1]

इन परस्पर विरोधी कार्यों के एक साथ उपस्थित होने पर श्रीकृष्ण के व्याकुल होने के अनन्तर जगदाधार अपने पितृव्य एवं मन्त्री उद्धव तथा अग्रज बलरामजी के साथ मन्त्रणा करने सभाभवन में गये। सभास्थान पर बैठकर उन्होंने प्रकरण को प्रस्तुत करते हुए कहा कि- धर्मराज युधिष्ठिर के दिग्विजयी भाइयों ने भूपालों को अपने अधीन कर रखा है। वे हमारे बिना भी अपना यज्ञ पूर्ण कर सकते हैं। किन्तु यज्ञ में सम्मिलित होकर उसके पूरा होने के बाद विजय के लिए प्रस्थान करना उचित नहीं है क्योंकि- हिताभिलाषी व्यक्ति को बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि बढ़ने वाले रोग तथा शत्रु को शिष्टों ने समान घातक कहा है।[2]

श्री कृष्ण कहते है कि यह सात्त्वती (मेरी बुआ) का पुत्र शिशुपाल जो मुझसे द्वेष रखता है, उसका तो मुझे कोई कष्ट नहीं, किन्तु जो सामान्य लोगों को सन्तप्त करता है, यह लोकपीडन मुझे दुःखित करता है। यह मेरा अभिमत है। अब आप दोनों का भी अभिमत सुनना चाहता हूं- क्योंकि तत्त्वज्ञ व्यक्ति भी अकेले किसी कार्य में निर्णय लेने में सन्देहापन्न रहता है।

हलधर (बलराम) ने श्रीकृष्ण के अभिमत का समर्थन करते हुए कहा, कृष्ण ने जो बात की उस पर उसी रूप में तुरन्त अमल करना ही उसका उत्तर है। शत्रु पक्ष का पूर्ण रूप से उन्मूलन किये बिना प्रतिष्ठा दुर्लभ होती है। जब तक एक भी शत्रु जीवित है तब तक सुख कहां हो सकता है?[3]

---

1. यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ द्विषन्मुरम्।
   अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः।।

   (शि.व. 2/1)

2. उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
   समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च।।

   (शि.व. 2/10)

3. ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।
   पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम्।।

   (शि.व. 2/35)

तत्पश्चात् बलराम जी (शिशुपाल को कृत्रिम शत्रु प्रमाणित करते हुए) कहते हैं- हे कृष्ण ! रुक्मिणी का हरण करते हुए आपने शिशुपाल को पराभूत किया है और दृढ़मूल वैररूपी वृक्ष की मूल (जड़) स्त्रियां होती है, क्योंकि स्त्रियों के कारण ही रामायण और महाभारत जैसे युद्ध हुए।[1]

बलरामजी श्री कृष्ण से कहते हैं कि तुम जब भौमासुर को जीतने गये थे तो उसने इस द्वारिका पर आक्रमण किया था। बभ्रु की पत्नी का तो उसने अपहरण ही कर लिया। तो, उसने तुमसे केवल एक बार अपकृत होकर अनेक रूप से अनेक बार हमारा उपकार किया है। अत: अपनें कृत्यों से वह हमारा शत्रु ठहरता है, और अमर्ष से दहकते शत्रु से वैरभाव साध कर उदासीन होना भी घातक है। दण्डसाध्य शत्रु के साथ सामादि अन्य उपाय भी विपरीत सिद्ध होते हैं और जरासन्ध के मारे जाने पर तो उसका कोई प्रबल मित्र भी नहीं बचा है। अत: मेरी राय में इन्द्रप्रस्थ की ओर न जाकर हमारी यादव सेना माहिष्मती को चलकर घेर ले। पाण्डव यज्ञ करे, इन्द्र अपने स्वर्ग की रक्षा करे, तथा सूर्य तपे और हम भी अपने शत्रुओं से निपटें, क्योंकि सभी तो अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।[2]

पुनश्च श्रीकृष्ण ने उद्धव को अपना मत व्यक्त करने के लिए नेत्रों से इशारा किया। उद्धव ने शेषनाग के अवतार बलरामजी के कथन की प्रशंसा करते हुए अपना मत व्यक्त किया- चेदिनरेश शिशुपाल को मित्र रहित अकेला नहीं समझना चाहिए। वह रोगों के समूह राजयक्ष्मा की भांति बाणासुर, कालयवन, शाल्व, रुक्मि, द्रुम इत्यादि अनेक राजाओं का समूह रूप है।[3] पहले शिशुपाल ने बाणासुर को अश्वगजादि देकर उपकृत किया है, अतः वह शिशुपाल का पक्षपाती हो गया है, ऐसा शत्रुनाशक बाणासुर गुणी शिशुपाल के साथ वैसे मेल कर लेगा जैसे फल (लोहे का बना हुआ बाणाग्र भाग) वाला, पंखसहित, शत्रुनाशक बाण प्रत्यञ्चायुक्त धनुष पर चढ़ती है। इसलिए शिशुपाल को अकेला मानकर सरलता से पराजित

---

1. बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः।

(शि.व. 1/38)

2. सर्वः स्वार्थं समीहते। शि.व. 2/65

3. शि.व. 2/98

होने वाला मत समझिए। कालयवन, शाल्व, रुक्मी, द्रुम आदि जो राजा हैं, तामसिक प्रकृति वाले वे भी अधिक दोषयुक्त उस शिशुपाल का उस प्रकार अनुगमन करेंगे जिस प्रकार अन्धकार सायंकाल का अनुगमन करता है।[1] साथ ही तुम्हारे अन्य शत्रु भी उनके मित्र हो जायेंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण राजमण्डल को क्षुब्ध करके अजातशत्रु युधिष्ठिर के यज्ञ में विघ्न उत्पन्न कर तुम्हीं उनके प्रथम शत्रु बनोगे। यह खेद है और धर्मराज युधिष्ठिर के साथ तुम्हें ऐसा करना अनुचित होगा क्योंकि धर्मराज तुम्हें ही सबसे अधिक समर्थ सहायक समझकर यज्ञ करने में प्रवृत्त हुए हैं।

श्री कृष्ण बृहस्पति के शिष्य उद्धव से अपनी आशङ्का व्यक्त करते हुए कहतें हैं कि पहले स्वीकार कर पुनः छोड़ने पर दोष होता है, किन्तु यदि पहले से ही यज्ञभार वहन करने का निषेध किये होते तो हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता। श्रीकृष्णादि की इस आशङ्का का उद्धव जी निवारण करते हुए कहते है कि- 'महात्मा लोग शरणागत शत्रुओं पर भी अनुग्रह करते हैं, यथा गङ्गा आदि महानदियां सपत्नीरूप पहाड़ी नदियों को (पतिरूप) समुद्र के पास पहुंचा देती है।'[2]

उद्धव जी कहते हैं कि जिन देवताओं के लिए उस शत्रु का वध करना श्रेयस्कर मानते हो, उन्हें तो यज्ञ और अधिक इष्ट है। फिर तुमनें अपनी बुआ श्रुतश्रवा शिशुपाल की मां से प्रतिज्ञा की है कि तुम्हारे पुत्र शिशुपाल के सौ अपराधों को मैं सहूंगा उसका भी तो प्रतिपालन करना है। इसलिए अजातशत्रु युधिष्ठिर की राजधानी की ओर ही सभी राजाओं को पहुंचने की प्रेरणा अपने चरों से दिलाओ। वहां पाण्डुपुत्र जब तुम्हारे प्रति विशेष भक्ति दिखाएंगे उस समय ये मत्सरी राजागण आपके विषय में भक्ति करते रहने पर दूसरे के शुभ में ईर्ष्यालु एवं चञ्चल शत्रु स्वयं तुम्हारे साथ विरोध करेंगे।[3] इस शत्रु के मध्य में, साथ में समृद्धि को प्राप्त किये हुये भी जो अपने स्वरूप को जानने वाले राजा लोग हैं, वे कौओं के समूह से

---

1. यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः।
   वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते।।
   (शि.व. 2/65)
2. महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि।
   सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः।।
   (शि.व. 2/104)
3. शि.व. 2/115

कांयलों के समूह के समान शिशुपाल से शीघ्र ही अलग हो जायेंगे। अपने सहज चापल्य दोष से शत्रुगण स्वयं तुम्हारी प्रतापाग्नि में शलभ बन जायेंगे।

द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान

जिस प्रकार मकर की संक्रान्ति से कर्क की संक्रान्ति तक उत्तरायण सूर्य की किरणें तीक्ष्ण होने से असह्य रहती हैं, उसके बाद दक्षिणायन होने पर वही सूर्य की किरणें मन्द होने से सह्य हो जाती है, उसी प्रकार जब तक अपने बलरामजी के मतानुसार चेदिनरेश से युद्ध करने का विचार था, तब तक श्रीकृष्ण का शरीर अत्यन्त तीव्र क्रोध के कारण उग्र हो रहा था, किन्तु उद्धव जी के वचन सुनने के अनन्तर युद्ध का विचार छोड़ देने पर उनकी शरीर कान्ति सौम्य-आह्लादिका हो गयी, ऐसे उन श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए हस्तिनापुर (इन्द्रप्रस्थ) को प्रस्थान किया।[1] सौम्यमूर्ति श्रीकृष्ण अनेकविध बहुमूल्य श्वेतच्छत्र, चामर, मुकुट, कुण्डल, केयूर, कङ्कण, मुक्ताहार, कौस्तुभमणि, मेखला, करधनी आदि भूषण तथा तप्तसुवर्णवत् चमकते हुए पीताम्बर को धारण कर साथ में कौमोद की गदा, नन्दक, खड्ग, शार्ङ्ग धनुष, पाञ्चजन्य शंख धनुष, पाञ्चजन्य शंख को ग्रहण कर सर्वत्र अप्रतिहतगति रथ पर सवार हुए जिस पर गरूड़चिह्नाङ्कित पताका फहरा रही थी और उनके पीछे बड़ी-बड़ी पताकाओं को फहराती हुई अपरिमित चतुरङ्गिणी सेना चली। हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान करते हुए मनोरम मुरारि को देखने के लिए नागरिकों की भीड़ आगे निकलने वाली गलियों के रास्ते पहले पहुंच जाती थी। प्रीति चिरपरिचित वस्तु को भी नवीन सी बना देती है।[2]

चतुरङ्गिणी सेना की सघन भीड़ के कारण धीरे-धीरे चलते अपने रथ की गति को श्रीकृष्ण न जान पाये क्योंकि वे द्वारिका नगरी की शोभा देखने में ध्यानमग्न थे।

माघ कवि ने द्वारिकापुरी का विस्तृत एवं अत्यन्त मनोरम वर्णन किया है। जो उनकी समृद्ध काव्य कल्पनाओं से आपूर्ण है जिस द्वारिकापुरी को खेदरहित ब्रह्मा नें सहस्रो राजाओं की निवास भूमि तथा समुद्र-जल से परिवेष्टित स्वरूप वाली, पर्वतों से युक्त तथा समुद्र-जल से

---

1. शि.व. 3/1

2. दिदृक्षमाणाः प्रतिरथ्यमीयुर्मुरारिमारादनघं जनौघाः।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति।।
शि.व. 3/31

परिवेष्टित पृथ्वी की प्रतिकृति के समान बनाया था।[1] वह द्वारिकापुरी समुद्र के बीच सुवर्णमय परकोटे की कान्ति से दिशाओं को पिङ्गल वर्ण करती हुई, उठी हुई-ऊपर दृश्यमान बड़वाग्नि ज्वाला के समान शोभती थी।[2] ब्रह्मा के सतत् अभ्यास के द्वारा प्राप्त शिल्प-विज्ञान-सम्पत्ति के विस्तार की सीमारूप जो (द्वारिकापुरी) दर्पण-तल के समान निर्मल समुद्र-जल में स्वर्ग की छाया के समान दृष्टिगोचर होती थी। द्वारिकापुरी की अट्टालिकाएं, परकोटे अत्यन्त उन्नत तथा चिकने थे और उन पर बनाये गये चित्र सजीव प्रतीत होते थे। देवाङ्गना सदृश सुन्दरी वहां की रमणियां मानरहित होकर सदा कामोत्कण्ठिता रहती थी। ऐसी स्वर्गोपम द्वारिकापुरी को देखते हुए श्रीकृष्ण जब उससे बाहर निकले तब समुद्र को देखा।

श्रीकृष्ण ने समुद्र के जल के पार से अत्यन्त श्यामवर्ण पत्तों के समूह वाले, अतएव सहस्रो तरङ्गों से प्रतिक्षण किनारे ढेर किये गये शैवाल के समान शोभमान वन पङ्क्तियों को देखा।[3]

मुनीश्वरों द्वारा वेद से अभिप्राय को लेकर रची गयी तथा वेद में ही प्रविष्ट होती हुई स्मृतियों के सदृश, मेघों के द्वारा समुद्र से ही (वृष्टि द्वारा) तैयार की गयी तथा पुनः समुद्र में प्रवेश करती हुई नदियों को श्रीकृष्ण ने देखा।[4] ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो समुद्र श्रीकृष्ण की अगवानी करने के लिए अपनी उत्तुंग तरङ्ग रूपी भुजाएं फैला रहा था।[5] समुद्र से निकलते हुए फेन तथा चञ्चल तरङ्ग एवं गम्भीर ध्वनि उसके अपस्मार (मिरगी) का रोगी होने का भ्रम उत्पन्न करते थे। उस पार की श्यामल वनपंक्ति अत्यन्त मनोहारी प्रतीत होती थी। समुद्र तट पर मोती बिखर रहे थे और शीतल मन्द सुगन्ध समीर से श्रीकृष्ण के सैनिकों का श्रम दूर हो जाता था। ऐसे समुद्र तट पर पड़ाव डालकर श्रीकृष्ण के सैनिक लवङ्गमाला

---

1. शि.व. 3/34
2. शि.व. 3/33
3. पारेजलं नीरनिधपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
   वनावलीरूत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः।। शि.व. 3/70
4. शि.व. 3/75
5. शि.व. 3/78

से शिरोभूषण बनाए हुए, नारियल का पानी पीते हुए तथा कच्ची सुपारी का स्वाद लिए हुए समुद्र से अतिथि सत्कार को प्राप्त कर रहे थे।[1] तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की सेना आगे बढ़ी।

रैवतक गिरि रम्यता

श्रीकृष्ण की सेना द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ के प्रस्थान के समय जब आगे बढ़ रही थी, तभी मार्ग में मुरारि ने इन्द्रनीलमणियों से सम्बद्ध बहुविध विचित्र धातु वाले, अतएव रत्नों की कान्तियों के साथ भूमि को फाड़कर ऊपर निकले हुए सर्पो के श्वासवायु के धूम सदृश स्थित रैवतक पर्वत को देखा।[2]

वह रैवतक पर्वत अति विशाल चट्टानों के ऊपर उठते हुए बादलों से भगवान् भास्कर के मार्ग को पुनः रोकने के लिए उद्यत विन्ध्यपर्वत के समान प्रतीयमान हो रहा था।[3] उन्नतशिखरों वाला रैवतक पर्वत अनेक बार दृष्टपूर्व भी मुरारि के विस्मय का कारण बना। तथा उनके आश्चर्य को बढ़ा दिया, यह ठीक ही है क्योंकि जो प्रतिक्षण नवीनता को धारण करता है वही रमणीयता का स्वरूप है।[4]

श्रीकृष्ण के रैवतक देखकर आश्चर्यित होने के पश्चात् बोलनें में वाक्पटु उनका सारथि दारुक उच्चस्वर से कूजते हुए पक्षि-समूहों वाली तटियों को धारण करते हुए रैवतक पर्वत को देखनें के लिए उत्कण्ठित, अतएव ग्रीवा को ऊपर किये हुए श्रीकृष्ण से तत्पश्चात् दारुक ने रैवतक पर्वत का वर्णन प्रारम्भ किया। दारुक नें कहा- भगवान् भास्कर के उदय तथा चन्द्रमा के अस्त होते रहने पर दोनों पार्श्वो में लटकते हुए दो घण्टाओं वाले हाथी के समान यह रैवतक पर्वत शोभता है।[5]

1. लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः।
   आस्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः।।शि.व. 3/81
2. निःश्वासधूमं सह रत्नभाभिर्भित्वोत्थितं भूमिमिवोरगाणाम्।
   नीलोपलस्यूतविचित्रधातुमसौ गिरिं रैवतकं ददर्श।।शि.व. 4/1
3. शि.व. 4/2
4. दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान।
   क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।।शि.व. 4/17
5. उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरूचौ हिमधाम्नि याति चारूताम्।
   वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्र लीलाम्।। 4/20

यह वर्णन इतना आकर्षक और मार्मिक है कि इसी के कारण माघ को 'घण्टा माघ' की उपाधि दी गयी जिस प्रकार कालिदास को 'दीपशिखा' की उपाधि दी गयी।

स्वर्णमयी भूमि वाला यह रैवतक पर्वत उन्नत शिखरों से गिरते हुए झरनों के ऊपर उछले हुए जल बिन्दुओं से स्वर्गीय देवाङ्गनाओं का शरीर शीतल करता है। इस पर्वत पर उन्नत तट रहित भागों से चट्टानों के ऊपर गिरकर एवं कण-कण होकर ऊपर की ओर उछलते हुए जलप्रवाह कामपीड़ित देवाङ्गनाओं के देहताप को शीतल कर्णस्पर्श से उस प्रकार दूर करते हैं, जिस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम के पालन करने में असमर्थ मनुष्य उन्नत पर्वत भाग से चट्टानों के ऊपर गिरकर छिन्न-भिन्न शरीर वाला होकर स्वर्ग में जाता है तथा कामसन्तप्त देवाङ्गनाओं के साथ सुरतक्रीड़ा कर उनके शरीर को सन्तापहीन करता है।

जल में एक ओर स्फटिक तथा दूसरी ओर नीलमणि की कान्ति से गङ्गायमुना के सङ्गम के सदृश इसका जलाशय शोभता है।[1] रैवतक पर्वत पर सघन चूनें के समान शुभ्रवर्ण तथा स्वर्णरेखा से सुशोभित उन्नत चांदी की दीवाल भस्म से श्वेतवर्ण शङ्करजी के आग निकलते हुए तृतीय नेत्र से सुन्दर देदीप्यमान ललाट की शोभा को धारण कर रही है।[2] विकसित चम्पकपुष्प से पिङ्गलवर्ण कनकमयी भित्तियों से सुमेरुतुल्य इस रैवतक पर्वत के द्वारा भारतवर्ष इलावृत के सदृश सुशोभित हो रहा है।[3] इस रैवतक पर्वत पर मृग सर्वत्र विचरण करते हैं, स्त्री सहित सिद्धगण विहार करते हैं, रात्रि में औषधियां चमकती हैं, पुष्पित कदम्ब, वृक्ष को कम्पित करती हुई शीतल मन्द सुगन्ध वायु बहती है। यहां दारिद्रयनाशक रत्नों की खानें हैं, तथा यह किन्नरों की विहारस्थली है। दारुक कहता है कि- 'यह रैवतक पर्वत अनेक प्रकार से भोगभूमि होता हुआ भी सिद्धभूमि है क्योंकि यहां पर मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा आदि चारों वृत्तियों के ज्ञाता, अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष् और अभिनिवेश आदि पांच क्लेशों का त्यागकर सबीज योग को प्राप्त किये हुए प्रकृति तथा पुरुष के परस्पर पार्थक्य का बोध प्राप्तकर योगीजन समधि में उसे भी विस्मृत करने का प्रयत्न करते हैं।[4]

---

1. शि.व. 4/26
2. शि.व. 4/28
3. शि.व. 4/31
4. शि.व. 4/55

श्रीकृष्ण से उनका सारथि दारुक कहता है कि- शिखर समूह के तुल्य प्रतीत हुए श्यामवर्ण इन मेघों से वायुप्रेरित होकर ऊपर उठने पर ऐसा ज्ञात होता है कि यह रैवतक पर्वत ही आपके स्वागतार्थ अभ्युत्थान करने के लिए ऊपर उठ रहा है[1]।

इस प्रकार सारथि दारुक ने पर्वत के उन्नत शिखर, निर्मल मेघ मण्डल, स्फटिकशिलाओं, पुष्पभारावनत वृक्षराजि, लताओं, जलराशि, पक्षिगण, चमरियों, पद्मिनियों, प्रवहमान नदियों, समाधिरत योगीजनों, विशालसरोवरों आदि का मनोहारी सरस और प्रौढ़ वर्णन किया।

गिरि-विश्राम

श्रीकृष्ण ने अपने सारथि दारूक से रैवतक पर्वत का मनोहारी एवं उदात्त वर्णन सुनकर उस पर विहार करने के लिए सेना सहित प्रस्थान किया।[2] सूर्यकिरणों के सम्बन्ध से प्रकाशित आकाश प्रदेशवाली, महापुरुष के देखने से सलज्ज सी दिशाओं ने आकाश तक फैले हुए तीन वर्ष की अवस्था वाले ऊँट के कंठ के समान पिङ्गलवर्ण सेना के प्रयाण करने से उड़ी पृथ्वी की धूलि को धारण कर लिया।[3] उस रैवतक पर्वत पर कहीं सेना के झूमते हुए गजराजों के झुण्ड चल रहे थे तो कहीं बड़े-बड़े घोड़े पंक्तिबद्ध होकर अपने पदाघातों के द्वारा नगाड़ा बजाते हुए से चल रहे थे। लोगों ने चञ्चल, अगले पैरों की चञ्चलता के साथ शोभित चामर से मनोहर घोड़े को चिरकाल तक देखा और विलासपूर्वक नेत्रों को बन्दकर धीरे चलते हुए हाथी को चिरकाल तक देखा क्योंकि अपने अनुकूल चेष्टा वाले सभी प्रिय होते हैं।[4] श्रीकृष्ण के अनुगामी राजा गण सिंहों को शत्रुओं के समान बलपूर्वक मारकर जङ्गली हाथियों के मस्तक में स्थित कुम्भ में गड़ाए गये सिंहो के नखाग्रों से गिरे हुए मोतियों के समूह से युक्त कन्दरारूपी घरों में ठहर गये।[5] कुछ राजाओं ने श्रीकृष्ण के शिविर के पास अपने आवास निर्मित किए। सामान्य जनसमूह ने पेड़ों की विद्यमान छाया को छोड़कर भविष्य में आने वाली छाया को ग्रहण किया। ऊपर उठाये गये तम्बुओ में हवा लगने के लिए लटकते हुए आवरण के भीतर प्रविष्ट होती हुई मन्दवायु से जिनकी थकावट के पसीने सूख गये, ऐसी राजदाराएं

1. शि.व. 4/68
2. शि.व. 5/1
3. शि.व. 5/3
4. शि.व. 5/6
5. शि.व. 5/12

प्राकृतिक विस्तीर्ण दूर्वा की शैय्याओं वाले तम्बुओं में निद्राजन्य आनन्द को प्राप्त करने लगी।[1] व्यापारी गण सेना के उतरकर स्थिर होने तक जितना समय लगा, उतनें में ही दोनो ओर शान्ति के साथ पाल फैलाकर चारो ओर से आने वाले ग्राहको के अगणित सौदों से पूर्ण दूकानोंवाले बाजार को लगा दिये।[2] सैनिको ने स्नान किया, पानी पिया, कपड़े को धोया तथा खिले हुए कमलों को ग्रहण किये हुए सैनिकों ने मृणालदण्डों को खाया, इस प्रकार नदियों की सम्पत्ति का भोग होने से वे सम्पत्तियां निरर्थक हैं, इस लोक निन्दारूप दोष को उन्होंने दूर कर दिया।[3]

इस प्रकार उस सेना निवेश में एक ओर विशालकाय गजसमूह मद चुवा रहे थे, और दूसरी ओर खूंटे को उखाड़कर भागते हुए घोड़े सैनिको को विचलित कर रहे थे। एक ओर कोई बैल बोझा उतारने पर पेड़ के नीच बैठकर जुगाली कर रहा था तो दूसरी ओर कोई नदी तट को उखाड़ता हुआ उच्च स्वर से गरज रहा था। कहीं पर नीम के कड़वे पत्तों को खाते समय मधुर तथा कोमल आम्रपल्लव को कोई ऊँट इस प्रकार उगल रहा था, जिस प्रकार कई बार खाये जाने से अभ्यस्त निषादो के साथ किसी प्रकार मुख के भीतर गये हुए ब्राह्मण को पहले गरुड़ नें उगल दिया था।[4] वैतालिक पड़ाव में स्थित यादव-नृपतियों की प्रशस्तियों को यथा समय गा रहे थे और वहां ऊँचे तथा लाल तम्बुओं से सुशोभित, अत्यन्त काले हाथियों के झुण्डों से व्याप्त, अतएव सायङ्कालीन किरणों से मिश्रित, कृष्णवर्णवाले मेघ से चितकबरे आकाश की शोभा का अनुकरण वाला अर्थात् उक्त रूप आकाश के समान शोभता हुआ मङ्गलकारक नामोच्चारण वाले श्रीकृष्ण का वह सेनानिवास स्थान (शिविर) सुशोभित हुआ।[5]

ऋतु वैभव

सेना निवेश के पश्चात् रैवतक पर्वत पर रमण करने के इच्छुक सज्जनों की विपत्ति दूर करने वाले श्रीकृष्ण की सेवा के लिए, अपने-अपने वृक्षों के अनुसार पल्लव तथा पुष्प आदि की शोभा को उत्पन्न किये हुए बसन्तादि छहों ऋतुएं अपने क्रमिक नियम को छोड़कर एक

1. शि.व. 5/6
2. शि.व. 5/12
3. शि.व. 5/28
4. शि.व. 5/67
5. शि.व. 5/69

साथ अपने-अपने चिह्नों को व्यक्त किया।[1] उस रैवतक पर्वत पर यद्यपि छः ऋतुओं ने एक साथ ही अपना कार्य आरम्भ कर दिया, तथापि छहों ऋतुओं का वर्णन एक साथ करना यहां अशक्त (असम्भव) होने से माघकवि के द्वारा बसन्तादि छः ऋतुओं का वर्णन क्रम से किया गया है। छः ऋतुओं में सर्वप्रथम ऋतुराज बसन्त का वर्णन माघकवि करते हैं- 'श्रीकृष्ण नें सर्वप्रथम नूतनपल्लवयुक्त पलाशवनवाले, विकसित तथा मकरन्द से परिपूर्ण कमलों वाले, कोमल अतएव आतप से किञ्चित् म्लान पुष्पों वाले तथा पुष्पसमूहों से सुरभित बसन्त ऋतु को देखा।'[2]

कुरबक, चम्पा बकुल के पुष्प विकसित हो गये। रसालवृक्षों में मञ्जारियां लग गयी, कोयले कुहुकने लगी, भौंरे गुञ्जार करने लगे और कामपीड़ित रमणियों की दूतियां उनके पति के पास जा जाकर उनकी अवस्थाओं का वर्णन करके इन्हें रमणियों के समीप जाने के लिए कहने लगी।

ऋतुराज बसन्त की चारुता नवीन पलाशवनों में विकसित पद्मो में, कुरबकस्तवकों में, विकच चम्पकों में, सुहावनें अशोक पुष्पों में, आम्र-मञ्जरियों में, बकुल मकरन्दपानमत्तभ्रमर गुञ्जनों में तथा कोकिल की कूकों में प्रसृत युवकों के लिए उद्दीपन बन रही थी। समस्त पर्वत के वन को रक्तवर्ण बनायी हुई तथा पथिकों को बहुशः सन्तप्त करती हुई और उन्नत (ऊपर स्थित) विकसित पलाश पुष्पों की श्रेणी ने दवाग्नि को शोभा को प्राप्त किया।[3]

बसन्त ऋतु के पश्चात् माघकवि ग्रीष्म का वर्णन करते हैं। ग्रीष्म ऋतु के आगमन का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि- 'जिस ग्रीष्म में शिरीष पुष्पों के पराग की कान्ति भगवान् भास्कर के अश्वों के हरितवर्णवाले रोगों की समानता ग्रहण करती है, नवमल्लिकाओं के सुगन्ध को चिरस्थायी करता हुआ वह ग्रीष्म आ गया।'[4]

---

1. शि.व. 6/1
2. नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
   मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।। शि.व. 6/2
3. अरूणिताखिलशैलवना मुहुर्विदधती पथिकान् परितापनिः।
   विकचकिंशुकसंहतिरूच्चकैरूदवहद्दवहव्यवहश्रियम्।। शि.व. 6/21
4. रवितुरङ्गतनूरूहतुल्यतां दधति यत्र शिरीषरजोरूचः।
   उपययौ विदधन्नवमल्लिकाः शुचिरसौ चिरसौरभसम्पदः।। शि.व. 6/22

कोमल पाटल - कलिकाओं को विकसित करने वाले, अपनी अङ्गनाओं के निःश्वास के सदृश ग्रीष्म तथा जिसमें उन्मत्त भ्रमर उड़ रहे हैं ऐसी वायु के प्रवाहित होते रहने पर विलासी जन मदोन्मत्त हो गये[1]। ग्रीष्म ऋतु का वैभव शिरीष पुष्प, नवमल्लिका, पाटल (गुलाब) आदि के पुष्पों में प्रतिभासित हो रहा था।

तदनन्तर माघकवि वर्षर्तु का वर्णन करते है। श्रावण मास में आकाश में गजसमूह के समान नीलवर्ण तथा उन्नत नये मेघों को देखकर किस स्त्री ने एक रसवाले किस प्रियतम को नही चाहा? तथा किस वल्लभ के प्रति अभिसार नहीं किया?

इन्द्रधनुषयुक्त मेघ की विचित्रताओं ने अनेक प्रकार की मणियों से युक्त कुण्डलों की कान्ति के समूह से मिश्रित शरीर की श्यामल कान्तिवाले तथा बलिदैत्य को नष्ट करने वाले वामन भगवान् के शरीर के तुल्य सुशोभित होने लगा।[2] श्यामल मेघ को देखकर परदेशी प्रियतम अपने घरो की ओर चल पड़े। रैवतक पर्वत पर मयूर पंक्ति अपनी केका ध्वनि कर नृत्य करने लगी। वन में पुष्पित तथा पल्लवित कदम्ब तथा शिलीन्ध्र की सुगन्ध लिएं वायु प्रवाहित होने लगी। कुटज, केतकी तथा मालती की पुष्पसमृद्धि प्रेमियों को विवश कर रही थी। सघन मेघ के प्रतिघात से अभिभूत विद्युत की कौंध से भयभीत रमणियाँ प्रासाद से बाहर जाने की अनिच्छुक होकर यदुपुंगवों के साथ रमण कर रही थी।[3]

तत्पश्चात् वर्षर्तु के अवसान का वर्णन किया गया है- 'सुदर्शन चक्रधारी श्रीकृष्ण ने भास्कर को छिपाने वाले, पक्षिसमूहों को घोसले में रखने के लिए विवश करने वाले तथा घनघोर घटा घेरकर अन्धकार बढ़ाने से, दिशाओं के ज्ञान को नष्ट करने वाले मेघ समूह (वर्षा-ऋतु) को देखा।'[4]

वर्षा ऋतु का वर्णन करने के पश्चात् शरद ऋतु का वर्णन किया गया है।[5]

---

1. शि.व. 6/23
2. शि.व. 6/26
3. अरमयन् भवनादचिरद्युतेः किल भयादपयातुमनिच्छवः।
   यदुनरेन्द्रगणं तरूणीगणास्तमथ मन्मथमन्थरभाषिणः।। शि.व. 6/40
4. शि.व. 6/41
5. स विकचोत्पलचक्षुषमैक्षत क्षितिभृतोऽङ्कगतां दयितामिव।
   शरदमच्छगलद्वसनोपमाक्षमघनामघनाशनकीर्तनः।। 6/42

मुरारि ने (नीचे गिरते हुए) स्वच्छ वस्त्रों के तुल्य मेघवाली शरद् ऋतु को पर्वतराज के अङ्क में स्थित प्रेयसी के समान देखा।[1] शरद् ऋतु में हंसो के शब्द मधुर तथा मयूरों के शब्द कर्कश हो गये, उसके पूर्व वर्षा ऋतु में हंसो के शब्द कर्कश तथा मयूरों के शब्द मधुर थे यह परिवर्तन समय के कारण ही हुआ। अतएव सत्य ही कहा गया है कि- 'समय ही प्राणियों के बलाबल को करता है अर्थात् समय के प्रभाव से ही प्राणी बलवान तथा निर्बल होते हैं।'[2] पहले हंसो की ध्वनियों से पराजित ध्वनिवाले मोर के पंख पराभव सहनें में असमर्थता या क्रोध के कारण झड़ गये, यह उचित ही है क्योंकि- ''शत्रुकृत पराभव अत्यन्त दुःसह होता है।'[3] बाण, आसन, सप्तच्छद तथा कमल विकसित हो गये तथा धान की रखवाली करनेवाली गोपकन्याओं के गीत सुननें में तन्मय होकर मृग-समूह धान खाना भी भूल गये। दिशाएं कहीं निर्मेघ धवल लग रही थी। आकाश में शुक-पंक्ति उड़ने लगी। श्रीकृष्ण ने विकसित नेत्रयुक्त स्वच्छतड़ाग जलवाली, हंसों के द्वारा स्वर्ग को हंसती हुई सी तथा फूले हुए 'कास' घासों से दन्तुरित मुखवाली शरद ऋतु को चारो ओर से प्रमुदित माना।[4]

माघकवि इसके अनन्तर क्रम प्राप्त हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हैं। अत्यन्त गहरी नदियों को हिममयी करने वाली हेमन्त ऋतु की वायु नें विरहिणियों (प्रोषित-पतिकाओं) के नेत्रों के अतिशय सन्ताप करने वाले जलप्रवाह को बढ़ा दिया।[5] हेमन्त-पवन नदियों के जल को हिम शीतल करने लगा। प्रियतम के आलिङ्गन द्वारा शीतव्यथा दूर की जाने लगी।

तदनन्तर क्रमागत शिशिर ऋतु का वर्णन करते हुए माघकवि कहते है- 'वनप्रान्त में प्रियंगु लताओं को विकसित करता हुआ, मदकारक भ्रमरियों के ध्वनिरूप हुंकारों से युक्त शिशिर ऋतु का पवन (विरहिणी) युवतियों को भर्त्सित करने लगा।[6] समय की प्रबलता से शत्रुओं के बढ़ जाने पर बलवान् भी असमर्थ हो जाता है, जैसे कि माघ मास में मन्द किरणों

---

1. शि.व. 6/42
2. समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
   शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम्।। शि.व. 6/44
3. शि.व. 6/45
4. शि.व. 6/54
5. शि.व. 6/55
6. शि.व. 6/62

वाला सूर्य बढ़े हुए हिम को नहीं नष्ट कर सका।[1] शिशिर पवन ने प्रियंगुलताओं को पुष्पित कर दिया तथा उस पर भ्रमर गुञ्जार करने लगे। सूर्य रश्मियों की आभा मन्द पड़ गयी। शीतापहारी प्रियास्तनों का आलिङ्गन और अधिक सुखद बन गया। कुन्दलताएं पुष्पों से लद गयी।

बसन्त आदि छहों ऋतुओं का वर्णन समाप्त हो जाने पर भी यमक पद्यों की रचना के इच्छुक माघकवि ने पुनः छहों ऋतुओं को वर्णन किया है।

इस प्रकार अत्यन्त भार से वृक्षों को नम्र करने वाले तथा भ्रमरों के गुञ्जन से गुञ्जरित हुए अर्थात् समस्त ऋतुओं को धारण करने वाले रैवतक पर्वत पर श्रीकृष्ण को मयूरो की केका ध्वनि ने विहार करने के लिए प्रेरित किया।[2] अतएव छः ऋतु संहार (समूह) ने श्रीकृष्ण को तथा उनकी सेना को उस रैवतक पर्वत पर विहार करनें के लिए मानो आमन्त्रित किया हो।

वनविहार

छहों ऋतुओं के एक साथ प्रादुर्भूत होने पर श्रीकृष्ण और यादव जनसमूह अपनी-अपनी रमणियों के सहित षड्ऋतुसमृद्ध वनप्रदेश की सुषमा देखने तथा उपवन विहारार्थ शिविर से चल पड़े। उनका यह कार्य उनके ही अनुरूप था, क्योंकि सेवा करने के लिए महापुरुषों के विषय में श्रद्धालुओं का प्रयास निष्फल नहीं होता है।[3] उस समय रमणियां अनेक प्रकार के कामजन्य विलास करती हुई अपने-अपने प्रियतमों के साथ जा रही थी। प्रियों के साथ जानें की इच्छारूप उस अवसर को पाकर हृदय को वशीभूत करती हुई स्वभावतः सुन्दरी उन रमणियों ने भूमि पर पैर रखा।[4]

माघकवि रमणियों के विलासों का वर्णन करते हैं- 'जब तरुणी अपने पति के साथ विहारार्थ रैवतक पर्वत पर पैदल चलने लगी तब बार-बार अपनें विशाल नितम्बों पर अपना हाथ रखती एवं हटाती थी, उस समय उसकी नखकान्ति से प्रसृत प्रभा इन्द्रधनुष की रचना

1. शि.व. 6/63
2. शि.व. 6/79
3. शि.व. 7/1
4. शि.व. 7/3

कर रही थी तथा उसके कङ्कण झङ्कार कर रहे थे।[1] यादवगण भी विविध प्रकार से कामकला का प्रदर्शन करते हुए रमणियों की विलासिता को बढ़ा रहे थे। यादवाङ्गनाओं ने नदियों के समीप लोगों के मनोनुरूप लक्ष्य को बेधने में समर्थ कामधनुष के टङ्कार का सन्देह उत्पन्न करते हुए, कर्णमधुर सारस पक्षियों की ध्वनि को सुना।[2]

गुञ्जार करते हुए भ्रमर-समूह रमणियों-सहित यादवों को मानो दूर से ही बुला रहे थे।[3] अर्द्धविकसित कलियां वायु के स्पर्श एवं भ्रमरों के बैठने से पूर्णतः विकसित होकर रमणियों का कामवर्धन कर रही थी।[4]

नवपल्लवों एवं पुष्पकलिकाओं को देते तथा कान में लगाते हुए नायक को खण्डिता नायिका अपमानित कर रही थी। पुष्प तोड़ती हुई रमणियां विविध कामकला का प्रदर्शन कर रहीं थी। किसी रमणी के नेत्र में पड़ा हुआ पुष्परज मुख से फूंककर दूर करते हुए नायक को देखकर उसकी सपत्नी के नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे।[5] वनविहार वर्णन प्रसङ्ग में नायिका का सपत्नी के प्रति ईर्ष्या का विशद वर्णन हुआ है। सपत्नी का नाम लेकर बुलायी गयी कोई रमणी कामप्रयुक्त अभिचार मन्त्र से आहत होकर मूर्च्छित भी हो रही थी।[6]

भ्रमरों के समूह, तोड़े गये फूलोंवाली अतएव पुष्पहीन लताओं को छोड़कर कोमल ताजे फूलों की माला पहनी हुई युवतियों पर बैठ गये। यह उचित ही है क्योंकि मलिन आत्मावालों के लिए प्रधान नहीं होता।[7] इस प्रकार चिरकाल तक वन-विहार में थकने के कारण रमणियों के केश बिखर गये, कन्धे झुक गये आंखे अलसाने लगी, कपोल-मण्डल लाल हो गये, बाहु शिथिल पड़ गये, स्तन खिन्न होकर ढीले हो गये, पैर रक्तवर्ण हो गये और वे सुकुमार

---

1. शि.व. 7/4
2. श्रुतिपथमधुराणि सारसानामनुनदि शुश्रुविरे रूतानि ताभिः
   विदधति जनतामनः शरव्यव्यधपटुमन्मथचापनादशङ्काम्।। शि.व. 7/24
3. शि.व. 7/25
4. असकलकलिकाकुलीकृतालिस्खलनविकीर्णविकासिकेशराणाम्।
   मरूदवनिरूहां रजो वधूभ्यः समुपहरन् विचकार कोरकाणि।। शि.व. 7/26
5. शि.व. 7/56
6. स्फुटमिदमभिचारमन्त्र एव प्रतियुवतेरभिधानमङ्गनानाम्।
   वरतनुरमुनोपहूय पत्या मृदुकुसुमेन यदाहताप्यमूर्च्छत्।। शि.व. 7/58
7. शि.व. 7/61

अङ्गोवाली रमणियां बहुत खिन्न हो गयी तथा उनके कपोल मण्डल से स्तन मण्डल पर जर्जरित होता हुआ पसीना बहने लगा। उन रमणियों में से निरन्तर पुष्प तोड़ने से अत्यन्त थकी हुई कोई रमणी पति के गले में बाहु डालकर प्रियतम के वक्षःस्थल पर अलसा रही थी।[1] कोई रमणी अपने हस्तद्वय को उत्थापित कर अंगड़ाई लेती हुई प्रियतम के सम्मुख अपना मनोभाव प्रकट कर रही थी।[2] किसी मुग्धा नवोढ़ा नायिका के पसीने को पोंछने के बहाने उसका नायक चतुरता से अपनी प्रियतमा का आलिङ्गन कर रहा था।[3]

इस प्रकार माघकवि मार्गश्रमजन्यानुभाव- स्वेद की अधिकता का वर्णन करके उसके फलस्वरूप उन रमणियों की जलविहार करने की इच्छा का प्रस्ताव उपस्थित करते हैं।[4]

मुग्धा नायिका की क्रीड़ा, सपत्नी का हर्ष ईर्ष्याप्रकाशन, खण्डितानायिका द्वारा सापराधप्रिय की भर्त्सना वन-विहार श्रम-जन्य स्वेदापनोदनार्थ रमणियों ने जलक्रीड़ा से उसे दूर करना चाहा।

जलक्रीड़ा

वनविहार से थकी हुई यादवाङ्गनाएं अर्द्धनिमीलितनेत्रा होकर जलाशय को ओर अग्रसर हुई। श्रेणिबद्ध होकर जाती हुई, काली भौंहोवाली उन यादवाङ्गनाओं के कन्धे के नम्र होने के कारण मध्य में बहुत अवकाश (खाली) होने पर भी बड़े होने से आपस में परस्पर सटे हुए उनके नितम्बों से चौड़ा भी वह मार्ग बहुत संङ्कीर्ण हो गया।[5] रमणियों की संख्या अधिक होने से मार्ग पूर्णतः भरा था, जलाशय के मार्ग में कहीं पर हंसिनी बैठी थी, कहीं प्रस्तरों से टकराती हुई नदियां द्रुत गति से बह रही थीं, कहीं मोती बिखरे हुए थे और भ्रमर समूह पुष्प को छोड़कर अधिक सौरभ के लोभ से रमणियों के मुख पर आ रहे थे। मयूर, मयूरी पर पखों से छाया कर रहा था। हंस-समूह कमल श्रेणियों में छिपे हुए दिन व्यतीत कर

1. शि.व. 7/71
2. शि.व. 7/72-73
3. शि.व. 7/74
4. प्रियकरपरिमार्गादङ्गनानां यदाभूत् पुनरधिकतरैव स्वेदतोयोदय-श्रीः।
   अथ वपुरभिषेक्तुं तास्तदाम्भोभिरीषुर्वनविहरणखेदम्लानमम्लानशोभाः।। शि.व. 7/75
5. शि.व. 8/2

रहे थे। चकवा, चकवी का मुख चुम्बन कर रहा था[1]। ऐसे मार्गों से जब यादवाङ्गनाएं जलाशय के समीप पहुंची तब पक्षिगणों के कलरव से स्वागत करते हुए जलाशय के कमलयुक्त तरङ्गों ने यादवाङ्गनाओं के लिए अर्घ्य देकर उनका आतिथ्य किया।[2] जिस प्रकार किसी अतिथि के आने पर कोई सज्जन व्यक्ति पुष्पों से अर्घ्य देता है, उससे कुशल प्रश्नादि करते हुए सम्भाषण करता है उसी प्रकार प्रसन्नता से अपने पास आने पर पुष्करिणी नें उन यादवाङ्गनाओं के लिए मानों ऊपर उठे हुए विकसित कमल को अर्घरूप में दिया। पक्षियों के कूजने से मानों सम्भाषण किया, श्वेतफेन होने से मानो हास किया तथा तरङ्गरूपी हाथों से मानों पैर धोने के लिए जल दिया। इस प्रकार अत्यन्त प्रेम से उनका आतिथ्य-सत्कार किया। उस समय भगवान् की पटरानियों के पाणिकमल से जलाशय के कमलों की शोभा तुच्छ प्रतीत हो रही थी। जल में प्रवेश करने से भयभीत पति के द्वारा पकड़े गये हाथोंवाली स्त्रियां जब तक किसी प्रकार प्रवेश नहीं किया कि तब तक वह पानीं उनको अपने (पानी) में प्रतिबिम्बित होने से मानों उत्कण्ठा से अपने भीतर ग्रहण कर लिया।[3] जलविहार में रमणियां अपनें प्रिय अनुरागियों के साथ मनोरम विभ्रमों के साथ क्रीड़ाएं कर रहीं थी। शीत को न सहनेवाली अतएव तडाग में उतरनें के लिए इच्छा नहीं करती हुई किनारे पर बैठी हुई तथा हाथ को हिलाती हुई रम्भोरु को पानी में पहले से ही प्रविष्ट पति ने मुस्कुराते हुए रमणी के विलास को देखने के लिए भिगो दिया।[4] जल में पति के साथ प्रवेश करना नहीं चाहती हुई किसी नवोढा को जब उसकी सखियों ने उसे जल में ढकेल दिया, तब वह डूबने के भय से पति का आलिङ्गन कर लिया, क्योंकि विपत्ति में मर्यादा का उल्लंघन करना निन्दित नहीं होता।[5]

पुष्प के समान गौर वर्ण रमणियों का शरीर पानी में डूबने पर भी प्रतिबिम्बित हो रहा था। तडाग में समीप से दिखायी पड़ने वाला पदार्थ कमल है क्या? अथवा युवती का मुख

---

1. शि.व. 8/13
2. उत्क्षिप्तस्फुटितसरोरूहार्घ्यमुच्चैः सस्नेहं विहगरूतैरिवालपन्ती।
   नारीणामथ सरसी सफेनहासा प्रीत्येव व्यतनुत पाद्यमूर्मिहस्तैः।। शि.व. 8/14
3. शि.व. 8/16
4. शि.व. 8/19
5. नेच्छन्ती सममुना सरोऽवगाढुं रोधस्तः प्रतिजलमीरिता सखीभिः।
   आश्लिष्यद्भवचकितेक्षणं नवोढा वोढारं विपदि न दूषितातिभूमिः।। शि.व. 8/20

शोभ रहा है, ऐसा क्षणमात्र सन्देह करके किसी पुरुष ने बगुलों के सहवासी (कमलों) में नहीं रहने वाले स्त्रियों के विलास-विशेषों से यह रमणी का मुख ही शोभ रहा है ऐसा निश्चय किया।[1] माघकवि स्त्रियों की जलक्रीड़ा के साधनों का वर्णन करते हुए कहते हैं- 'पिघलाये गये सुवर्ण से निर्मित पिचकारियां, चन्दन, कुङ्कुमादि सुगन्धयुक्त पदार्थ, स्तनकलश का आवरण भूत कुसुम्भ, से रंगा हुआ मोटा कपड़ा, नारियों के जलक्रीड़ा के साधन थे।[2] कोई रमणी सखी को पानी से सीचने के बहाने अपना अभिप्राय प्रदर्शन करती हुई पति के सम्मुख बद्धाञ्जलि हो रही थी। रोती हुई रमणी के दुःख से जलाशय का जल श्यामल हो जाता था। सपत्नी के स्नेह से अन्धे बने हुए प्रियतम के द्वारा नाम-परिवर्तन से उच्चारण कर सामने फेंके गये तथा मानिनी के शरीर पर गिरते हुए स्वभाव से ही जड़ (शिथिल-मृदु) होने पर भी हृदय को विदीर्ण करते हुए जलरूपी वज्र को मानिनी रमणी सह नहीं सकी।[3] जल में भीगने के कारण रमणियो की मेखलाएं नहीं बज रही थी। सम्यक् प्रकार से सौरभ (सम्बन्ध) को धारण करता हुआ भी दूरस्थ होने से रमणियों के मुख की समानता को प्राप्त करता हुआ कमल उन जलक्रीड़ा में लिप्त रमणियों के अत्यन्त समीप होकर पराजित हो गया।[4] वेगपूर्वक जल में अवगाहन रूप क्रीड़ाओं से घिरे हुए, विकसित पीले फूलवाली जूही के समान पीले वर्ण वाले सुवर्ण निर्मित स्त्रियों के आभूषण तड़ाग में बड़वाग्नि की ज्वाला के खण्डों सदृश उद्दीप्त हो रहे थे।[5] रमणियों के वक्षस्थल पर लगे हुए हरिचन्दन लेप के पानी से धोये जाने पर रमणियों के निर्मल कलशवत् स्तनद्वय से कम पड़े हुए गुणाधिक्यवाला मुक्ताहार मानो सहृदय के सदृश सहसा खण्डित हो गया। तत्पश्चात् पानी के माधुर्यादि सम्पूर्ण गुणों को धारण करती हुई तथा भलीभांति विकसित एवं उज्जवल कमलरूपी आभूषणोंवाली और प्रियतम के साथ में सेवित उस नदी ने तथा यज्ञावशिष्ट होने से अमृत के सम्पूर्ण गुणों को धारण करती हुई तथा अच्छी तरह से विकसित एवं उज्जवल सुवासित करने के लिए दिये गये कमलरूपी भूषणों वाली, प्रियतमों के साथ सेवित अर्थात् रमणियों के नेत्रों को रक्तायित (गुलाबी) कर दिया। जलक्रीड़ा करने

---

1. शि.व. 8/29
2. शि.व. 8/30
3. शि.व. 8/39
4. शि.व. 8/48
5. शि.व. 8/52

से रमणियों के स्तनकलशों के चारो ओर जलबिन्दु हार के मोतियों के समान शोभ रहे थे। जलक्रीड़ा करने के उपरान्त हाथ में कमल लिये हुए जल से निकलती हुई लक्ष्मी के समान जलाशय के पानी से निकलती हुई किसी परमसुन्दरी रमणी को देखकर समुद्र मन्थन का श्रीकृष्ण ने देवताओं को भी सौन्दर्यातिशय से आश्चर्यित की हुई लक्ष्मी के समान स्मरण किया।[1]

रमणियों ने जलक्रीड़ा के बाद बाहर निकलकर सूखे जिन वस्त्रों को पहना, स्वच्छ मेघ के समान कान्तिवाले वे वस्त्र आनन्द से मानो हंसने लगे और उन रमणियों ने स्नान करके पानी चुगते हुए जिन भीगे हुए वस्त्रों को छोड़ दिया, बड़ी-बड़ी आंसुओं की बूंदो को गिराते हुए वे वस्त्र मानो विरहजन्य पीड़ा से रो दिये। पानी में भीगे केश को सुखाती हुई किसी रमणी के केश पति के समीपस्थ होने के कारण स्वेदयुक्त होते रहने से भीगे ही रहते थे। रमणियों के इस प्रकार जलक्रीड़ा कर बाहर निकलनें पर भगवान् भास्कर अस्तोन्मुख हो गये।

सूर्यास्त वर्णन-रतिक्रीड़ा-मद्यपान वर्णन

जलविहार के पश्चात् रमणियां जब अपने-अपने भवन में पहुंची उस समय दिन का अन्तिम समय वृद्धावस्था को प्राप्त मन्द दृष्टि वृद्ध पुरुष के समान क्षीणकान्ति प्रतीत हो रहा था। सन्ध्याकाल के समीप होने पर सूर्य के सूक्ष्म या मन्द किरण-समूह उस समय अस्ताचल के शिखरों .पर ठहर गया, यह उचित ही था; क्योंकि विनाश के समय भी बड़े लोगों का स्थान अत्यन्त ऊँचा ही रहना उचित होता है।[2] पक्षिसमूह कलरव करते हुए अपने निवास वृक्ष की ओर जा रहे थे। अरुण वर्ण वाला आधा अस्त हुआ सूर्यबिम्ब सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के द्वारा नख से विदीर्ण किये गये सुवर्णमय अण्ड के समान शोभता था[3]।

माघकवि ने सूर्यास्त वर्णन के अनन्तर अन्धकार का वर्णन किया है- ऐसा घना अन्धकार है जिसमें तारे दिखलायी नहीं पड़ रहे है, चन्द्रमण्डल भी नहीं दिखायी पड़ रहा है, सूर्य अस्त हो गया है, गर्मी शान्त हो गयी है और अन्धकार भी नहीं हुआ है, ऐसा गुणयुक्त

---

1. दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्द चारुहस्ताम्।
   उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीमस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः।। शि.व. 8/64
2. शि.व. 9/5
3. द्रुतशातकुम्भनिभमंशुमतो वपुरर्धमग्नवपुषः पयसि।
   रूरुचे विरञ्चिनखभिन्नवृहज्जगदण्डकैकतरखण्डमिव।। शि.व. 9/9

आकाश शोभायमान हो रहा था क्योंकि गुणहीन का निर्दोष होना ही गुण होता है।[1] सन्ध्या के प्रादुर्भूत होने पर मदोन्मत्त कामिनियां नेत्रों में सुर्मा लगा रही थी क्योंकि दिन में शिथिल पड़ी हुई रमणियों की कामवासना जागृत हो उठी थी। इसके अनन्तर माघकवि अन्धकार का वर्णन करते है- "मानो अपने प्रतिबिम्ब से क्रुद्ध किये गये सूर्यरूपी सिंह के पश्चिम समुद्र में कूदने पर हाथियों के झुण्ड के समान काले-काले घने अन्धकार ने सम्पूर्ण संसार को आच्छादित कर लिया।[2]"

यहां पर अपनें प्रतिबिम्ब को समुद्रजल में देख उसे दूसरा प्रतिद्वन्द्वी सिंह समझकर क्रुद्ध सूर्यरूपी सिंह को समुद्र में कूदनें की उत्प्रेक्षा की गयी है। जो तारा दिन में सूर्य की प्रभा से अन्तर्हित रहने के कारण दिखलायी नहीं पड़ता था वह बहुत अन्धकार से व्याप्त रात्रि को प्राप्तकर चमकनें लगा क्योंकि छोटे लोग मलिनों के आश्रय से प्रकट होते हैं। उस समय प्रदोषकाल ने चन्दनकुङ्कुमादि, लेप, पुष्पमालादि, पतियों के ऊपर क्रुद्ध रमणियां और दीपकों की लौ इन सबों ने चिरकाल से शिथिल पड़े हुए कामदेव को प्रतिबोधित (उत्तेजित) करते हुए एक साथ प्रकट कर दिया। उसी समय शेषनाग के मणियों की किरणों के समान पूर्वदिशा में चन्द्रिका छिटकनें लगी।[3] पूर्वदिशा में चन्द्रमा की कला से थोड़ा विदीर्ण किये गये अन्धकाररूपी जटावाले आकाश को लोगों ने यह प्रमथ आदि गणों के नायक शिवजी की मूर्ति है, ऐसा क्षणमात्र के लिए समझा[4]।

सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल के उदय होने पर अन्धकार-समूह नष्ट हो गया, समुद्र बढ़ने लगा और चन्द्रमा तथा रात्रि ये दोनों ही परस्पर एक चन्द्रिका संसर्ग होने पर चन्द्रकान्तमणि की प्रतिमाएं पसीजने लगी और रमणियों की कामवासनाएं बढ़ने लगी। गम्भीरतम पयोदधि को क्षुब्ध करने वाले चन्द्रमा का उदय होने पर अनुरागी यादवगण भी कामवासना से क्षुब्ध हो उठे। झरोखों से चन्द्रमा की शीतल किरणें राजप्रासादों के भीतर प्रविष्ट होने लगी। रमणियां

---

1. शि.व. 9/12
2. पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषित इवाम्बुनिधौ।
   अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे।। शि.व. 9/18
3. शि.व. 9/25-26
4. कलया तुषारकिरणस्य पुरः परिमन्दभिन्नतिमिरौघजटम्।
   क्षणमभ्यपद्यत जनैर्न मृषा गगनं गणाधिपतिमूर्तिरिति।। शि.व. 9/27

विविध श्रृङ्गार प्रसाधनों से स्वयं को सुसज्जित करने लगी। किसी रमणी ने मोती का अत्यन्त शोभनीय हार और किसी ने मेखला पहनीं। किसी रमणी ने अधरों में लाक्षारस, कपोलों में लोध्रपुष्प का पराग और नेत्रों में अञ्जन लगाया। किसी रमणी नें प्रियतम के आलिङ्गन में व्यवधान कारक चन्दन का लेप भी वक्षःस्थल में नही किया। कोई रमणी जघनस्थ हाथ पर कपोलमण्डल रखकर अव्यक्त मधुर गीत गाती हुई पति के आगमन के लिए उत्कण्ठित हो रही थी। कोई कामी युवक आते ही प्रियतमा का गाढ़ालिङ्गन कर रहा था। कोई युवक पीछे से आकर अपनी प्रियतमा के नेत्रों को बन्द कर प्रहसन कर रहा था। कोई रमणी प्रियतम का अभ्युत्थान आदि स्वागत करने में बार-बार स्खलित होकर भी प्रियतम को आनन्दित कर रही थी। कोई मानवती स्त्री प्रियतम को देखते ही नीवी के शिथिल होने से लज्जित हो अधोमुखी हो रही थी। किन्तु मद्यपान करने से लज्जा छोड़कर सभी रमणियां सुरत में [illegible]र होने लगी।

चन्द्रिका में प्रेमियों ने मद्यपान प्रारम्भ किया। कामीजन मद्यपान करते समय रमणियों का अधरपान कर रहे थे। भ्रमर समूह मद्य के सौरभ से आकृष्ट होकर उस पर गूंज रहे थे। मदिरा के प्याले में प्रियतम का मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था। नायिका के द्वारा दिया गया मद्य पीते हुए पति को मानो नायिका के हाथ के स्पर्श से अत्यन्त स्वादिष्ट हो गया क्योंकि वह मद्य अचेतन सुवर्ण-मुकुट किरणों से पीत वर्णवाला हो गया।[1]

सुन्दरी नायिका के पीने से इस मद्य में स्वभावतः उसके ओष्ठ से रस संक्रान्त हो गया क्योंकि उसी मद्य ने युवक के लिए अपूर्व के समान दूसरे ही अभीष्ट स्वाद को बढ़ा दिया।[2] प्याले में रखे मद्य को सुवासित करने के लिए नीलकमल रखा गया था, जो त्यागजन्य लज्जा से भ्रमरों के गुञ्जार के द्वारा रुदन करने के सदृश नीचे बैठ गया। इसके अनन्तर माघकवि ने मद्य के प्रभाव का वर्णन किया है। मद्य पीते हुए कामिजन जिह्वा से मद्य-स्वाद को तथा नासिका से कमल सौरभ को एक साथ ग्रहण कर रहे थे। अधिक मद्यपान करने से नशा बढ़ जाने पर रमणियां उचित-अनुचित बात का ध्यान न करते हुए जो बात मन में आती थी,

---

1. दत्तमिष्टतमया मधुपत्युर्बाढमपि पिबतो रसवत्ताम्।
   यत्सुवर्णमुकुटांशुभिरासीच्चेतनाविरहितैरपि पीतम्।। शि.व. 10/6
2. शि.व. 10/7

उसे निःसंकोच लज्जा त्यागकर बोल रही थी। रमणियां अपनें काम-सम्बन्धी गुप्त रहस्यों को भी कहती .हुई हंसहंसकर कटाछादि के साथ चातुर्थ पूर्ण बातें कर रही थी।[1]

कोई नवोढा रमणी मद्य के नशे में लज्जारहित हो अर्द्धोन्मीलित नेत्र से पति को देख रही थी। मद्यपान से लाल नेत्रों वाली कोई रमणी पहले छिपायी गयी अपनीं कामवासना को प्रियतम से उद्घाटित करने लगी। प्रियतम द्वारा समर्पित मद्य का पानकर 'प्रमदाओं' का प्रमदात्व अन्वर्थ हो रहा था। रमणी के पति का गाढ़ालिङ्गन करने पर उसकी सपत्नी का हृदय ईर्ष्या के कारण विदीर्ण हो रहा था। मद्यपान से घुले हुए लाक्षारसवाले अपने अधर को प्रियतम के अधर का स्पर्शकर लाक्षारस से रंग रही हूँ ऐसा भाव सखी के सामने प्रदर्शित करती हुई कोई रमणी प्रियतम का अधरपान कर रही थी। पति के आलिङ्गन करने पर स्वेद से रमणी का वस्त्र गीला, शरीर पुलकित ओर नीवी नीचे की ओर खिसक रही थी। बिना श्रृङ्गार आदि के ही मनोहर रूप कार्य की अपेक्षा किये बिना बढ़ने वाला प्रेम स्वाभाविक विलासपूर्ण प्रियवचन-रमणियों के समस्त कार्य प्रियतमों के वशीकरण के साधन हो गये।[2]

इस प्रकार मद जनित रति अनुभाव का वर्णन करने के अनन्तर माघकवि ने वाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से द्विविध सुरतों का क्रमशः वर्णन किया है। नायक तथा नायिका के वाह्य तथा आभ्यन्तर सुरत के समय रमणियों के सीत्कार, करुणा, प्रेम तथा निषेध-सूचक वचन, स्मित और भूषण ध्वनि कामिजनों की कामवृद्धि में सहायक बन रहे थे। इस प्रकार प्रियतमों की रुचि के अनुसार ही सुरत करती-कराती सभी रमणियां थक गयी तथा अपने-अपने अङ्गो को वस्त्रों से आवृत करने के लिए व्यग्र हो उठी और उधर प्रातःकाल भी होने लगा।

प्रभात-सुषमा

श्रीकृष्ण को जगाने के लिए मधुर कण्ठवाले बन्दीजन उच्च स्वर से प्रभातिकी गाने लगे। बन्दीजनों के द्वारा प्रातःकाल में पञ्चम, षड्ज तथा ऋषभ स्वर से गायन का निषेध होने से उनका त्यागकर प्रभात का वर्णन आरम्भ किया गया। बन्दीजनों की प्रभाती सुनकर भी कामीजन

1. प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः।
   गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः।। शि.व. 10/12
2. रूपमप्रतिविधानमनोज्ञं प्रेम कार्यमनपेक्ष्य विकासि।
   चाटुचाकृतकसम्भ्रममासां कर्मणत्वमग मन् रमणेषु।। शि.व. 10/37

सुरत के आलस्य से करवट बदल रहे थे[1]। सुरत के पश्चात् तज्जन्य श्रम को दूर करने के लिए थोड़ी देर सोकर जागे हुए नृपगण रात्रि के अन्तिम प्रहर (ब्रह्ममुहूर्त) में बुद्धि के नैर्मल्य को पाये हुए तथा समुद्र के समान हाथी-घोड़े आदि से गम्भीर और काव्य के समान दुष्प्रवेश्य राज्य में सामादि उपाय की कल्पना करते हुए कवि के समान धर्मार्थकामरूप पुरुषार्थ का विचार कर रहे हैं।[2]

भूतलरूपिणी शैय्या से उठे हुए, मदजल के पंङ्क से पङ्किल शरीर वाले हाथी को महावत करवट बदलकर पुनः सुला रहा है तथा ऐसा करने से उस हाथी के पिछले पैर के लोहे की सांकल धीरे-धीरे हिलने से बज रही थी।[3] चन्द्रमा के अस्तप्राय होने से पूर्व दिशा स्वच्छ हो रही थी चन्द्रमा की शुभ्र किरणों से पश्चिम दिशा कुछ अरुणवर्ण होकर सुशोभित हो रही थी।[4] प्रातःकाल भ्रमर समूह के गुञ्जार से युक्त कुमुद-समूह मुकुलित होने के लिए नम्र होती हुई पंखुड़ियों से बढ़ती हुई असम्पूर्ण शोभा को धारण करता हुआ तथा भ्रमर-समूह के गुञ्जार से युक्त दूसरा कमल समूह विकसित होने के लिए नम्र होती हुई पंखुड़ियों से बढ़ती हुई असम्पूर्ण शोभा को धारण करता हुआ, समान अवस्था को प्राप्त कर रहा है। चन्द्रमा का किरण-समूह निकलते हुए अरुण (सूर्य की लालिमा) से मद्य की शोभा को प्राप्त अरुण वर्ण चिरस्थायिनी लज्जा को शीघ्र छोड़ते हुए मानो पूर्वदिशारूपिणी तरुणी के मुख के वस्त्र के सदृश गिर रहा था।[5] मालती पुष्प की सुगन्ध से युक्त वायु के प्रवाहित होने से रात्रिकालीन अविरत सुरत से श्रान्त रमणियों की कामाग्नि पुनः उद्दीप्त हो रही थी।[6]

हर्ष तथा कामवासना से उन्मत्त एवं युवावस्था से गर्वयुक्त रमणियों के सुरत के वेग की अधिकता से उत्पन्न थकावट में होने वाले पसीने की बूंदो को दूर करने में निपुण यह प्रातःकालीन पवन विकसित हुए कमलों के गन्धों से भ्रमर-समूहों को अन्धा (मदोन्मत्त) तथा

1. शि.व. 11/5
2. क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगा नुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे।
   गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्।। शि.व. 11/6
3. शि.व. 11/7
4. शि.व. 11/14
5. शि.व. 11/15-16
6. अविरतरतलीलायासजातश्रमाणा मुपशममुपयान्तं निःसहेऽङ्गेऽङ्गनानाम्।
   पुनरुषसि विविक्तैर्मातरिश्वावचूर्ण्य, ज्वलयति मदनाग्निं मालतीनां रजोभिः।। शि.व. 11/17

मकरन्द को सुगन्धयुक्त राजप्रासाद (शिविर) से अपने-अपने निवास स्थान को लौट रही थी। सूर्योदय होने के पूर्व ही अरुण से अन्धकार दूर हो रहा था। चक्रवाक युगल प्रातःकाल होते ही परस्पर मिल गये। कुमुदिनियों ने आंखे बन्द कर ली, रजनी का भी अन्त हो गया, सम्पूर्ण तारागण विनष्ट हो गये। इस प्रकार कलत्रप्रेमी चन्द्रमा मानो शोकवश दुर्बल तथा कान्तिहीन हो रहा था। रात्रि की सुरतमर्दित पुष्पमालाओं को रमणियां गले से उतार रही थी। पाण्डुवर्ण चन्द्रमा की कान्ति रमणियों की मुखकान्ति से हीन हो रही थी। नवोढा नायिकाएं रात्रि के विविध रतिवृत्तान्तों का स्मरण कर स्वयं लज्जित हो रही थी। द्विज तपोनिष्ठ महात्मा अग्निहोत्रादि प्रातः कृत्य प्रारम्भ कर रहे थे। पूर्व दिशा में नये तपाये गये सोने के समान पिङ्गलवर्ण, सूर्यरश्मियों का समूह महोदधि (समुद्र) के पानी को जलाकर संसार को जलाने के लिए उद्यत, महासमुद्र के ऊपर जलती हुई बड्वाग्नि-ज्वाला के समान शोभायमान हो रहा था।[1]

घनें अन्धकार को नष्ट करने के लिए उदीयमान सूर्य ने रमणीय तारासमूह को भी बलपूर्वक नष्ट कर दिया, क्योंकि शत्रु का नाश करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति के लिए, जो शत्रु के आश्रय से श्री को पाये हुए हैं, वे भी नष्ट करने योग्य ही हुआ करते हैं।[2] नदियों की धारा सूर्यकिरणों के सम्पर्क से रक्तवर्ण हो रही थी। चन्द्रकिरणों से स्फटिकमणि सदृश निर्मित प्रतीत होता हुआ रात्रि का सुधाधवल प्रासाद उस समय सूर्य रश्मियों के सम्पर्क से कुङ्कुम जल से स्नात-सा प्रतीत हो रहा था। समस्त लोकों को प्रकाशित करने वाले सहस्त्र किरणों से युक्त मूर्तिवाले, सूर्य के चिरकाल तक दूसरे नेत्र के समान प्रकाशित होते रहने पर इस समय नायिकारूपिणी यह आकाश (दिव्) किरणहीन निष्प्रभ चन्द्रमा के समान दिखायी पड़ रहा है। प्रातःकाल में कुमुदवन श्रीहीन हो रहा है, कमल समूह शोभायुक्त हो रहा है, उलूक दिन में न देख सकने के कारण खिन्न हो रहे हैं। दिन में प्रिया का सङ्ग होने के कारण चक्रवाक प्रसन्न हो रहा है, सूर्य उदित हो रहा है और चन्द्रमा अस्त हो रहा है।[3]

कमल समूह के विकसित होने से उसमें बन्द हुए भ्रमर बाहर निकल रहे थे। इस प्रकार कल्पान्त में जगत् का संहार कर क्षीरसागर में सोये हुए भगवान् विष्णु के समान सूर्य तारासमूह को नष्ट कर आकाश में सोता हुआ-सा प्रतीत होने लगा।

---

1. नवकनकपिशङ्गं वासराणां विधातुः, ककुभि कुलिशपाणेर्भाति भासां वितानम्।
   जनितभुवनदाहारम्भमम्भांसि दग्ध्वा, ज्वलितमिव महाब्धेरूर्ध्वमौर्वानलार्चिः।। शि.व. 11/43
2. शि.व. 11/56
3. कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं, त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
   उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं, हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः।। शि.व. 11/64

प्राभातिक प्रस्थान

नीलकान्तमणि श्रीकृष्ण प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् सर्वगुण-सम्पन्न मनोरम रथ पर आरूढ़ होकर शिविर से बाहर निकले। प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् रथों, घोड़ों तथा हाथियों पर आरूढ़ राजसमूह बाहरी द्वार पर प्रस्थानकाल के योग्य वेश-भूषा ग्रहण करने में कुछ विलम्ब किये हुए श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा करने लगे[1]। श्रीकृष्ण के पीछे हाथी, घोड़े आदि पर आरूढ़, शस्त्रों से सुसज्जित होकर नृपगण चल पड़े। तत्पश्चात् सैनिकों तथा यदुगणों के विश्रामार्थ निर्मित किये गये शिविर के तम्बू-कनात आदि को समेट-समेट कर गाड़ी, ऊँट, बैल, खच्चर आदि वाहनों पर रखकर चतुरङ्गिणी सेना पैदल चलने लगी। सेना-प्रयाण के समय भयङ्कर शंख एवं मृदङ्ग आदि की ध्वनि से विपक्षी राजाओं का हृदय पराजय की आशङ्का से व्यथित हो रहा था।[2] रथ तथा हाथियों के शब्द परस्पर मिश्रित होने से स्पष्ट नही प्रतीत होते थे। रथों की पहियों से विदीर्ण भूमि हाथियों के पैरों से समतल हो रही थी। पताकारूपिणी वनराजियों से शोभनेवाले पर्वत के प्रतिनिधि गजराजों वाले और चलते हुए जन-समूह रूपिणी सहस्रो नदियों वाले सैनिक विस्तृत भूभाग पर फैले हुए थे।[3]

घुड़सवारों से प्रयत्नपूर्वक खींचे हुए अर्थात् लगाम की रस्सी वाले अश्व-समूह धीरे-धीरे ढालू भूमि पर दुःख से उतरकर समतल भूमि में लगाम की रस्सी ढीली करने पर खुरों की उच्चध्वनि करते हुए शीघ्रता पूर्वक चलने लगे। वह सेना श्रीकृष्ण के प्रताप से उपनत नम्र, अतएव विनय से नम्रीभूत राजसमूहों से बहुत छत्रोंवाली होने से केवल छत्रोवाली ही हो गयी थी[4]।

चतुरङ्गिणी सेना विशाल होने पर एक कतार से बांये होकर चल रही थी। श्रीकृष्ण ने गौओं के रहने के स्थान में मण्डलाकार बैठकर वार्तालाप करते हुए अट्टहासपूर्वक उठकर बार-बार उछलते-कदते हुए, मद्यपीने की इच्छा करते हुए और मुरारि नाम कीर्तन में चित्त लगाये

---

1. शि.व. 12/2
2. सम्मूर्छदुच्छंखलशंङ्कनिःस्वनः स्वनः प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि।
   सत्त्वानि नित्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेषाममि मेदिनीभृताम्।।शि.व. 12/13
3. शि.व. 12/29
4. शौरेः प्रतापोपनतैरितस्ततः समागतैः प्रश्रयनम्रमूर्तिभिः।
   एकातपत्रा पृथिवीभृतां गणैरभूद्बहुच्छत्रतया पताकिनी।। शि.व. 12/33

हुए ग्रामीणों को देखा। ग्रामीण होने के कारण अत्यन्त भोलेपन से विलासशून्य, विस्तारगुण से प्रसिद्ध श्रीकृष्ण को एक बार भी देख लेने से कृतकृत्य हुए नेत्रों से द्वारिकाधीश को देखती हुई गोपियों की तृष्णा नही बुझी।[1]

धान की रखवाली करने वाली गोपियां एक ओर शुको को उड़ाती थी तो दूसरी ओर मृग धान चरने लगते थे और जब मृगों को भगाती थीं तब इधर शुक आकर धान खाने लगते थे, इस प्रकार क्रमशः शुकों एवं मृगों को भगाने में व्यस्त धान्यगोपिकाओं को जगदाधार ने मुस्कुराते हुए देखा। जल बहुल स्थान में विलास के साथ चलती हुई स्त्री के रक्त-कमल के समान चरणों में चञ्चल होते हुए नूपुर की ध्वनि के समान मधुर मतवाले हंसो के शब्द ने श्रीकृष्ण को मन्त्रमुग्ध कर लिया।[2] सेना से उड़ी हुई धूलि पर्वतो के शिखरों तक पहुंच रही थी। हाथियों के द्वारा हिलाये गये पेड़ की डालों में लटके हुए छत्तों से उड़ी हुई मधुमक्खियों के काटने पर लोग भयाक्रान्त होकर इधर-उधर भाग रहे थे।[3]

विशाल सेना के नदी पार करते समय नदी का प्रवाह विपरीत ही प्रवाहित हो रहा था। हाथियों के प्रवेश करके पहले ही घोड़ो की टापों से नदी पङ्किल हो जाती थी तथा हाथी-दांतों से तटों को तोड़-तोड़कर नदी को स्थल तथा अपने मदजल के प्रवाहों से स्थल को दूसरी नदी बना देते थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण की विशाल सेना अनेक नगरों को पार करती हुई अगम यमुना नदी के तट पर आकर रुक गयी। सैनिकों द्वारा ऊँचे उठायी गयी तथा सामीप्य होने के कारण सूर्य की किरणों से तप्त धूलि, विकसित रक्तकमल के वायु से चञ्चल यमुना नदी के पानी में पहले गिरी।[4] तदनन्तर माघकवि यमुना नदी का वर्णन करते है- "यमुना नदी सूर्य की पुत्री होकर भी शीतल, यमराज की बहन होकर भी सब की जीवन (प्राणभूत) कृष्ण

---

1. शि.व. 12/38-39
2. शि.व. 12/44
3. श्मश्रूयमाणे मधुजालके तरोर्गजेन गण्डं कषता विधूनिते।
   क्षुद्राभिरक्षुद्रतराभिराकुलं विदश्यमानेन जनेन दुद्रुवे।। शि.व. 12/54
4. शि.व. 12/66

वर्ण वाली होती हुई भी शुद्धि को अधिक करने वाले जल से कलुषों को नष्ट करने में अतिशय समर्थ है।"[1]

तमाल वृक्ष के समान कृष्णवर्ण वाली और बहुत लम्बी वह यमुना वेग से पृथ्वी का अतिक्रमण करने के लिए तत्पर सेनारूपी समुद्र के आगे थोड़े समय तक उसकी सीमा के समान शोभित हो रही थी। उस समय यमुना बल से पृथ्वी को पार करने के लिए उद्यत श्रीकृष्ण सेना की सीमा सदृश ज्ञात हो रही थी तथा उस यमुना को कुछ लोगों ने नावों से तथा कुछ ने तैरकर और हाथी, घोड़े, बैल आदि ने उसमें घुसकर पार किया। इस प्रकार यमुना को पारकर श्रीकृष्ण की चतुरङ्गिणी विशाल सेना हस्तिनापुर की ओर अग्रसर हुई।

धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा अभिनन्दन

यमुना को पार करने के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण का केवल अभी यमुना पार करने का ही समाचार नहीं मिला अपितु जब से उन्होने द्वारिका से प्रस्थान किया है तब से दिन-रात का समाचार मिलता रहा। यदुपति श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न हर्ष से इन्द्रप्रस्थ नरेश युधिष्ठिर भीमादि अपने चारों अनुजों के साथ उनकी अगवानी के लिए नगर से चल पड़े।[2] श्रीकृष्ण को दूर से ही देखकर धर्मराज युधिष्ठिर रथ से पहले उतरना चाहते थे किन्तु श्रीकृष्ण ससम्भ्रम उनसे पहले ही रथ से उतर पड़े।[3]

समस्त लोकों से नमस्कृत भी पुराणपुरुष आदिपुरुष श्रीकृष्ण अपनी श्रेष्ठता को बढ़ाये हुए, सामने भूमि पर राशिभूत होती हुई हार की लड़ियोंवाले मस्तक से बुआ के पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर को प्रणाम किया।[4] श्री कृष्ण को झुके हुए सिर से भूतल का स्पर्शकर पूर्णतया प्रणाम करने के पूर्व ही युधिष्ठिर ने क्रम का त्याग कर उन्हें उठाकर दोनों भुजाओं में उनका गाढ़ालिङ्गन कर लिया। विनय से नम्रीभूत होकर उनके केशों का चुम्बन किया तथा उन्हें सिर पर सूंघा।[5] युधिष्ठर द्वारा स्नेहालिङ्गन के अनन्तर श्रीकृष्ण ने भीम आदि का तथा यादवों ने पाण्डवों का

1. या घर्मभानोस्तनयापि शीतलैः स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः।
   कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभिर्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी।। शि.व. 12/67
2. शि.व. 13/2
3. अवलोक एव नृपतेः स्म दूरतो रभसाद्रथादवतरीतुमिच्छतः।
   अवतीर्णवान्प्रथममात्मना हरिविनयं विशेषयति ससम्भ्रमेण सः।। शि.व. 13/7
4. शि.व. 13/8
5. शि.व. 13/9-12

एवं यादवाङ्गनाओं ने पाण्डवाङ्गनाओं का परस्पर अभिवादन किया। इस प्रकार परस्पर मिलने के पश्चात् अर्जुन का हस्तावलम्ब किये हुए श्रीकृष्ण रथ पर इस प्रकार आरूढ़ हुए, जिस प्रकार कुबेर का हस्तावलम्बन किये हुए मेघवाहन इन्द्र मेघ पर सवार होते हैं।[1] उस समय स्वयं राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के सारथि बन गये, भीमसेन चामर डोलाने लगे, अर्जुन ने छत्र पकड़ लिया और नकुल-सहदेव अनुचर बनकर पार्श्व में खड़े हो गये।[2] उस समय हर्षित निष्कपट आदर से विकसित स्पष्ट होती हुई भक्तिवाले और दुष्टों के शासक वे पाण्डव गुरु के समीप शिष्यों के समान श्रीकृष्ण के समीप शान्त मुद्रा में अवस्थित हुए। आगे बढ़ती हुई सेना की दुन्दुभि आकाश तक फैल गयी और उस शुभकारक समागम को देवगण विमान से आकाश में स्थिर होकर देखनें लगे। इतने में युधिष्ठिर के यज्ञ में आये हुए राजाओं के शिविरों से घिरे हुए तथा स्वागतार्थ अनेक द्वारों से सुशोभित जहां पुरुष, कामदेव के समान कान्तिवाले शरीर से सुशोभित हो रहे थे और रमणियां पूर्ण चन्द्रमुख से सुशोभित हो रही थी, ऐसे उस इन्द्रप्रस्थ नगर में श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया।[3]

श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करने के पश्चात् दुन्दुभियों के बजनें से मानों बुलायी गयी सी नागरिकों की रमणियां उनको देखने के लिए अन्य कार्यों को छोड़कर शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक मार्गों से आ गयी।[4] तदनन्तर माघकवि ने श्रीकृष्ण को देखने वाली रमणियों की चेष्टाओं का विस्तृत वर्णन किया है। किसी रमणी ने शीघ्रता के कारण मेखला को हार बना लिया तो किसी ने केशों में कर्णाभूषण लगा लिया। किसी ने दुपट्टे को पहन लिया तो किसी ने साड़ी को ओढ़ लिया और कोई कर्णाभूषण को कङ्कण के स्थान पर पहनकर चली आयी। कोई रमणी आधे रंगे हुए गीले पैरों से चली आयी, जिससे पृथ्वी पर उसके पैरों के गीले महावर के चिन्ह अंकित हो गये थे। कोई रमणी मेखला तथा नूपुर को बजाती हुई महल के ऊपर चढ़ रही थी। छत पर चढ़कर देखती हुई किसी रमणी का दुपट्टा वायु के वेग से उड़कर पताका सदृश सुशोभित हो रहा था। कोई रमणी भगवान् को निर्निमेष दृष्टि से देख रही थी, कोई

---

1. शि.व. 13/18
2. शि.व. 13/19-23
3. तनुभिस्त्रिनेत्रनयनानवेक्षितस्मरविग्रहद्युतिभिरद्युतन्नराः।
   प्रमदाश्च यत्र खलु राजयक्ष्मणः परतो निशाकरमनो रमैर्मुखैः।। शि.व. 13/29
4. शि.व. 13/30

कान खुजलाने के व्याज से अपना भव अभिव्यक्त कर रही थी, कोई अपनी अङ्गुलि को हिलाकर उन्हें बुला रही थी।[1] इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने पहले ताजे सुगन्ध युक्त पानी के छिड़काव से धूलिरहित की गयी, तदनन्तर अत्यधिक धूप के धुएं से धूलि के भ्रम को उत्पन्न करती हुई और अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे ध्वजाओं पर उड़ते हुए वस्त्रों वाली इन्द्रप्रस्थ नगर की गलियो को पार किया।[2] मय नामक असुर ने वृषपर्वा के सुन्दर मणिमय काष्ठ को हिमाचल के बिन्दुसरोवर से लाकर जिस (सभा) को रचा था, इन्द्रपुरी की शोभा को तिरस्कृत करने वाली (युधिष्ठर की) उस सभा में श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया।[3]

तत्पश्चात् माघकवि सभा का वर्णन करते है-"जिस समय श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के सभास्थल में पहुंचे, उस समय की शोभा अमरावती की शोभा को भी तिरस्कृत कर रही थी।" इन्द्रप्रस्थ नगर के राजप्रासाद पद्मराग मणि से निर्मित थे और उसके मध्य में इन्द्रनीलमणि शोभित हो रही थी। चांदनी में भी स्फटिक मणि से निर्मित महलों की प्रथा का एकीभाव हो जाने से लोग अन्धकार के समान ही हाथ से स्पर्श कर आगे बढ़ते थे। नागमणियों के सामीप्य होने से बार-बार ऊपर उठकर मेंघो के गर्जन से जिस सभा के आंगन की भूमि नये वैदूर्य मणि के उत्पन्न होने वाले अङ्कुरों से युक्त हो जाती थी।[4] उस सभास्थल में नलिनीपत्रों से पानी आच्छादित हो गया था, अतएव उस स्थान को स्थल समझकर, दुर्योधन के गिर जाने पर वायुपुत्र भीमसेन के अट्टहास से क्षुब्ध हुए सम्पूर्ण राजाओं के नाश का वह कारण बनी। वहां इन्द्रनीलमणियों की फैलती हुई किरणों से सूखी हुई भूमि को भी जलपूर्ण समझकर भीगनें के भय से वस्त्रों को उठाकर नवागन्तुक चल रहे थे।[5] इस प्रकार के अद्भुत सभास्थल में पहुंचने के पश्चात् देदीप्यमान तेजोमण्डल से शोभमान शरीरवाले नेत्रानन्ददायक श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर सभा के सामने (आगे) उस प्रकार रथ से उतरे, जिस प्रकार निर्मल किरण-समूह से शोभमान आकृति वाले नेत्रानन्ददायक चन्द्रमा तथा शुक्र आकाश के सम्मुख उदयाचल से उदित

---

1. शि.व. 13/31-48
2. शि.व. 13/49
3. उपनीय बिन्दुसरसो मयेन या मणिदारू चारू किल वार्षपर्वणम्।
   विदधेऽवधूतसूरसद्मसम्पदं समुपासदत्सपदि संसदं सताम्।। शि.व. 13/50
4. शि.व. 13/58
5. शि.व. 13/59-60

होते है। रथ से उतरने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने रत्नमयी दीवारोवाली तथा स्फटिक मणियों के किरण-समूह से प्रतीत होते हुए द्वारवाली उस सभा में धीरे से प्रवेश किया। यदुनन्दन को पाकर वह पाण्डवकुल अत्यन्त आनन्दित हुआ तथा हर्षातिरेक में धर्मराज युधिष्ठिर ने उस नगर में श्रीकृष्णागमन के उपलक्ष्य में निरन्तर उत्सव का आदेश दे दिया। नन्दनन्दन ने वहां गुरुकुल में बालक से बड़े तक का नाम लेकर उनका कुशल पूंछा, यह उनके अनुरूप ही था क्योंकि बड़े भारी ऐश्वर्य को पाकर भी अहङ्काररहित सज्जन कभी कुछ नहीं भूलते।

साभिनन्दन यज्ञारम्भ

सिंहासनारूढ़ श्रीकृष्ण का आतिथ्य करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा, हे भगवन्! यह आपके ही सामर्थ्यातिशय का प्रसाद है, जो यह सम्पूर्ण भारतवर्ष आज मेरे वश में स्थित है। मै इस समय यज्ञ करना चाहता हूं, आप आज्ञा देकर मुझे अनुगृहीत कीजिए क्योंकि हे प्रभो! आपके प्रधान बनने पर धर्ममय वृक्षत्व को मैने प्राप्त किया है।[1]

पुनश्च युधिष्ठिर कहते है कि-"दोषहीन यज्ञ करने का इच्छुक मै सम्पूर्ण यज्ञ सामग्रियों को एकत्रित कर आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूं। इस समय आपके सान्निध्य से मेरा यज्ञ निर्विघ्न सम्यक् प्रकार से पूर्ण हो जायेगा जो सम्पत्ति मुझे धर्मपूर्वक मिली है, उसे मैं सत्पात्रों को देना चाहता हूं। आपके अनुग्रह से विजय में मिली हुई धन-सम्पत्ति से क्या करना चाहिए? इसे हे तीनों लोकों के शासन करने वाले आप मुझे शासित कीजिए।" धर्मराज युधिष्ठिर के वचन सुनने के अनन्तर नन्दनन्दन ने कहा, हे राजन्! मै आपके शासन में रहता हुआ कठिनतम आज्ञा का पालन करने को सर्वदा तत्पर हूं, आप मुझे धनञ्जय से भिन्न मत समझिये। जो राजा आपके यज्ञ में बतलाये हुए कार्य को भृत्यवत् बनकर नहीं करेगा, उसके शिर को मेरा यह सुदर्शन चक्र पृथक कर देगा।[2]

इस प्रकार युधिष्ठिरोक्त '**वीतविघ्नम्.....**' वचन का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने

---

1. सप्ततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः कुर्वनुग्रहमनुज्ञया मम।
   मूलतामुपगते प्रभो त्वयि प्रापि धर्ममयवृक्षता मया।। शि.व. 14/6
2. यस्तवेह सवने न भूपतिः कर्मकरवत्करिष्यति।
   तस्य नेष्यति वपुः कबन्धतां बन्धुरेव जगतां सुदर्शनः।। शि.व. 14/16

युधिष्ठिर को अभयदान दिया। उनके ऐसा कहने पर महाराजा युधिष्ठिर सर्वसमृद्ध यज्ञकर्म में प्रवृत्त हो गये।[1] तदनन्तर माघकवि यज्ञ का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं-"मुख से चन्द्रमा की शोभा धारण करते हुए, ज्ञान से काम तथा क्रोध को नष्ट किये हुए और नदी के निर्मल जल से स्नान किये हुए युधिष्ठिर सिर पर चन्द्रकला को धारण करती हुई, देखने से कामदेव के शरीर को नष्ट की हुई और गङ्गाजी के निर्मल जल के प्रवाह से आर्द्र अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और यजमान इत्यादि आठ मूर्तियों को धारण करने वाले शिवजी की 'यजमान' नाम की आठवीं मूर्ति हुए।" वैदिक लोग सामवेदादि पढ़ने लगे। द्रौपदी के हविष्यादि यज्ञसामग्री के निरीक्षण करने से संस्कार प्राप्त हविष्य को ऋत्विज अग्नि में हवन करने लगे। दिङ्मण्डल को धूमिल करता हुआ अग्निधूम आकाश की आरे बढ़ने लगा। समुद्रमन्थन से उत्पन्न अमृत का भोजन करने वाले देवगण मन्त्रपूर्वक अग्नि में छोड़े गये हविष्यरूप अमृत का भोजन करने के लिए उतावले हो उठे। सभी आवश्यक सामग्रियों के सर्वदा प्रचुर मात्रा में वर्तमान रहने से उस यज्ञ में किसी भी सामग्री का प्रतिनिधि द्रव्य नहीं लिया जाता था।[2] इस प्रकार यज्ञ समाप्त होने पर धर्मराज ब्राह्मणों को यथेच्छ यज्ञ दक्षिणा देकर सन्तुष्ट कर रहे थे और उधर युधिष्ठिर को उपहार में अमूल्य रत्न देने के लिए नृपगण बाहर खड़े होकर उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।[3]

उस समय राजा युधिष्ठिर ने किसी भी याचक को अनादर की दृष्टि से नहीं देखा और अविलम्ब ही याचक को उसकी याचनानुसार तत्काल दे दिया, थोड़ा नही दिया अपितु अधिक देकर भी अपनी प्रशंसा नहीं की और याचक की इच्छानुसार देकर भी पश्चात्ताप नहीं किया।[4] एक राजा के द्वारा उपहार में दी हुई धनराशि ही यज्ञकार्य को पूरा करने के लिए पर्याप्त थी, किन्तु युधिष्ठिर ने सभी राजाओं के द्वारा दिये हुए अमूल्य उपहारों को दान कर ब्राह्मणों को दे दिया। धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में धन की इच्छा से आया हुआ पुरुष बिना धन प्राप्त किये नहीं गया, रोग की चिकित्सा कराने की इच्छा से आया हुआ पुरुष बिना चिकित्सा कराये

---

1. शि.व. 14/17
2. शि.व. 14/18-52
3. मृग्यमाणमपि यद् दुरासदं भूरिसारमुपनीय तत्स्वयम्।
   आसतावसरकाङ्क्षिणो बहिस्तस्य रत्नमुपदीकृतं नृपाः।। शि.व. 14/39
4. शि.व. 14/45

नहीं गया और खाने की इच्छा से आया हुआ पुरुष बिना भोजन किये नहीं गया गुणपक्षपाती होकर भी दान के समय धर्मराज याचक को गुणी या निर्गुण नहीं गिनते थे। इस प्रकार यज्ञानुष्ठान के यथाक्रम चलते रहते युधिष्ठिर ने अर्घ्यदान या सदस्यपूजा का लक्ष्य कर शान्तनुपुत्र भीष्मपितामह से पूंछा। भीष्मपितामह ने वहां आये सभी राजाओं को इसके सर्वथा योग्य बताया किन्तु उनमें सर्वश्रेष्ठ गुणवत्तम यदुनन्दन को निर्दिष्ट किया और उनकी सावतार ईश्वरता का वर्णन भावुक शब्दों में किया। भीष्मपितामह ने कहा 'इस ब्राह्मण-क्षत्रिय समुदाय में श्रीकृष्ण ही सर्वाधिक गुणसम्पन्न है' इसके पुष्ट्यर्थ वे सर्गान्त तक उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं 'दैत्यों एवं दानवों को नम्र करने वाले इनको तुम केवल मानव मात्र मत जानों, क्योकि ये श्रीकृष्ण जनसमूहातिशायी एवं प्रत्येक जन में स्थित परमात्मा के अंश हैं[1]। ये श्रीकृष्ण रजोगुण का आश्रयकर संसार की रचना करते हुए ब्रह्मा, सत्त्वगुण का आश्रयकर संसार को स्थिति पर रखते हुए विष्णु और तमोगुण का आश्रयकर संसार का संहार करते हुए हर (शिव) कहलाते हैं, अत: तीन गुणों से त्रैविध्य धारण करते हैं।[2] तत्पश्चात् भीष्मपितामह श्रीकृष्ण के स्वरूप तथा मनुष्य देह से सम्बन्ध होने का कारण कहते हैं। मुमुक्षु जन संसार में जन्म लेकर फिर नहीं लौटने के लिए दु:ख से प्राप्य एवं एकमात्र सर्वथा स्वतन्त्र श्रीकृष्ण में लगाये हुए चित्त से प्रवेश करते है। शान्तनु पुत्र ने यदुनन्दन के विविध वामन, वराह आदि अवतारों का वर्णन कर उनकी महिमा को उद्घाटित किया। भीष्मपितामह श्रीकृष्ण की स्तुति करने के उपरान्त युधिष्ठिर के प्रति कर्तव्य का उपदेश करते हैं- 'जिन श्रीकृष्ण की विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले लोग यज्ञों में दूर से भी पूजा करते हैं वे श्रीकृष्ण स्वयं तुम्हारे सामने है, अतएव हे युधिष्ठिर तुम धन्य हो। पूज्य इनके लिए अर्घ देकर संसार-समूह के रहने तक कल्पात तक साधुवाद प्राप्त करो।[3]

इस प्रकार यज्ञ के अन्त में भीष्मपितामह की आज्ञा से ब्राह्मणों तथा राजाओं के समुदाय में सर्वगुण सम्पन्न ब्रह्म के अंश, योगियों के ध्येय एवं सृष्टिपालन संहार करने वाले सर्वज्ञ, भूभारहर्ता, पञ्चमहाक्लेशों से रहित, कर्मफल से असम्पृक्त, पुराणपुरुष श्रीकृष्ण को प्रथमार्घ देकर धर्मराज युधिष्ठिर ने यज्ञ सम्पन्न किया।

---

1. शि.व. 14/59
2. शि.व. 14/61
3. धन्योऽसि यस्य हरिरेष समक्ष एव, दूरादपि क्रतुषु यज्वभिरिज्यते यः।
   दत्वार्घमत्रभवते भुवनेषु यावत्, संसारमण्डलमवाप्नुहि साधुवादम्।। शि.व. 14/87

शिशुपाल का मात्सर्य

धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञसभा में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा (सत्कार) को चेदिनरेश शिशुपाल सहन नहीं कर सका क्योंकि अभिमानियों का मन दूसरे की समृद्धि में मात्सर्ययुक्त होता है। अतिनिष्ठुर क्रोध से आंसू गिराता हुआ, क्रोध की अधिक उष्णता से पसीना बहते हुए विशाल कपोलमण्डलवाला तथा पसीने के जलकणों से भयानक बाहुवाला शिशुपाल तीन प्रकार से मद को प्रवाहित करने वाले मतवाले हाथी के समान प्रतीत होने लगा।[1] घनगर्जन करता हुआ, व्यथा से रहित, शिशुपाल ने पहले शरीर जन्य विकार से उत्पन्न पल्लव वाले एवं भविष्य में होने वाले युद्धरूप फलवाले, क्रोध को बढ़ाते हुए युधिष्ठिर के प्रति कटुवचन कहा- हे पृथा पुत्र युधिष्ठिर! सज्जनों से पूजा को नहीं प्राप्त करते हुए मुरारि की जो तुमने पूजा की है इससे तुम्हारा इनके प्रति अत्यधिक स्नेह प्रकट होता है, लोग गुणहीन भी प्रियजन को गुणवान् मानते हैं, अहो आश्चर्य है कि तुमनें इस कृष्ण की पूजा प्रेमाधिक्यवश की है, इसके अधिक गुणी होने से नहीं। तुम्हें लोग झूठे ही धर्मराज कहते हैं। हे पृथापुत्र! यदि किसी कारण से यह कृष्ण ही तुम लोगों का पूज्यतम अभीष्ट था तो अपमान करने के लिए अन्य नरेशों को क्यों निमन्त्रित किया?[2] फिर उसने शान्तनुपुत्र भीष्मपितामह को दुर्वचन कहा- हे मूर्खो अत्यन्त दुर्बोध धर्म को न जानने वाले अबोध होने के कारण यदि तुम लोगो को धर्म का स्वरूप विदित नहीं है तो इस बूढ़े भीष्म को तो अवश्य ज्ञात होना चाहिए था, किन्तु यह भी सठिया गया है, अधिक वृद्ध होने से बुद्धिहीन हो गया है।[3] हे भीष्म! सत्य है कि तुम निम्नगा (नीचगामिनी) गङ्गा के पुत्र हो। इस प्रकार युधिष्ठिर तथा भीष्म को अपमानित कर वह श्री कृष्ण से कहनें लगा- कृष्ण! राजोचित पूजा को स्वीकार करना तुम्हें उचित नहीं था, तुम्हें सोचना चाहिए कि मै कौन हूँ? तुमने मधुमक्खियों को मारकर मधुसूदन नाम प्राप्त किया है, मगधराज जरासन्ध से अट्ठारह बार पराजित होकर भी बलरामजी के साथ रहने से तुम बलवान कहलाते हो। सत्यभामा तुम्हें अतिशय प्रिय है अतएव तुम 'इष्टसत्य' कहलाते हो, शत्रुपक्ष पीड़ित अपनी सेना की रक्षा में असमर्थ होकर लोक में ख्याति के लिए भारभूत चक्र को धारणकर 'चक्रधर' कहलाते हो। विवेकहीन कृष्ण! गुणहीन तुम्हारी यह पूजा केशहीन मस्तक में कंघी

1. शि.व. 15/4
2. शि.व. 15/18
3. शि.व. 15/19

फेरने के समान हास्यकारक है[1]। इस प्रकार कटूक्तियों से श्रीकृष्ण को अपमानित कर शिशुपाल सभा में उपस्थित नृपगणों से कहने लगा-"सिंह के समान आप लोगों के उपस्थित रहनें पर इस गीदड़ के समान कृष्ण की अग्रपूजा से क्या आप लोगों का अपमान नहीं हुआ है?" वृषासुरादि के वध को पापकर्म बतलाते हुए शिशुपाल कहता है-"पुण्यहीन इस कृष्ण ने चण्डाल के समान यदि वृषासुर को मारा है तो गोहत्या करने से अपवित्र शरीरवाला यह स्पर्श करनें योग्य भी नहीं है, फिर राजोचित पूजा के योग्य कैसे हो सकता है? पूतना का वध करते समय उसे स्त्री समझकर यदि इसे दया नहीं आयी तो न सही, किन्तु दूध पीने से वह इसकी धर्मानुसार माता हो गयी थी, फिर भी इसने उसका वध कर दिया। शिशुपाल श्रीकृष्ण द्वारा किये गये शकटासुरवध, यमलार्जुनभङ्ग और गोवर्धन धारण आदि की लघुता बताते हुए कहता है- 'जो इसने शकट उलट दिया, यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ दिया एवं छोटे से गोवर्धन पर्वत को धारण कर लिया, इसमें शूरवीरों को कोई आश्चर्य नहीं होता। कार्याकार्य के विवेक से शून्य होने के कारण नृपशु पशुतुल्य मनुष्य यह कृष्ण उग्रसेन के पुत्र कंस की गायों को चराने वाले इसने जो स्वामिवध (कंस) किया, क्या यह आश्चर्य नहीं है? इस प्रकार कहकर वह (शिशुपाल) नरकासुर के साथ ताली बजाकर जोर से हंसा।[1] श्रीकृष्ण शिशुपाल के कटु वचन से भी क्षुभित नहीं हुए तथा चेदिनरेश के इन नये अपराधों को मन ही मन गिन रहे थे। किसी यादव नरेश ने वहां अपनी प्रतिक्रिया का अनुवर्तन करते है। किन्तु शिशुपाल के इस प्रकार परुष वचन बोलने पर भीष्मपितामह कहते है-"मेरे द्वारा इस सभा में की गयी श्रीकृष्ण की पूजा को जो नहीं सहन कर सकता वह व्यक्ति युद्ध करने के लिए धनुष चढ़ावे, सब राजाओं के मस्तक पर मेरा पैर रखा है।[2]"

इस प्रकार भीष्मपितामह के चुनौतीपूर्ण कहे गये वचन के अर्थ को प्राप्त हुए के समान शिशुपाल के पक्षपाती राजाओं का समुदाय (इसके बाद) क्षणमात्र में अत्यधिक क्षुब्ध हो गया। बाण, द्रुम, वेणुदारी, उत्तमौजा, दन्तवक्र, रुक्मी, सुबल, कालयवन, वसु आदि नृपगण कोप से उच्छृंखल हो उठे। इसी समय क्रोध से फुफकारता हुआ सर्प के समान लम्बी सांस लेता हुआ शिशुपाल बोल उठा- हे राजाओं ! इन जारज पाण्डवों तथा नपुंसक होने से स्त्रीकल्प भीष्म

1. शि.व. 15/39
2. विहितं मयाद्य सदसीदमपमृषितमच्युतार्चनम्।
   यस्य नमयतु स चापमयं चरणः कृतः शिरसि सर्वभूभृताम्।। 15/46

के साथ कंस के दास कृष्ण को क्यों नहीं अभी मार डालते ? अथवा आप लोग ठहरें, मै इस कृष्ण को शीघ्र ही बाणों से बेधकर मार डालता हूँ। ऐसा कहकर वह अपनें शिविर में जाकर निडर हो शीघ्र ही सेना को सुसज्जित करनें लगा। शिशुपाल के शिविर में रणदुन्दुभि बजते ही लोग इधर-उधर दौड़ने लगे, शूरवीरों ने कवच धारण कर लिया, सेना के घोर गर्जना से क्रुद्ध एवं मदोन्मत्त हाथियों, घोड़ों तथा रथों को लोगों ने युद्धार्थ सुसज्जित किया ओर वे इधर-उधर भयाक्रान्त हो दौड़ने लगे। क्षणभर में वह सारा स्थान विचलित तारामण्डल वाले आकाश के सदृश हो गया। युद्धोत्साह बढ़ाने के लिए शिशुपाल के शूरवीर अपनी-अपनी रमणियों के साथ मद्यपान करने लगे। रमणियां अपने-अपने प्रियतमों को युद्धस्थल में जाने से रोक रही थीं। कोई रमणी अपने प्रियतम से कह रही है- धूर्त! तुम स्वर्गीय अप्सराओं के साथ रमण करने की इच्छा से मरने के लिए युद्ध में जा रहे हो ऐसा कहकर उसे युद्ध में जाने से रोक रही थीं। रमणियां युद्ध में जाते समय अपने पति का पुनः दर्शन नहीं पाने की आशङ्का से कांप रही थी। युद्ध में प्रयाण करने वाले शिशुपाल-पक्षीय शूर वीरों को पहले से ही नानाविध अपशकुन होने लगे।

शिशुपाल दूतवाक्य

युद्धोन्मुख चेदिनरेश शिशुपाल के द्वारा भेजा हुआ वाग्मी दूत श्रीकृष्ण की सभा में आकर परुष और कोमल अर्थवाले द्वयर्थक श्लिष्ट वचन कहने लगा- युधिष्ठिर की सभा में आपको अप्रिय वचन कहकर खिन्न शिशुपाल आपका आतिथ्य करना चाहता है,[1] (अथवा मैने कृष्ण को अपमानित करके ही छोड़ दिया, मारा नहीं, ऐसा सोचता हुआ वह आपका वध करना चाहता है।) वह समस्त राजाओं के साथ प्रणत होकर आपका आज्ञाकारी बनेगा क्योंकि वह इस समय आपके अधीन है, (अथवा आपको छोड़कर, सब राजाओं से प्रणत वह यहां आकर तुम्हें दण्डित करेगा)। सूर्य और चन्द्रमा के समान तेजस्वी, वशीकृत चित्तवाले कर्मसमर्थ आपको कौन राजा प्रणाम नहीं करता, (अथवा अग्नि में फतिंगे के समान तेज पुरुषार्थ वाले, निश्चितरूप से अपना विनाश करनें में समर्थ कार्य करने वाले और सबके वशवर्ती तुम्हारा प्रणाम किस गुण से राजा लोग करेंगे?) कृष्णजी! निर्भय शत्रुओं से पीड़ित अपने जन-समुदाय की रक्षा करते हैं, अतएव मनुष्यों के असमान अर्थात् मानवातीत महिमा वाले आपके गुण असंख्यता को प्राप्त

1. शि.व. 16/2-15

करते हैं, (अथवा हे मलिन! मूढ़मुद्धि तुम जिस कारण दूसरों से तिरस्कृत नीचता का अवलम्बन करते हो, उस कारण मनुष्यों के भी ही तुम्हारे गुण गिनती में नहीं आते)। इस प्रकार विविध प्रकार के द्वयर्थक कटु वचन कहकर दूत के चुप हो जाने पर श्रीकृष्ण का संकेत पाकर सात्यकि कहने लगे- हे दूत! प्रत्यक्ष में मधुर तथा परोक्ष में कटु वचन कहने वाले वाले तुम जैसे अधम प्राणियों से सदैव सचेत रहना चाहिए। सात्यकि ने शिशुपाल के वाग्मी दूत को अपमानित करते हुए शिशुपाल को दोषी बताते हुए कहा-"यदि राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की पूजा की तो इसमें तुम्हारे राजा को क्यों ईर्ष्या है? शिशुपाल को ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।[1] समान गुणवाला महान् अपने समान गुणवाले व्यक्ति के सत्कार को नहीं सहन कर सकता, अतः शिशुपाल का श्रीकृष्ण-पूजन से ईर्ष्या करना उचित ही है, ऐसा तुम्हें नहीं सोचना चाहिए, क्योंकि शिशुपाल तथा श्रीकृष्ण में आकाश-पाताल का अन्तर है, यह कहने के अनन्तर, सात्यकि सज्जन तथा दुर्जन का भेद बतलाते हुए कहते हैं-"अत्यन्त तुच्छ व्यक्तियों का हृदय अत्यन्त तुच्छ होता है क्योंकि वे लोग हृदय में स्थित अप्रिय को शीघ्र ही बाहर निकाल देते हैं और मनीषी लोग यथाकथञ्चित् उत्पन्न भी उस हृदय में स्थित अप्रिय को बाहर प्रकाशित नहीं करते यह आश्चर्य है।" सज्जन स्वभाव से ही दूसरों के उपकार करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं तथापि उन सज्जनों की उन्नति दुर्जनो को सर्वदा सन्तप्त करने वाली होती है[2]। सात्यकि शिशुपाल के वाग्मी दूत से कहता है- वह चेदिनरेश शिशुपाल नरकान्तक श्रीकृष्ण को जिस विधि से (मित्ररूप में या शत्रुरूप में) देखने के लिए आना चाहता है, उसके योग्य उत्तर दिया जायेगा।[3] युद्धारम्भ करने पर शिशुपाल का ही अनिष्ट होगा, इस बात को सात्यकि दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं-' विपरीत बुद्धि वाला बड़ो का बलपूर्वक उल्लंघन करता हुआ अपने ही दोष से नष्ट हो जाता है क्योंकि तीव्र ज्वालायुक्त अग्नि फतिङ्गे को अपनी इच्छा से नहीं जलाता अपितु वे अपने ही अपराध से जल जाते हैं।[4] यदि तुम अब और परुष वचन बोलोगे तो तुम्हे कठोर दंड भोगना पड़ेगा।[1] दोषों से निर्दोष (सत्यवक्ता) 'शिनि' नामक यदुवंशीय राजा के पौत्र

1. शि.व. 16/20
2. शि.व. 16/21-22
3. शि.व. 16/33
4. शि.व. 16/35

सात्यकि के बलयुक्त उस वचन को सुनकर शत्रुओं का संदेश पहुँचाने वाला वाग्मी दूत पुनः निर्भयता पूर्वक बोला- बुद्धिहीन नीच स्वयं अपना हित नहीं समझता यह ठीक है, किन्तु जो दूसरों से कहे जाने पर भी अपना हित नहीं समझता यह बड़ा आश्चर्य है।[2] कृष्ण! मैंने आपके हित के लिए ही उक्त वचन कहे हैं। मांसप्रिय सिंह के द्वारा छोड़ी गयी गजमुक्ता के समान युधिष्ठिर से अपूजित भी चेदिनरेश का महत्व कम नहीं हुआ है। सहस्र अपराधो को सहन करने वाले आपका रुक्मिणीहरणरूप एक ही अपराध क्षमाकर शिशुपाल आपसे आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने युद्धार्थ यादवों को ललकारनें के लिए मुझे भेजा है क्योंकि शूरवीर चोरों के समान कपटपूर्वक शत्रुओं पर आक्रमण नहीं करते। वाग्मी दूत कृष्णजी से अपने आने का प्रयोजन कहकर आत्मरक्षा करने का उपदेश देते हुए कहता है- जल के प्रवाह के समान नहीं रोका जाने वाला यह राजा शिशुपाल तुम्हारे ऊपर आक्रमण करनें के लिए आ रहा है, अतएव अब तुम शीघ्र बेंत के समान नम्र हो जाओगे।[3] शिशुपाल को मित्रलोग आह्लादक होने से चन्द्रमा तथा शत्रुगण सन्ताप कारक होने से सूर्य समझते है; जिस प्रकार कुशल ऐन्द्रजालिक के द्वारा दृष्टि में विभ्रम युक्त किये गये कुछ मनुष्य एक ही रस्सी आदि को माला समझते है और अन्य सर्प समझते है उसी प्रकार चेदिनरेश स्वयं अकेले ही अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ लड़ सकते हैं। आप इन्द्र के अनुज उपेन्द्र हैं तो वे इन्द्र को जीतनेवाले हैं। इस प्रकार विविध उपमा देकर चेदिनरेश के ओज का वर्णन करता हुआ वाग्मी दूत अन्त में कहनें लगा कि श्रीकृष्ण! सूर्य का तेज लोकालोक पर्वत का उल्लंघन नहीं कर पाता किन्तु, हमारे राजा शिशुपाल का विश्वव्यापी तेज महाप्रतापी भूभृतों का अतिक्रमण कर जाता है।[4] अधिक ऐश्वर्यवान् वह शिशुपाल युद्ध में तुम्हें शीघ्र ही मारकर रोती हुई तुम्हारी रमणियों के करुणा से आर्द्रचित्त होकर बच्चों की रक्षा करके अपने 'शिशुपाल' नाम को यथार्थ (अवयवार्थ घटित) कर लेगा।

---

1. शि.व. 16/36
2. शि.व. 16/39
3. शि.व. 16/53
4. शि.व. 16/83

श्रीकृष्ण सभाक्षोभ एवं युद्ध प्रस्थान

शिशुपाल के वाग्मी-दूत के प्रलयकाल में क्षुब्ध वायु के समान गम्भीर वचन को सुनकर महाप्रलय के लिए उद्यत श्रीकृष्ण की सभा समुद्र के समान तत्काल क्षुब्ध हो गयी।[1] सभास्थित सभी राजाओं के शरीर क्रोध से रक्तवर्ण हो गये, पसीना बहने लगा, वे क्रोधावेश में जंघाओं पर ताल ठोकने लगे और अधरों को दांतो से काटने लगे। गद, बलराम, उल्मुक, युधाजित, निषध, आहुकि प्रद्युम्न पृथु, अक्रूर, प्रसेनजित, गवेषिण, शिवि, शारण तथा विदूरथ आदि वीरों ने अपने-अपने क्रोधानुभावों को विभिन्न रूप से व्यक्त किया। दूत की कटूक्तियों से राजाओं के क्षुब्ध होने पर भी श्रीकृष्ण तथा उद्धवजी शान्त ही बने रहे। यह बात इस प्रकार कही गयी है कि-"शत्रु के दूत के कटुवचनों से सभासदों के क्षुब्ध होने पर भी श्रीकृष्ण का मन क्षुब्ध नहीं हुआ जैसे नदी के जल को बढ़ाने वाले मेघों से समुद्र का जल मलिन नहीं होता।[2]" दूसरों की निन्दा करते हुए ये दुष्ट जो आत्मीय जनों की स्तुति करते हैं, यह उनका स्वभाव ही है इस कारण विकार रहित उद्धवजी के मुस्कुराते रहने से शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान मनोहर मुख को क्षोभयुक्त नहीं किया किन्तु वे पूर्ववत् प्रसन्न मुद्रा में ही रहें, क्योंकि बड़े लोग निन्दा य प्रशंसा से विकृत नहीं हुआ करते।[3]

श्रीकृष्ण की सभा में इस प्रकार यादवों से तिरस्कृत होकर दूत के चले जाने पर बजने से भयङ्कर दुन्दुभि वाली यदुनन्दन की सेना क्षण मात्र में युद्ध के लिए तैयार हो गयी[4]। युद्धवार्ता से हर्षित यादव शूरवीरों ने कवच धारण कर लिये और हाथियों, रथों एवं घोड़ो को युद्धोपयुक्त सज्जा से सुसज्जित करने के लिए बार-बार प्रेरित करने लगे। योद्धाओं के सुसज्जित हो जाने के पश्चात् स्वभावतः सुन्दर तथा युद्धों में भयङ्कर दिखायी देने वाले अधिदेवताओं से युक्त उस समय श्रीकृष्ण सर्वदा साथ रहने वाले अपने शरीर के समान शार्ङ्ग धनुष कौमोद की गदा, नन्दक खड्ग आदि आयुधों से सेवित हुआ।[5]

1. शि.व. 16/83
2. शि.व. 17/18
3. परानमी यदपवदन्त आत्मनः स्तुवन्ति च स्थितिरसताम् सावििति।
   निनाय नो विकृतिमविस्मितः स्मितं मुखं शरच्छशधर मुग्धमुद्धवः।। शि.व. 17/19
4. शि.व. 17/20
5. मनोहरैः प्रकृतमनोरमाकृतिर्भयप्रदैः समितिषु भीमदर्शनैः।
   सदैवतैः सततमथानपायिभिर्निजाङ्गवन्मुरजिदसेव्यतायुधैः।। शि.व. 17/26

विविध आयुधों के सेवा में उपस्थित होने के पश्चात् श्रीकृष्ण दोनो प्रकार के राजाओं के शिविरों में तथा पर्वतों के मध्यभागों में अनेक बार बिना रुकावट के प्रविष्ट हुए तथा बार-बार युद्ध में देवशत्रुओं के रक्त से भीगे हुए नेमि वाले रथपर आरूढ़ हुए।[1] उनकी सेना भी अग्रसर होने लगी। सेना में हाथी चिग्घाड़ने लगे, नगाड़े आदि बजनें लगे, घोड़े हिनहिनाने लगे, उनकी प्रतिध्वनियों से नभोमण्डल विदीर्ण हो रहा था। कन्दराओं में सोये हुए सिंह निकलकर भाग रहे थे। दिशाएं धूलि-धूसरित हो रही थीं। शत्रुपक्षीय नगाड़ो की ध्वनि सुनकर वीर अधिक उत्साहित हो रहे थे। शत्रुसेनाओ को देखते ही श्रीकृष्ण के सैनिक आकाश में मेघ की छाया के समान सर्वत्र समान रूप से फैल गये। प्रलयकाल में त्रिभुवन को उदर में धारण करने वाले श्रीकृष्ण ने शत्रुसेना को देखते ही उसकी संख्या का अनुमान कर लिया। शिशुपाल पक्ष के सैनिकगण यादव-सैनिकों को देखते ही अपने-अपनें अस्त्र-शस्त्रों को शीघ्रता से उठाकर उनकी ओर तेजी से बढ़ने लगे तथा श्रीकृष्ण के सैनिक भी शत्रुओं के सम्मुख अत्यन्त वेग से बढ़े। समराङ्गण में नृपगण पहने हुए कवचों में जड़े गये मणियों की फैलती हुई किरणरूपी दृढ़तम छिद्ररहित कवचों से निरन्तर बाण-समूहों से विंधे हुए के समान शोभते थे।[2] सेना के द्वारा उड़ायी गयी धूलि मेघ-समूह से भी ऊपर चली गयी। वीर राजाओं के सिर पर धूलि पड़ने से उनके केश भ्रमर-समूह के समान काले होने पर भी पके हुए (स्वेत) के समान शुभ्र हो गये तथा सूर्यबिम्ब भी छिप गया। सेना के द्वारा उड़ायी गयी धूलि से दिशाऐ दृष्टिगोचर नहीं होती थी। पर्वतकन्दराओं में धूलि-समूह फैल जाने से वहां अंधेरा हो गया। देवसमूह, युद्धारम्भ में राजाओं के पराक्रम को देखने के लिए कौतुक से आकाश में आकर धलि-समूह के निमेषरहित नेत्रकमल को पीड़ित करने वाले होने पर वहां से चले गये।[3] धूलि-समूह से कुछ नहीं दिखलायी पड़नें पर भी हाथी मदजल की गन्ध सूंघकर प्रतिद्वन्द्वी हाथियों के साथ लड़ने के लिए आगे बढ़ रहे थे। मुख आदि सात स्थानों से मदक्षरण करनेवाले हाथियों के ऊपर फैला हुआ धूलि-समूह चंदोवा जैसा प्रतीत हो रहा था।[4] पर्वत के समान विशालकाय हाथी मदजल की धारा से धूलि को धो रहे थे।

---

1. शि.व. 17/27
2. शि.व. 17/51
3. शि.व. 17/62
4. शि.व. 17/68

तुमुल युद्ध

युद्ध से विमुख नहीं होने वाले तथा गम्भीर ध्वनिवाले श्रीकृष्णपक्षीय एवं शिशुपालपक्षीय दोनों सेना समुद्र पंख कटने से पहले एक स्थान पर निवास करने के लिए चाहते हुए विन्ध्य तथा सह्य पर्वत के समान सहसा परस्पर मिल गये। पैदल सेना पैदल से, अश्व अश्व से, गज गज से, रथारोही रथारोही से भिड़ गये। इस प्रकार सेना ने युद्ध के अनुराग से शत्रु के सेनाङ्गों को अपने पैदल आदि सेनाङ्गों से उसी प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार कोई रमणी प्रियतम के साथ रतिविषयक अनुराग से उसके हाथ-पैर आदि प्रत्येक अङ्गों को अपनें हाथ-पैर आदि अङ्गो से प्राप्त करती है।[1] क्रोधावेश में समीप आये हुए कोई दो वीर हाथियों को छोड़कर परस्पर मल्लयुद्ध कर रहे थे। बन्दीगण उत्साह वर्धनार्थ योद्धाओं का नाम ले-लेकर उनकी वीरगाथा का गान कर रहे थे। शत्रु के द्वारा तीक्ष्ण किये गये धार से विपक्षी मेघ के समान श्यामल कवच के काटे जाने पर रक्तरेखायुक्त तलवार का प्रहार विद्युत के समान कौंध रही थी। नाक से छाती तक बाण के घुसने से अश्व हिनहिनाते हुए परेशान हो रहे थे। कोई एक शूरवीर चतुर्दिक प्रसृत तरङ्ग के समान सेनाओं को इधर-उधर करता हुआ युद्ध प्राङ्गण में कहीं दूर गये हुए इष्ट बान्धव को खोजता हुआ उस प्रकार घूमने लगा, जिस प्रकार चारो ओर फैली हुई तरङ्गों को इधर-उधर हटाते हुए कहीं दूर तक डूबे हुए भूमण्डल को खोजते हुए आदिवराह भगवान् समुद्र में भ्रमण करते थे।[2] कोई गज प्रतिद्वन्द्वी गज के शरीर में प्रविष्ट अपने दांतो को बार-बार गर्दन हिलाकर अत्यन्त कठिनता से निकाल रहा था। रक्त के संसर्ग से लाल-लाल उनके दांत समुद्र में उत्पन्न होने वाले प्रवालांकुर के समान शोभित हो रहे थे। कोई हाथी किसी वीर को उठाकर जमीन पर पटककर और कोई दूसरे वीर को लकड़ी के समान बीच से चीर रहा था। युद्धभूमि में बार-बार रक्त गन्ध के सूंघने से उन्मत्त गजराज; क्रोध से लोगों का मर्दन करता हुआ पैर में फंसी हुई पांस के समान उनकी अंतड़ी को पैर में फंसी हुई रस्सी के समान खींच रहा था।[3] अत्यन्त आहत कोई वीर मूर्च्छित होकर हाथी के सूंड़ से निकले जलकणों से सिक्त होने पर श्वास लेने लगा, किन्तु उसे मृत समझकर ग्रहण करनें की इच्छा

1. शि.व. 18/2
2. शि.व. 18/25
3. शि.व. 18/57

करनेवाली देवाङ्गना विफल-मनोरथा होकर मूर्च्छित हो गयी।[1] मूर्च्छित लोगों की अन्तरात्मा मानों देवों के रमणीय स्वर्ग को जाकर लौट आया क्योंकि दृढ़निश्चयवाले मूर्च्छित शूरवीर होश में आकर युद्धार्थ अत्यधिक उत्साहित होने लगे।[2] किसी योद्धा के द्वारा कसकर बाण मारने पर परस्पर सटे हुए दो योद्धा एक ही बाण से विद्ध होकर मरने पर भी नही गिरते थे। डण्डे के कट जाने से जमीन पर लुढ़के हुए पूर्णचन्द्र की कान्तिवाले शुभ्रवर्ण के छत्र, यमराज के भोजन के लिए रखे गये चांदी के थाल के समान शोभते थे।[3] बड़े-बड़े तरङ्गों में तैरते हुए, योद्धाओं के मुखरूपी कमलों से तथा हाथियों के कानों से गिरे हुए चामररूप हंसो से व्याप्त रक्तरूपी जलवाली भरी हुई नदियां बह रही थीं।[4] दिशाओं में पंखो के अग्रभाग के ध्वनि को फैलाते हुए तथा दूर से वेगपूर्वक आये हुए निर्जीव पत्रि-समूहों ने तीक्ष्ण मुखाग्र से सैनिकों के रक्त का पहले पान किया तथा दिशाओं में आये हुए सजीव पत्रि-समूहों ने तीक्ष्ण चोंचो से सैनिकों के रक्त का बाद में पान किया।[5] किसी योद्धा का शरीर बाणों से इतना बिंध गया था कि उसके मांस को खाना श्रृगालियों के लिए अत्यन्त कठिन कार्य था, अतएव उन्होंने चिल्लाकर मुख से निकली हुई ज्वाला से बाणों को जला दिया तथा उस ज्वाला से पककर मांस भी अपूर्व स्वादयुक्त हो गया, ऐसे मांस को उन श्रृगालियों ने खाया। गीदड़ भूख को जगाने के लिए अजीर्ण तथा ग्लानि को दूर करने वाले रक्तरूपी मद्य को पीकर कलेजे के मांस रूप उपदंश को स्वादयुक्त करके मांस को खाया 'तथा जोर से चिल्लाया। कच्चा मांस खाने वाले गीध आदि चर्बी के लोभ से नगाड़े फाड़ रहे थे। निष्प्राण जीवों के अङ्गो से सर्वत्र व्याप्त वह युद्धभूमि मानों समाप्तप्राय एवं अर्द्ध निर्मित रूपों से व्याप्त ब्रह्मा के सृष्टि-रचना-गृह के समान शोभती थी। इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत, राजसमूह की सेनाओं का, बड़े-बड़े तरङ्गोवाली श्रीकृष्ण की सेनाओं के साथ अत्यन्त कोलाहल के साथ ऐसा दोलायुद्ध होने लगा, जैसा निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियों का समुद्र के वृहद तरङ्गों के साथ अत्यन्त कोलाहल के साथ दोलायुद्ध होता है।

---

1. शि.व. 18/58
2. शि.व. 18/63
3. शि.व. 18/68
4. शि.व. 18/72
5. शि.व. 18/74

द्वन्द्व युद्ध

संग्राम में शिशुपाल की सेना को हारते हुए देखकर बाणासुर का पुत्र वेणुदारी मदोन्मत्त गज के समान यादवसेना पर टूट पड़ा किन्तु बलरामजी के सामने वह अपना प्रताप दिखानें मे समर्थ नहीं हुआ, बलरामजी ने सिंह के समान गर्जन करके एक ही बाण से वेणुदारी की गर्दन को काट डाला। वेणुदारी की मृत्यु से शिशुपाल की सेना अत्यन्त क्रुद्ध होकर लड़नें लगी और अन्त में सभी योद्धागण एक साथ ही श्रीकृष्ण के वीर पुत्र प्रद्युम्न पर चारो ओर से आक्रमण करने लगे। एक साथ चारों ओर से आती हुई राजाओं की सेना को यदुनन्दन पुत्र प्रद्युम्न ने अकेले ही उस प्रकार रोका, जिस प्रकार चारो ओर से आती हुई नदियों को अकेला समुद्र रोकता है।[1] उस समय शत्रु के चमकते हुए असंख्य बाणों से बिंधा हुआ बालक प्रद्युम्न का शरीर मञ्जरीयुक्त विशाल वृक्ष के समान सुशोभित हो रहा था।[2] शत्रु समूह को नष्ट करनेवाले प्रद्युम्न ने भयङ्कर युद्ध को प्राप्तकर नम्र शरणागत को नहीं मारा और शत्रुओं को बाणों से बेधते हुए नहीं छोड़ा। प्रद्युम्न ने बलवती सेना को अनायास ही निर्बल बना दिया। प्रद्युम्न के द्वारा प्रक्षिप्त बाण विद्युत के समान अत्यन्त तीव्रता से छूट रहे थे। उसका एक भी बाण विफल नहीं होता था। क्षणमात्र में ही शिशुपाल की सेना में भगदड़ मच गयी। आहत सैनिकों के त्राहि-त्राहि से आकाश गूंज उठा। अनेक शत्रु सैनिकों ने प्रद्युम्न के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। देवगण प्रद्युम्न की वीरतापूर्ण कार्य से प्रसन्न होकर आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे थे। इस प्रकार विजयश्री से आलिङ्गित मीनकेतन को देखकर शिशुपाल शीघ्र ही क्रुद्ध हो गया।[3] अभिमानी क्रुद्ध शिशुपाल चलते हुए एवं हाथी के समान अश्वोंवाली चतुरङ्गिणी सेना के साथ शत्रुओं वाली, पीड़ाशून्य वह सेना मतवाले तथा धीर हाथियों से युक्त गमन करनें के आरम्भ में युद्धविषयक अनुराग से विरत नहीं थी। सैनिकगण शत्रु को परिघतुल्य बाहु से लड़कर या शस्त्र चलाकर जीतना चाहते थे और जंघाओं से स्पर्द्धापूर्वक अपने पक्षवाले सैनिकों से आगे बढ़कर परस्पर सैनिकों को ही जीतना चाहते थे।[4] हाथीरूपी पर्वतों से दुष्प्रवेश्य बलवान् एवं निर्भीक शूरवीरों के ध्वनिवाली, शत्रुओं का वध की हुई, निर्बाध और शत्रुओं को स्वीकर

1. शि.व. 19/10
2. शि.व. 19/12
3. शि.व. 19/24
4. शि.व. 19/32

करने वाली युदवंशियों की सेना सड़क में गली करने वाले, बाणों को, तथा शत्रुओं को एक क्षण में ही निरस्त कर दिया। वरद, नीरन्ध्र, शत्रुओं को रोकने वाले, जलद के समान गम्भीर ध्वनिवाले श्रेष्ठ शूरवीर यदुनन्दन ने पृथ्वी में उत्पन्न सूर्य के समान वैरि-समूह को विदीर्ण कर दिया। उनके धनुष ने शत्रुओं को मार डाला और धनुष की प्रत्यञ्चाओं को काट डाला। पृथ्वी का भूभार हटाने के लिए अवतीर्ण होकर भी वे अनेक शत्रु-समूह को मारकर उनके शवों से पृथ्वी को भाराभिभूत (भाराक्रान्त) कर दिया।[1] शिव के कोप से दक्ष की यज्ञशाला की भांति युद्धभूमि भयानक लग रही थी। समराङ्गण में अकेले श्रीकृष्ण को शत्रुगण अनेक रूप में देखते हुए स्वयं पञ्चत्व को प्राप्त हो रहे थे। उस समय क्रोधावेश में आकर श्रीकृष्ण इतने बाणों को छोड़ रहे थे कि उन बाणों से आकाश आच्छादित हो गया था- सूर्य भी नहीं दिखायी पड़ता था।

शिशुपालवध

संग्राम में श्रीकृष्ण के अतुलित पराक्रम को शिशुपाल सहन नहीं कर सका, अतएव क्रोधजन्य सिकुड़न से तीन रेखाओं वाले, चढ़ी हुई भृकुटि से भयङ्कर मुख को धारण करते हुए उसने यदुनन्दन को युद्धार्थ ललकारा। शिशुपाल सिंहनाद करता हुआ प्रलयकालीन अग्नि के सदृश धधकते हुए तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगा उसके बाणों से आकाश इस प्रकार आच्छादित हो गया कि धरती से ऊपर के सूर्य या विद्याधर कोई नहीं दिखायी दे रहे थे। शिशुपाल के द्वारा प्रक्षिप्त सुवर्णपंखवाले बाणों ने तीक्ष्ण फल के अग्र भाग से विदीर्ण मेघा से बहते हुए जल से स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हुई तीव्र वेदनावाली दिशाओं के गिरते हुए, अश्रु-समूह के समान स्थित मण्डल (समूह) को ढाल दिया।[2] शिशुपाल ने इतने बाणसमूह को एक साथ छोड़ा था कि यादव सैनिक उसके बाणों के समूह में पड़कर इधर-उधर नहीं हो सकते थे। वज्र के समान शिशुपाल के धनुष्टङ्कार से पृथ्वी कांप रही थी। यह देख श्रीकृष्ण का धनुष शिशुपाल की ओर तन गया। शिशुपाल के द्वारा प्रक्षिप्त बाण श्रीकृष्ण के वत्सदन्त नामक बाणों से अग्रिम भाग में बलपूर्वक कटकर कायर के समान गन्तव्य भूमि के बीच से ही उलटे होकर लौट गये। परस्पर संघर्ष से उत्पन्न लोहमयाग्र भागों के संघर्षण से निकलती हुई चिनगारियों वाली अग्नि मेघ-समूहों को स्पर्श करती हुई शत्रुओं के बीच में कुछ समय

1. शि.व. 19/105
2. शि.व. 20/14

तक के लिए प्रज्वलित हो गयी।[1] क्षणमात्र में ही श्रीकृष्ण ने शिशुपाल के सभी बाणों को काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया। यह देखकर यादवों की सेना जयनाद करती हुई प्रफुल्लित हो उठी। शिशुपाल के सभी अस्त्रों का मुरारि ने बलपूर्वक प्रतिघात किया। श्रीकृष्ण इतने तीव्र गति से बाणों की वर्षा कर रहे थे कि देखने वालों की निगाहें उन पर नहीं टिक रही थी। मुरारि के इस चमत्कार को देखकर शिशुपाल ने स्वापन (सुलानेवाला) अस्त्र चलाया। किन्तु वह स्वापन 'अस्त्र भगवान् के कौस्तुभमणि के सामने होते ही विलीन हो गया और उस अस्त्र से ईषत् निद्रित यादव सैनिक पुनः सचेत होकर युद्ध करने लगे। तत्पश्चात् शिशुपाल ने नागास्त्र का प्रयोग किया। इस नागास्त्र के प्रयोग करनें के उपरान्त बड़ी-बड़ी फणाओं को धारण करते हुए एवं दांतों से निरन्तर विष उगलते हुए बड़े-बड़े सर्प चञ्चल दोनों जिह्वाओं से दोनों ओष्ठप्रान्तों को चाटते हुए एक साथ प्रकट हो गये।[2] किन्तु श्रीकृष्ण के रथ की ध्वजा पर बैठे गरुड़जी श्रीकृष्ण का संकेत पाते ही असंख्य रूप धारण कर समराङ्गण स्थल में उड़ने लगे और उनके भय से सभी सर्प पाताल में घुस गये। तदनन्तर शिशुपाल ने आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया। आग्नेयास्त्र के चलाने के पश्चात् प्राणियों को अत्यन्त भयभीत करनेवाली ध्वनि से उद्धत अट्टहासश्री को धारण करते हुए तथा फैली हुई लम्बी ज्वालारूपी भुजाओं वाले वेताल के समान अग्नि सहसा ऊपर की ओर धधकने लगी।[3] परन्तु श्रीकृष्ण के मेघास्त्र के सामने वह (आग्नेयास्त्र) विफल 'हो गया। अस्त्रों से मुरारि को अजेय समझकर शिशुपाल उन्हें अपनें वाग्बाणों से व्यथित करने लगा। तब अन्त में श्रीकृष्ण ने, जिससे राहु शिरश्छेदन किया था, उसी कालाग्नि-ज्वालाभास्वर अपने सुदर्शन चक्र से उस शिशुपाल का मूर्धच्छेद कर दिया। शिशुपाल के मूर्धच्छेद के पश्चात् शोभायुक्त दुन्दुभि घोषों के सहित स्वर्गीय पुष्पवृष्टि से युक्त, क्षणमात्र ऋषियों से स्तुत शिशुपाल के शरीर से दिव्य तेज निकला और लोगों के देखते हुए त्रिलोकीनन्दन के शरीर में प्रविष्ट हो गया।

---

1. शि.व. 20/25-26
2. शि.व. 20/41-42
3. शि.व. 20/60

(ख)

'अधिकारिक तथा प्रासङ्गिक वृत्त'

आचार्यों ने कथावस्तु दो प्रकार की मानी है। प्रथम आधिकारिक (मुख्य) तथा द्वितीय प्रासङ्गिक (गौण)।[1] कथा के प्रधान फल (कार्य) का स्वामी अधिकारी कहलाता है और उसके इतिवृत्त को आधिकारिक कहते हैं।[2] जो इतिवृत्त प्रधान इतिवृत्त के प्रयोजन से काव्य में सन्निविष्ट किया जाता है और उस प्रधान इतिवृत्त के प्रसङ्ग से ही जिसके स्वार्थ की सिद्धि होती है वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहलाता है।[3] शिशुपालवध महाकाव्य में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध किये जाने की कथा तो आधिकारिक है और श्रीकृष्ण की सेना सहित इन्द्रप्रस्थ प्रस्थान युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, श्रीकृष्ण की अग्रपूजा आदि प्रासङ्गिग इतिवृत्त हैं। प्रासङ्गिक कथावस्तु पुनः दो प्रकार की होती है- पताका तथा प्रकरी। सानुबन्ध प्रासङ्गिक इतिवृत्त को पताका कहते हैं। सानुबन्ध का अर्थ है- प्रधान के साथ दूर तक चलनै वाला। जो इतिवृत्त प्रधान के साथ दूर तक चलता है, उसे पताका कहते हैं। इस पताका कथावस्तु का नायक अलग से होता है, जो आधिकारिक वस्तु के नायक का मित्र होता है तथा उसके गुणों में कुछ ही न्यून होता है। जो कथा कुछ काल तक चलकर रुक जाती है वह प्रकरी नामक प्रासङ्गिक कथावस्तु होती है।[4] शिशुपालवध महाकाव्य में श्रीकृष्ण की सेना सहित इन्द्रप्रस्थ प्रस्थान, यादवों एवं यादव रमणियों की विविध प्रकार की कलि प्रसङ्ग, उन सबका यमुनापार कर इन्द्रप्रस्थ नगरी में प्रवेश तथा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ पताका प्रासङ्गिक इतिवृत्त है। पताका के नायक धर्मराज युधिष्ठिर हैं। शिशुपालवध महाकाव्य में यह पताका प्रासङ्गिक इतिवृत्त तृतीय से चतुर्दश सर्ग तक चलता है। चेदिनरेश शिशुपाल के वाग्मी दूत का श्रीकृष्ण के समक्ष श्लेष द्वारा द्वयर्थक वचन कहना प्रकरी प्रासङ्गिक इतिवृत्त है। यह प्रकरी कथानक काव्य के षोडश सर्ग में है। पताका और प्रकरी रूप प्रासङ्गिक इतिवृत्त प्रधान इतिवृत्त के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं।

---

1. वस्तु च द्विधा।
   तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्ग प्रासङ्गिकं विदुः। दशरूपक 1/11
2. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
   तन्निवर्त्यमभिव्यापि वृत्तंस्यादाधिकारिकम्।। दशरूपक 1/12
3. प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।। दशरूपक 1/13
4. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्। दशरूपक 1/13

आचार्यों ने काव्य के कथानक में नाटक की पाँचों अर्थप्रकृतियों तथा कार्य की सभी अवस्थाओं एवं पाँचों सन्धियों का होना आवश्यक माना है।[1] माघकवि केवल कवि ही नही अपितु काव्य रचना के प्रमुख आचार्य भी थे क्योंकि शिशुपालवध में काव्य की पूर्वोक्त सभी विशेषताएं वंर्तमान हैं और साथ ही, वे रस की अभिव्यक्ति में सहायक भी होती हैं, केवलकवि की शास्त्रज्ञता सूचित करने के लिए नहीं सन्निविष्ट की गयी हैं।[2] शिशुपालवध महाकाव्य में इन सबका सन्निवेश इस प्रकार है:-

अर्थप्रकृतियाँ

कथावस्तु के निर्वाह में जिन तत्वों से सहायता मिलती है, उन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। अर्थप्रकृतियाँ मुख्य प्रयोजन के साधन की उपाय कही जाती हैं। ये संख्या में पाँच है।[3] बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। शिशुपाल वध महाकाव्य में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य इन पाँचों अर्थप्रकृतियों की योजना हुई है।

बीज

जिसका पहले अत्यल्प कथन किया जाय, किन्तु आगे चलकर जो अनेक रूप से विस्तार पाये, उसे 'बीज' कहते हैं।[4] शिशुपालवध महाकाव्य के प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष इन्द सन्देश प्रस्तुत करते हुए अन्त में शिशुपाल के वध के लिए प्रार्थना किये जाने में[5] बीज अर्थप्रकृति है।

बिन्दु

अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त हो, उसे 'बिन्दु' कहते है।[6] जिस प्रकार तैल-बिन्दु जल में फैल जाता है, उसी प्रकार काव्य-बिन्दु

---

1. सर्वेनाटकसन्धयः ।
2. सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिवयक्त्यवेक्षया ।
   न तु केवलयाशास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ।। ध्वन्यालोक 3/68
3. बीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
   अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिता ।। दशरूपक 1/18
4. स्वल्पोछिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा । दशरूपक 1/16
5. शिशुपालवध- 1/63
6. अवान्तरार्थविच्छेदेबिन्दुरच्छेदकारणम् ।। दशरूपक 1/16

भी अग्रिम कथा-भाग में फैलता चला जाता है। धर्मराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ का निमन्त्रण अवान्तर कथा हैं। दो कार्यो के एक साथ उपस्थित होने पर श्रीकृष्ण, बलराम तथा उद्धव के साथ मन्त्रणा करते है। बलराम का मत है कि पहले शिशुपाल के प्रति अभियान करना चाहिए, जबकि उद्धव की सम्मति में पहले राजसूय यज्ञ में जाना चाहिए। इस प्रकार उचित निर्णय न हो सकने से यहाँ अवान्तर कथा विच्छिन्न होती हुई सी परिलक्षित होती है, किन्तु थोड़ी ही देर में राजसूय यज्ञ में जाने का उचित निर्णय हो जाने से मुख्य कथा पुनः अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ने लगती है। यज्ञ में जाना रूप विघ्न आने से बीज में बाधा आयी है किन्तु निर्णय हो जाने से कथा अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ चलती है। अतः द्वितीय सर्ग में बिन्दु अर्थप्रकृति हुई ।

पताका

जो प्रासङ्गिक कथा दूर तक चलती रहे, उसे 'पताका' अर्थप्रकृति कहते है।[1] श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ-प्रस्थान तथा धर्मराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ-सम्पादन करना एक दूर-व्यापी कथानक हो जाता है। अतः शिशुपालवध महाकाव्य में तृतीय सर्ग से चतुर्दश सर्ग तक पताका अर्थप्रकृति है।

प्रकरी

प्रसङ्गागत एकदेशस्थित चरित को 'प्रकरी' कहते है।[2] प्रकरीनायक का अपना कोई फलान्तर नही होता। षोडश सर्ग में शिशुपालवध का एक प्रगल्भ वाक् दूत श्रीकृष्ण के सम्मुख उपस्थित हो श्लेष द्वारा द्वयर्थक वचन कहता है। यह प्रसङ्गागत एकदेशस्थित चरित है। अतः यह प्रकरी है और वह दूत प्रकरी नायक है। इस दूत का अपना कोई फलान्तर नहीं हैं। वह तो केवल अपने आश्रयदाता राजा-शिशुपाल के आदेश पर ही ऐसे वचन बोलता है। प्रकरी का अपना कोई फलान्तर नहीं होता है किन्तु प्रकरी प्रासङ्गिक इतिवृत्त मुख्य इतिवृत्त के विस्तार में सहायक होता है। वाग्मी दूत के वचनों का अलग से कोई फल नहीं है किन्तु वे मुख्य कथा के विकास में सहायक सिद्ध होते है। उसके कटुवचनों से श्रीकृष्ण क्रुद्ध होते है। श्रीकृष्ण तथा चेदिनरेश शिशुपाल की सेना में तुमुल युद्ध होता है और अन्त में श्रीकृष्ण शिशुपाल का

1. सानुबन्धं पताकाख्यम् ।। दशरूपक 1/13
2. प्रकरी च प्रदेशभाक् । दशरूपक 1/13

सिर अपने सुदर्शन चक्र से काट देते हैं। इस प्रकार यह प्रकरी प्रासङ्गिक इतिवृत्त मुख्य कथा के विकास में सहायक है।

कार्य

जो प्रधान साध्य होता है, जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाता है, जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री एकचित्र की जाती है, उसे 'कार्य' अर्थप्रकृति कहते हैं।[1] महाकाव्य के बीसवें सर्ग में श्रीकृष्ण तथा शिशुपाल के युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध किया जाना कार्य अर्थप्रकृति है।

कार्यावस्थाएं

महाकाव्य के लक्षणो में आचार्यो ने निर्देश किया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक महाकाव्य का फल होता है।[2] इनमें से किसी एक की प्राप्ति और कभी-कभी किन्हीं दो की प्राप्ति नायक की अभीष्ट हो सकती है। जब साधक (नायक) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें से किसी एक की प्राप्ति अथवा किन्ही दो की प्राप्ति की चेष्टा करता है, उस समय इसके समस्त क्रिया-कलापों में एक निश्चित क्रम रहता है। सर्वप्रथम साधक किसी फल की प्राप्ति के लिये दृढ़ निश्चय करता है, जब उसे फल प्राप्ति सुगमतापूर्वक होती हुई दृष्टिगत नहीं होती, तब वह बड़ी ही तीव्रता के साथ कार्य में लग जाता है, मार्ग में विघ्न भी उपस्थित होते है, उनके प्रतिकार के लिए वह प्रयत्न करता है, उस समय साध्य सिद्धि दोनों ओर के आकर्षण-विकर्षण में पड़कर सन्दिग्ध हो जाती है। तदनन्तर धीरे-धीरे विघ्नों का नाश होने लगता है और फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है तथा अन्त में समस्त फल प्राप्त हो जाते हैं। कार्य की अवस्था का यही क्रम हुआ करता है, जिसे पाँच भागों में विभाजित किया गया हैं। जिनके नाम निम्नवत् हैं:-

1. आरम्भ
2. यत्न
3. प्राप्त्याशा
4. नियताप्ति
5. फलागम[3]

---

1. साहित्य दर्पण- अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनम् ।
   समापनं तु यत्सिध्यै तत्कार्यमितिसम्मतम् ।। 6/69-60
2. सा द - चत्वारस्य तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
3. दशरूपक- अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्यफलार्थिभिः ।
   आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमाः ।। 1/19

इन पाँचो अवस्थाओं का सम्यक् नियोजन महाकाव्य में आवश्यक माना गया है। माघकवि की इस एकमात्र कृति शिशुपालवध महाकाव्य में पाँचों कार्यावस्थाएं निम्नवत् है-

आरम्भ

मुख्य फल की प्राप्ति के लिए जहाँ केवल औत्सुक्य ही होता है, उसे 'आरम्भ' अवस्था कहते है।[1] चेदिनरेश शिशुपाल का वध ही यहाँ साध्य है। माघकवि नें इस साध्य की सिद्धि के लिए साधक में औत्सुक्य प्रथम सर्ग के अन्तिम श्लोक में अभिव्यक्त किया है, जहाँ श्रीकृष्ण नारद से इन्द्र का सन्देश सुनकर ओम्[2] कहकर शिशुपाल के वध के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करते है। स्वीकृति प्रदान करने तथा देवर्षि नारद के आकाशमार्ग से लौट जाने के अनन्तर श्रीकृष्ण के मुख पर क्रोध से वक्र हुई शत्रुओं के नाश को निरन्तर सूचित करने वाली भृकुटि ऐसी प्रतीत होती थी, मानों शत्रुओं के नाश की सूचना देने वाला धूमकेतु नामक तारा आकाश में उदित हुआ हो। श्रीकृष्ण के मुख पर जो क्रोध दिखायी दे रहा था, वही साध्य की सिद्धि के लिए उनका औत्सुक्य है।

यत्न

फल-प्राप्ति न होने पर उसके लिए अत्यन्त-त्वरायुक्त व्यापार को 'यत्न' कहते है।[3] द्वितीय सर्ग में श्रीकृष्ण का बलराम तथा उद्धव के साथ मन्त्रणा करना तथा अन्त में राजसूय यज्ञ में जाने का निश्चय करना, जाने की तैयारी तथा इन्द्रप्रस्थ प्रस्थान यत्न अवस्था है।

प्राप्त्याशा

जहाँ प्राप्ति की आशा उपाय तथा अपाय (विघ्न) की आशङ्काओं से आक्रान्त हो, किन्तु प्राप्ति की सम्भावना हो, उस अवस्था को "प्राप्त्याशा" कहते है।[4] शिशुपालवध महाकाव्य में चतुर्दश सर्ग से एकोनविश सर्ग तक यह अवस्था है। धर्मराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ-सम्पादन यज्ञान्त में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा से क्रुद्ध शिशुपाल का भीम एवं कृष्ण के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग करना शिशुपाल का युद्धार्थ सेना तैयार करना, शिशुपाल पक्षीय राजाओं के पहले से होने वाले नानाविध, अपशकुन, शिशुपाल के वाग्मी दूत का श्रीकृष्ण के समक्ष श्लेष द्वारा

---

1. औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभायभूयसे । दशरूपक 1/20
2. शि0 व0 1/65
3. प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः । दशरूपक 1/20
4. उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः। दशरूपक 1/21

द्वयर्थक वचन-प्रयोग, शिशुपाल-दूत के वचनों से श्रीकृष्ण-सभा का क्षुब्ध होना, शिशुपाल की सेना का युद्ध के लिए पूर्णरूपेण तैयार होना, श्रीकृष्ण-सेना और चेदिनरेश शिशुपाल की सेना का तुमुल युद्ध दोनों सेनाओं के राजाओं का परस्पर द्वन्द्व युद्ध 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। यहाँ पर फलप्राप्ति की सम्भावना उपाय तथा अपाय से आवृत हुई है। उपरिपरिगणित बातों में से श्रीकृष्ण की अग्रपूजा को देखकर शिशुपाल का क्रुद्ध होकर सेना तैयार करना पूर्णरूप से एवं दोनो सेनाओं का युद्ध कुछ सीमा तक अपाय है, शेष सब उपाय है। शिशुपाल का भीम एवं श्रीकृष्ण के प्रति कटूक्ति प्रयोग फलप्राप्ति की सम्भावना को बल प्रदान करता है। शिशुपाल पक्षीय राजाओं के पहले से होने वाले अपशकुन भी इसके सूचक है कि चेदिनरेश का अन्त शीघ्र ही होगा।

नियताप्ति

अपाय के दूर हो जाने से जहाँ पर फलप्राप्ति पूर्णरूप से निश्चित हो, उसे 'नियताप्ति' कहते हैं।[1] एकोनविंश सर्ग के प्रथमार्द्ध तक अधिकतर 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। किसी स्थल पर नियताप्ति के भी चिन्ह दिखायी देनें लगते है, यथा- शिशुपाल पक्षीय सैनिकों तथा श्रीकृष्ण पक्षीय वीरों के द्वन्द्व युद्ध में श्रीकृष्ण पक्षीय वीरों के विजयी होने के वर्णन प्रसङ्ग में इसी सर्ग के 83वें श्लोक से नियताप्ति पूर्णरूपेण आरम्भ होती है।[2] श्रीकृष्ण के शिशुपाल की सेना पर आक्रमण करने और उनके दिगन्त तक व्याप्त तीक्ष्ण ध्वनि-कारक एवं मर्मविदारक बाणों तथा शत्रुओं को एक साथ निरस्त करने में नियताप्ति[3] अवस्था है। यह अवस्था काव्य में अत्यन्त सुन्दर रूप से विकास को प्राप्त हुई है। शिशुपालवध महाकाव्य में नियताप्ति अवस्था के उदाहरण दृष्टव्य हैं- 'अनेक बाणों को छोड़ने वाले उन श्रीकृष्ण के धनुष ने बहुत से शत्रुओं के प्राण हर लिये और दूसरे (शत्रु) का सजीव रहना नहीं सहन किया अर्थात् श्रीकृष्ण के धनुष ने शत्रुओं को मार डाला और धनुष की प्रत्यञ्चाओं को काट डाला।[4] उन्होंने युद्ध प्राङ्गण

---

1. अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चता । दशरूपक 1/21
2. अथ वक्षोमणिच्छायाच्छुरितापीतवाससा ।
   स्फुरदिन्द्रधनुर्भिन्नतडितेव तडित्वता।। शि.व. 19/83
3. दिङ्.मुखव्यापिनस्तीक्ष्णान्ह्रादिनो मर्मभेदिनः।
   चिक्षेपैकक्षणेनैव सायकानहितांश्च सः।। शि.व. 19/95
4. शि.व. 19/101

में राजश्रेणियों को भग्न कर दिया।[1] पृथ्वी के भार को हल्का करने के लिए अवतीर्ण होकर भी वे अनेक शत्रु समूह से पृथ्वी को भारभूत कर दिया अर्थात् उन्हें मार दिया।[2]

शिशुपाल महाकाव्य के बीसवें सर्ग में भी नियताप्ति अवस्था की ही प्रधानता है। श्रीकृष्ण तथा शिशुपाल के युद्ध में श्रीकृष्ण द्वारा विभिन्न प्रकार के बाण प्रयोग में यही अवस्था है।

फलागम

जहाँ सम्पूर्ण फ़ल की प्राप्ति हो जाय, उस अवस्था को फलयोग या 'फलागम' कहते हैं।[3] बीसवें सर्ग के अन्तिम दो श्लोकों में फलागम अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र से शिशुपाल के सिर काटने एवं शिशुपाल के शरीर से निकलकर तेज के श्रीकृष्ण के शरीर में प्रवेश करने का वर्णन है।

सन्धियाँ

एक प्रयोजन में अन्वित कथांसो के अवान्तर सम्बन्ध को 'सन्धि' कहते हैं।[4] उपर्युक्त पांच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच अवस्थाओं के सम्बन्ध (संयोग) से कथानक का विभाग होने पर क्रम से पाँच सन्धियाँ निष्पन्न होती है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहृति।[5] सन्धि शब्द का अर्थ है- सन्धान करना या ठीक रूप में लाना। किसी कथानक के सुष्ठु निर्वाह के लिए उसका भागों में विभक्त किया जाना आवश्यक है। इससे कथानक का सन्धान ठीक रूप में हो जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने सन्धि शब्द की निर्वचन के साथ सुन्दर व्याख्या की है।[6]

मुख

जहाँ अनेक अर्थ और अनेक रसों के व्यञ्जक बीज नामक अर्थप्रकृति की उत्पत्ति

---

1. शि.व. 19/102
2. शि.व़. 19/105
3. दशरूपकेण- समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः। 1/21
4. अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। दशरूपक 1/23
5. अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
   यथासंख्येनजायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः।। दशरूपक 1/22-23
6. एवं यं एताः कारणस्य अवस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्तुरितिवृत्तं पञ्चधा विभक्तं,
   त एव मुख प्रतिमुख गर्भ विमर्श निर्वहाणाख्या अन्वर्थनामानःपञ्चसन्धयः
   इतिवृत्तखण्डाः सन्धीयन्त इति कृत्वा। लोचन पृष्ठ 338

आरम्भ नामक अवस्था के संयोग से हो, उसे 'मुखसन्धि' कहते हैं।[1] शिशुपालवध महाकाव्य के प्रथम सर्ग में जहाँ बीज और आरम्भ का संयोग है, मुखसन्धि है। शिशुपालवध के वधस्वरूप फल के बीज का वपन देवर्षि नारद द्वारा श्रीकृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किये गये इन्द्र-सन्देश में हुआ है। श्रीकृष्ण तथा नारद के संवाद में मुखसन्धि के प्रायः सभी अङ्गों का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

प्रतिमुख

जहाँ मुख-सन्धि में निवेशित फल-प्रधान उपाय का विकास बिन्दु और प्रयत्न के अनुगम द्वारा कुछ लक्ष्य तथा कुछ अलक्ष्य हो, उसे 'प्रतिमुख' सन्धि कहते हैं।[2] शिशुपालवध महाकाव्य के द्वितीय सर्ग का कथांश प्रतिमुख सन्धि है।

गर्भ

जहाँ पूर्व सन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फलप्रधान उपाय का ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो, उसे 'गर्भ' सन्धि कहते हैं।[3] शिशुपालवध में तृतीय से पञ्चम् सर्ग तक यह गर्भ सन्धि है। श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ प्रस्थान, इन्द्रप्रस्थ नगरी में प्रवेश, धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ-सम्पादन में तो फलप्रधान उपाय का विकास ही होता है। श्रीकृष्ण की अग्रपूजा को देखकर चेदिनरेश का क्रुद्ध होना, श्रीकृष्ण के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग करना, युद्धार्थ सेना तैयार करना आदि में उस फलप्रधान उपाय का ह्रास दृष्टिगत होता है, किन्तु शिशुपाल पक्षीय राजाओं के पहले से होने वाले अपशकुनों द्वारा पुनः उसका अन्वेषण होता है। इस प्रकार यहाँ फलप्रधान उपाय का ह्रास एवं अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हुआ है। अतः यहाँ गर्भसन्धि है।

विमर्श :

जहाँ बीजार्थ गर्भ-सन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित हो, किन्तु क्रोधादि के कारण

---

1. मुख बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। दशरूपक 1/24
2. लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्यप्रतिमुखं भवेत्।
   बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गन्यस्य त्रयोदश।। दशरूपक 1/30
3. गर्भस्तुदृष्टनष्टस्यं बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
   द्वादशाङ्गः पताका स्यान्नवास्यात्प्राप्ति संभवः।। दशरूपक 1/36

विघ्नयुक्त हो, उसे 'विमर्श' सन्धि कहते हैं।[1] शिशुपालवध महाकाव्य में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध किया जाना नितान्त सम्भव है किन्तु शिशुपाल दूत के वचनों से श्रीकृष्ण पक्षीय लोगों का क्षुब्ध होना तथा शिशुपाल का विपुल सेना तैयार करना और दोनों सेनाओं में तुमुल युद्ध कुछ सीमा तक विघ्न सदृश भी है। अत: पञ्चदश सर्ग के अन्तिम भाग से लेकर विंश सर्ग के लगभग अन्त तक (अन्तिम भाग को छोड़कर) विमर्श सन्धि है।

उपसंहृत

बीज से युक्त मुखादि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का जहाँ एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय साधित किया जाय, उसे निर्वहण या 'उपसंहृत' कहते हैं।[2] सर्गान्त में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध निर्वहण सन्धि है। यह बीसवें सर्ग के अन्तिम भाग में है।

---

1. क्रोधेनावमृशेद्यत्रव्यसनाद्वविलोभनात्।
   गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः।। दशरूपक 1/43
2. बीजवन्तोमुखाद्यर्थाविप्रकीर्णायथायथम्।
   ऐकार्थ्यमुपसीयन्ते यत्रनिर्वहणं हि तत्।। दशरूपक 1/48-49

तृतीय अध्याय

शिशुपालवध महाकाव्य के इतिवृत्त का स्रोत तथा माघ की नूतन कल्पना का औचित्य

शिशुपालवध महाकाव्य के इतिवृत्त का स्रोत तथा माघ की नूतन कल्पना का औचित्य

चेदिनरेश शिशुपाल के वध की कथा विविध ग्रन्थों में वर्णित है। मूलरूपेण यह कथा महाभारत के सभापर्व के शिशुपालवध पर्व में है किन्तु महाकवि माघ-प्रणीत शिशुपालवध महाकाव्य के सम्पूर्ण कथानक से सम्बद्ध कथा महाभारत के सभापर्व के राजसूय पर्व अर्घाभिहरण पर्व तथा शिशुपालवध पर्व में है।[1] श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में भी यह कथा वर्णित है।[2] महाभारत तथा भागवत् पुराण के अतिरिक्त पद्मपुराण[3] विष्णुपुराण[4] तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण[5] में भी यह कथा संक्षेप में वर्णित है। वस्तुतः महाभारत और श्रीमद्भागवत् पुराण में वर्णित कथा को शिशुपालवध महाकाव्य की कथा का स्रोत मानना उचित है क्योंकि इन दोनो ग्रन्थों में यह कथा पूर्णरूपेण वर्णित है।

महाकवि माघ शास्त्रनिष्णात् पण्डित थे। विविध ग्रन्थों तथा शास्त्रों में उनका समान प्रवेश था। अतएव अपने काव्य के प्रणयन काल में जब जहां जैसा अवसर आया तदनुसार ही उन्होंने तत्तत ग्रन्थों के तत्तत स्थलों का सहयोग प्राप्त कर अपने काव्य कथानक को मनोहारी बनाया।

वस्तुत: शिशुपालवध की कथा महाभारत में उल्लिखित है, किन्तु माघकवि ने इस महाकाव्य की सम्पूर्ण घटना की योजना अपनी कुशाग्र मेघाशक्ति के कल्पना की पृष्ठभूमि पर निर्मित की है। इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद के आगमन से बींसवें सर्ग के युद्ध तथा शिशुपाल वध की कथा तक की समग्र कल्पना कवि की अपनी है। महाभारत की कथा में वर्णित है कि नारदादि देवर्षि, श्रीकृष्ण से पहले ही धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में उपस्थित रहते है और सभा में नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को प्रथमार्घ्य दिये जाने के कारण अतिक्रुद्ध शिशुपाल के द्वारा पाण्डवों को भीष्मपितामह को तथा श्रीकृष्ण को दुर्वचन कहने पर, उसके

1. महाभारत - सभापर्व - अध्याय 33-45
2. श्रीमद्भागवत - दशम् स्कन्ध - अध्याय - 69-74
3. पद्मपुराण - 279/1-23
4. विष्णुपुराण - चतुर्थांश 14/44-53, 15/1-15
5. ब्रह्मवैवर्तपुराण - 113/23-36

अपराधों की संख्या सौ से अधिक हो जाने पर मुरारि अपनें सुदर्शन चक्र का स्मरण करते हैं और सुदर्शन चक्र के हाथ में आ जाने पर, सभा में ही शिशुपाल का शिरश्छेद कर देते हैं तथा उसके शरीर से एक दिव्य तेज निकलता है और सभा में उपस्थित सभी लोगों के देखते-देखते श्रीकृष्ण में लीन हो जाता है[1]। किन्तु महाकवि माघ ने अपनी अन्यतम कृति शिशुपालवध में देवर्षि नारद का देवलोक से आगमन, 'इन्द्र-सन्देश, सैनिक विश्राम, इन्द्रप्रस्थ वर्णन, वन-विहार वर्णन, रतिक्रीड़ा मद्यपान वर्णन, प्रभात-वर्णन, सेना-प्रस्थान, यमुनोत्तरण तथा युद्धवर्णन आदि सम्पूर्ण वर्णन अपनी नूतन कल्पना के आधार पर किया है, जो अत्यन्त मनोहारी है। माघकवि नें समग्र कथा को ऐसी संगति के साथ वर्णित तथा गुम्फित किया है कि समस्त काल्पनिक घटना वास्तविक एवं ऐतिहासिक प्रतीत होती है। उनकी यह कल्पना ऐतिहासिक तथ्य सी बन गयी। शिशुपालवध में वर्णित सभाक्षोभ का वर्णन बहुत कुछ महाभारत के वृत्तान्त के समान है। वस्तुतः यह परिवर्तन ही इसकी महाकाव्यता है। महाभारत के अनुसार इतिवृत्त रखने से अपेक्षित काव्यानुरूप रस की निष्पत्ति ही नही हो सकती थी। सर्वशास्त्रपारङ्गत महाकवि यह भलीभांति जानते थे कि रसभावविद् कवि के लिए विभावादिकों की योजना कैसी और कितनी महत्त्वपूर्ण होती है। माघकवि के द्वारा शिशुपालवध महाकाव्य की सम्पूर्ण कथा-योजना ही रस दृष्टि से की गयी है। इसके सम्पूर्ण प्रसङ्ग किसी न किसी रस या भाव से सम्बद्ध है। प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद के आगमन के समय देवादि-विषयक रतिभाव से महाकाव्य का प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् देवर्षि नारद का समस्त इन्द्र-सन्देश कथन तथा हिरण्यकशिपु-रावण-शिशुपाल के पराक्रमों एवं अत्याचारों का वर्णन प्रधान अङ्गीरस वीर-रस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं। द्वितीय सर्ग की उद्धवादि मन्त्रणा प्रधान वीर-रस के विवेक सञ्चारी भाव के रूप में वर्णित हैं। इन्द्रप्रस्थ-प्रस्थान के ब्याज से नायक श्रीकृष्ण के वैभवरूप द्वारिका नगरी का मनोरम वर्णन किया गया है। मार्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन अङ्गभूत अद्भुत रस का आलम्बन विभाव है। एकश्रुति को दूर करने के लिए रस परिवर्तन आवश्यक भी है और आगे वाले श्रृङ्गार रस के वर्णन के लिए वीर रस के क्रोध एवं उत्साह मनोवृत्ति में थोड़ा विस्मय रूप परिवर्तन लाना आवश्यक भी है। रैवतक पर्वत पर सेना का विश्राम उसी वक्ष्यमाण श्रृङ्गार रस की भूमिका है। षड्ऋतु वर्णन तथा वन-विहार वर्णन भी श्रृङ्गार के उद्दीपन रूप में ही

1. शि.व. 20/79

वर्णित है। तदनन्तर यादवों तथा यादवाङ्गनाओं के मध्य श्रृङ्गारसर्वस्व रति-क्रीड़ा आरम्भ होती है। वस्तुत: शिशुपालवध महाकाव्य में माघकवि ने श्रृङ्गार का वर्णन मर्यादा की सीमा लांघकर किया है। किन्तु महाकवि का वह **'विनेयानुन्मुखीकर्तुकाव्यशोभार्थमेववा'** माना जायेगा। पुन: एकादश सर्ग के प्रभात वर्णन में शान्त तथा अद्‌भुत रस का प्रसङ्ग. आ जाता है, क्योंकि वीर-रस पुन: प्रकट होने लगता है। अत्यन्त उत्साह के साथ यादव सेना रैवतक पर्वत से इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान करती है और तदनन्तर यमुना नदी पार करती है। धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव अदि पांचो पाण्डवों के द्वारा यदुनन्दन श्रीकृष्ण की अगवानी उनके सख्य तथा वात्सल्य भाव को व्यक्त करती है और प्रथमार्घ्य समर्पित करने तक पाण्डवों एवं भीष्मपितामह का वही देवादि विषयक रतिभाव महाकवि ने वर्णित किया है। अतिक्रुद्ध चेदिनरेश शिशुपाल के दुर्वचन रौद्र रस को अभिव्यक्त करते है क्योंकि उसमें बुद्धि-विवेक का अभाव है, इससे वह वीर-रस का उद्‌दीपन होता है। तुमुल युद्ध तथा द्वन्द्व युद्ध का प्रसङ्ग और शिशुपाल का वध उसी अङ्गी वीर-रस का चरम स्वरूप है, जिसका प्रथम सर्ग देवर्षि नारदागमन में सूत्रपात हुआ है। इस प्रकार महाकवि माघ नें शिशुपालवध महाकाव्य में अद्‌भुत श्रृङ्गार, शान्त एवं रौद्र रसों का भी सूक्ष्म साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है- यद्यपि वे सभी रस अङ्ग रूप में ही वर्णित हैं किन्तु उनके वर्णन प्रसङ्ग से महाकाव्य के समस्त लक्षण घटित हो जाते हैं- क्योंकि साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य में संध्या-सूर्येन्दु, रजनी-प्रदोष-वासर आदि का वर्णन यथायोग करने का निर्देश किया है। अत्यन्त नूतन किन्तु अत्यन्त संगत प्रतीत होती हुई कल्पना के बिना शिशुपालवध महाकाव्य की महाकाव्यता निष्पन्न ही नहीं हो सकती थी। भाव के विकास की यही विधा है। महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के पर्वतादि वर्णनो में गाण्डीवधारी अर्जुन दृष्टामात्र है- उनका मार्ग में घटित अनेक घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, अत: वे वहां नाममात्र की गयी प्रतीत होती है किन्तु माघकवि कृत शिशुपालवध महाकाव्य में सम्पूर्ण घटनाएं नायक श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखते हुए घटित होती हैं। महाकाव्य के सभी वर्णन प्रसङ्ग. के केन्द्र बिन्दु यदुनन्दन ही हैं। अत: यह वर्णन असम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। अपितु विभावादि रूप से रसभाव की निष्पत्ति में अत्यधिक सहायक होता है।

चतुर्थ अध्याय

काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त

काव्यशस्त्र में ध्वनि सिद्धान्त

इस शोधप्रबन्ध का शीर्षक 'शिशुपालवध महाकाव्य में ध्वनितत्व' देखने में तो एक नूतन, अपूर्व प्रचलित सा लगता है, किन्तु विषय में अन्त:प्रवेश कर देंखे तो नाममात्र का भेद दिखायी पड़ेगा। इसके कल्पित विवेचन पूर्णतः वही होंगे जो किसी महाकाव्य की साहित्यिक समालोचना में होते हैं। केवल दृष्टिकोण मात्र का भेद है। वस्तुत: यदि संस्कृत साहित्य शास्त्र की दृष्टि से समालोचना करने चलें तो हमें साहित्यशास्त्र के रसवाद, अलङ्कारवाद, रीति-गुणवाद, वक्रोक्तिवाद तथा ध्वनिवाद, ये पांचो वाद केवल एक ध्वनिवाद में समाहित होते दिखायी पड़ते हैं। आनन्दवर्धन, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ इस आचार्य त्रयी ने सभी साहित्यिक वादों को ध्वनिवाद में समेट लिया और इस प्रकार यदि कहें कि ध्वनिवाद साहित्य समालोचना का पर्याय बन गया तो अनुचित न होगा। अत: ध्वनितत्त्व का विवेचन होगा, सभी साहित्यिक पहलुओं का विवेचन।

ध्वनिवादियों ने काव्य के प्रधान्येन तीन प्रकार ही माने हैं- ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा चित्रकाव्य। जहां व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होगी उसे ध्वनिकाव्य कहेंगे और व्यङ्ग्य अर्थ के रस-भाव, अलङ्कार तथा सामान्य वस्तुरूप होने के कारण ध्वनिकाव्य के तीन प्रकार हो जायेंगे।[1] उनमें से भी रस-भाव रूप व्यङ्ग्य असंलक्ष्यक्रम होते हैं अर्थात् वाच्य के साथ ही इनकी प्रतीति हो जाती है। अत: जहां रसभावादि व्यङ्ग्य होंगे उसे असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य कहेंगे- इसके रसभावादि के भेदोपभेद के कारण अनन्त प्रकार हो सकते हैं। फिर जहां अलङ्कार अथवा वस्तु व्यङ्ग्य होगा वहां चूंकि उसकी व्यञ्जनता का क्रम संलक्ष्य होता है। अत: उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि काव्य कहते हैं। इन दोनो (असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम) प्रकारों के मूल में अभिधामूलक व्यञ्जना होती है। अत: इन्हें विक्षितान्यपरवाच्यध्वनि कहते हैं और जहां व्यञ्जना लक्षणा पर आश्रित होती है तन्मूलक ध्वनिकाव्य को अविवक्षितवाच्य ध्वनि काव्य कहते हैं। इसमें भी लक्षणा के सहारे कभी वाच्य अर्थान्तरसंक्रमित होता है और कभी अत्यन्ततिरस्कृत। इन दोनो में वाच्य के अविवक्षित होने के कारण रसभावादि की अभिव्यक्ति

1. सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयोभेदा: व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। का.प्र.

नहीं होती क्योंकि वाच्य के अविवक्षित होने से विभानुभाव का सफाया हुआ रहता है, अतः रसभावादि का भी राम-राम हो जाता है।

ध्वनि की परिभाषा

संस्कृत-साहित्य-जगत् में आनन्दवर्धन ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्राचीन आलङ्कारिक आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी, वामन इत्यादि के चिन्तन से निरन्तर प्रवाहित होती हुई काव्य-समालोचना-धारा का पर्यवेक्षण कर उन्होंने एक नवीन मत को जन्म दिया, जो ध्वनिसम्प्रदाय के नाम से अभिहित हुआ। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य के अन्तर्निहित मर्म को उसके रहस्यभूत सौन्दर्यतत्त्व को पहचाना और उस तत्त्व को प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ नाम दिया- **'काव्यस्यात्मा स एवार्थ'** और उस व्यङ्ग्य अर्थ को प्रधान रूप से व्यक्त करने वाले काव्य को ध्वनि नाम दिया। वस्तुतः ध्वनि की व्याख्या के लिए निसर्गतः सर्वाधिक उपयुक्त ध्वनिकार के ही शब्द हो सकते हैं। ध्वनि की परिभाषा देते हुए आनन्दवर्धन ने स्पष्ट किया है कि- जहां अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को व्यक्त (प्रकाशित) करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।[1]

उपर्युक्त परिभाषा की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने स्वयं लिखा है- **'यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचक विशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति'।**

अर्थात् जहां विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचकरूप शब्द उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं, वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

ध्वनिकाव्य के भेद

ध्वनि सम्प्रदाय में प्रतीयमानार्थ की प्रधानता तथा अप्रधानता के आधार पर ही काव्य का भेद किया गया है। ध्वनिकार ने काव्य के प्रमुखतः दो भेद किये है-

---

1. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
   व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक - 1/13

1. ध्वनि और 2. गुणीभूतव्यङ्ग्य

जहां वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त हो वह ध्वनि काव्य कहलाता है तथा जहां व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ की अधिक चारुता होती है- वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहलाता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणीभूतव्यङ्ग्य को भी ध्वनि निष्यन्द रूप तथा परमरमणीय कहा है क्योंकि पर्यवसायी रसभावादि की दृष्टि से वह भी ध्वनि काव्य की कोटि में आ जायेगा।

'गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते।'

व्यङ्ग्य के प्रधान और गुणभाव से स्थित होने पर क्रम से वे ही दोनो अर्थात् ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य होते है और उनसे भिन्न जो काव्य रह जाता है उसे चित्र के समान काव्य के तात्त्विक व्यङ्ग्यरूप से विहीन काव्य की प्रतिकृति के समान होने से चित्र काव्य कहते हैं।[1] चित्रकाव्य में व्यङ्ग्य नास्तिकल्प होता है। उनमें वाच्यवाचक का ही चमत्कार रहता है। ध्वनिकार इस प्रकार के काव्य को काव्यानुकृति मात्र कहते हैं।

आचार्य मम्मट ने भी इन्ही तीन भेदों का क्रम से उत्तम, मध्यम और अवर विशेषण दिया है।

1. उत्तम ध्वनिकाव्य
2. मध्यम ध्वनिकाव्य
3. अवर चित्रकाव्य

मम्मट के अनुसार भी ध्वनि काव्य उसे कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त हो।[2] इसके विपरीत जहां व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक या उसके तुल्य चमत्कार जनक होता है उसको गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य कहते हैं[3], और जहां व्यङ्ग्य का सर्वथा अभाव होता है, उसको चित्रकाव्य कहते हैं।[4]

ध्वनिभेद

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है, क्योंकि व्यञ्जना कभी अभिधा और कभी लक्षणा पर आधारित होती है। अतः ध्वनि के

1. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
   काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते।। ध्वन्यालोक 3/42
2. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। का.प्र. 1/2
3. अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम। का. प्र. 1/3
4. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्। का.प्र. 1/4

प्रथमत: दो भेद होते हैं-

1. अविवक्षितवाच्यध्वनि या लक्षणामूलक ध्वनि।

2. विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि या अभिधामूलक ध्वनि।।

1. अविवक्षितवाच्यध्वनि या लक्षणामूलक ध्वनि

जहां अधिक चमत्कारक व्यङ्ग्यार्थ में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती वहां अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। यहां व्यङ्ग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है, अत: इसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणामूलक ध्वनि के दो मुख्य भेदों का उल्लेख किया है- लक्षणामूलक अर्थात् अविवक्षितवाच्य ध्वनिभेद में वाच्य या तो अर्थान्तर में संक्रमित होता है या अत्यन्त तिरस्कृत होता है।[1] इस प्रकार अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलध्वनि के दो भेद होते हैं-

1. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि तथा

2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि

जहां वाच्यार्थ का सीधा वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय नहीं बनता वहां शब्द अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर स्वसम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ को बोधित करता है। वहां अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि होता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि

जहां वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है, उसे अत्यन्ततिस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार या त्याग हो जाता है। यह लक्षणलक्षणा पर आधारित है। यहां यह कहने की आवश्यकता नही है कि इन दोनो में प्रयोजनवती लक्षणा

---

1. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
   अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।। का.प्र. 4/39

ही अर्थ देती है और उसका प्रयोजन ही व्यङ्ग्य अर्थ बनता है।

2. विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि या अभिधामूला ध्वनि

जहां वाच्य अर्थ विवक्षित अर्थात् वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय योग्य होता हुआ व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है, वह ध्वनिकाव्य का विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है।[1] इस ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ पर आश्रित रहता है। इसका विभाजन व्यङ्ग्य की अवस्था एवं स्वरूप के अनुसार किया गया है। विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के दो भेद हैं[2]-

1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा
2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य।

2. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य या रसादि ध्वनि

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि रसभावादिध्वनि को कहते हैं। उसमें वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति का क्रम होता तो अवश्य है, किन्तु शीघ्रता के कारण वह क्रम दिखायी नहीं देता। विभाव, अनुभाव आदि की प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उनकी प्रतीति रसप्रतीति का कारण है। अर्थात् विभावादि की प्रतीति होने के अनन्तर रसादि की प्रतीति होती है। इसलिए रसादि की प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है, परन्तु जैसे कमल के सौ पत्तों को एक साथ रखकर उनमें सुई चुभायी जाय तो वह उन पत्रों का भेदन तो क्रम से ही करती है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक साथ सौ पत्तों के पार पहुंच गयी है। इसी प्रकार रस की अनुभूति में विभावादि की प्रतीति का क्रम होने पर भी उसकी प्रतीति न होने से उसको अलक्ष्यक्रम कहा गया है। और इस प्रकार के व्यङ्ग्य से युक्त अलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि प्रकार होता है, जिसे रसादिध्वनि भी कहतें हैं। और इस प्रकार के व्यङ्ग्य से युक्त अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि प्रकार होता है, जिसे रसादिध्वनि भी कहते है। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का केवल एक भेद रसादि है। किन्तु रसादि में आये आदि शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का ग्रहण होता है[3]। इनकी स्थिति अङ्गीरूपेण होने पर ही ये ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत आयेंगे। किन्तु यदि ये अङ्गरूप से आयेंगे तो वह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहलायेगा। जब व्यभिचारी भावों की प्रधानतः चर्वणा अथवा व्यञ्जना होगी, तब उसे भावध्वनिकाव्य कहते हैं। विभाव तथा अनुभाव में चमत्कार होने पर भी उन्हें विभाव-ध्वनि

1. विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः। का. प्र. 4/40
2. कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः। का. प्र. 4/41
3. रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
   ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यस्थितः।। ध्वन्यालोक 2/3

तथा अनुभाव-ध्वनि नही कहते क्योंकि ये सदैव वाच्यरूप होते हैं। रस के व्यङ्ग्य होने पर ये वाच्य स्थानीय होते हैं। इनकी स्थिति व्यङ्ग्यरूप में नहीं होती।

रसनिरूपण

लोक में रति आदिरूप स्थायीभावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, और उन विभाव (आलम्बन या उद्दीपन) आदि रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग से व्यक्त या अभिव्यक्त रति आदिरूप स्थायी भाव रस कहलाता है।[1]

रसध्वनि

विभावानुभाव तथा सञ्चारीभावों के उचित सन्निवेश से व्यक्त रत्यादि स्थायी भाव की चर्वणा से प्रयुक्त आस्वाद प्रकर्ष को रस कहा जाता है।[2] जहां विभावादि के वर्णन से रस व्यङ्ग्य हो, उसे रसध्वनि कहते हैं। लोचनकार ने काव्य में भाव की अपेक्षा रस का ही प्राधान्य स्वीकार किया है और इसे रस निष्यन्द रूप कहा है।[3] इसका सोदाहरण विवेचन अग्रिम अध्याय में किया जायेगा।

भावध्वनि

जहां कोई व्यभिचारी भाव उद्रिक्तावस्था में पहुंचकर चमत्कारातिशय का प्रयोजक बनता है, उसे भावध्वनि कहते हैं,[4] यथा- 'आकाशमार्ग से उतरते देवर्षि नारद मुनि को नीचे से देखते हुए लोगों को सन्देह हुआ कि अपनी आत्माओं को दो भागों में विभक्त कर उसका एक भाग नीचे की ओर आता हुआ यह सूर्य है क्या? अथवा धुएं से रहित ज्वालामुखी अग्नि है क्या? ऐसे दो सन्देहों के मन में उठने पर उसका निराकरण करते हुए लोग विचार करते है कि- 'सूर्य की गति तिरछी होती है तथा अग्नि का ऊपर की ओर गमन करना प्रसिद्ध है और सर्वत्र फैला हुआ वह तेज नीचे गिर रहा है, यह क्या है? इस प्रकार लोगों ने व्याकुलतापूर्वक देखा।'[5]

---

1. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
   रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटयकाव्ययोः।। का.प्र. 4/26
   विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
   व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।। का.प्र. 4/28
2. रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थादि प्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थायरसचर्वणाप्रयुक्त एवास्वाद प्रकर्षः।
3. रसध्वनेरमीभावध्वनिप्रभृतयो निष्पन्दा आस्वादे प्रधाने प्रयोजकमेवमंशं। लोचन पृ. 176
   विभज्य पृथग व्यवस्थाप्यते। लोचन, पृ. 176
4. यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः।
   लोचन, पृ. 175
5. गतं नितश्चीनमनूरूसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुवः।
   पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितजनः।। शि.व. 1/2

यहां अद्‌भुत रस होते हुए भी वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का अतिशय आस्वाद होने के कारण, भाव व्यङ्ग्य होगा। इस प्रकार तैंतीस व्यभिचारी भावों की प्राधान्येन अभिव्यक्ति होने पर काव्य भाव-ध्वनि कहलायेगा।

आचार्य मम्मट कान्ता-विषयक रति भाव के अतिरिक्त, देव, मुनि, नृप, पुत्रादि विषयक रति को तथा प्रधान्येन व्यञ्जित-व्यभिचारी भाव को भाव मानते है।[1] आचार्य मम्मट ने भक्ति, स्नेह तथा वात्सल्य रसों को भावध्वनि में ही समाहित कर लिया है।

रसाभास

जहां रस का परिपाक होते हुए भी सहृदय की दृष्टि से उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य हो, वहां पर रसाभास होता है। जैसे श्रृङ्गार में परस्त्री-प्रेम, पर-पुरुष-प्रेम, बहुनायक में प्रेम निरिन्द्रिय वस्तुओं का रतिभाव, एकाङ्गी प्रेम, पशु-पक्षी आदि का प्रेम वर्णन। यह रसदोष है, परन्तु आभास रूप में भी आनन्ददायक होने के कारण इसे ध्वनि के अन्तर्गत माना जाता है। यथा- 'बहुत लम्बे-लम्बे, सटे हुए स्थिरतायुक्त, सुन्दर तथा ऊँचे, तीक्ष्णता को नही छोड़ते हुए प्रतिद्वन्द्वी, हाथी के दातों से आहत होकर टूट गये किन्तु युद्ध करते समय परस्पर सटे हुए स्थिर सुन्दर तथा ऊँचे-ऊँचे हाथी पराजित नही हुए।'[2]

यहां हाथियों के परस्पर युद्ध करने का वर्णन तिर्यग्गत होने से रसाभास के अन्तर्गत आता है।

भावाभास

जहां भाव में कोई अनौचित्य हो, वहां भावभास माना जाता है। यथा- भीष्म पितामह कहते है- भक्तवत्सल श्रीकृष्ण में भक्ति करने वाले लोग (इनका) सर्वदा स्मरण करने से क्षीण पाप वाले होकर श्रीकृष्ण के सांसारिक क्लेश से छूटकर मुक्त हो जाते हैं।'[3]

यहां भीष्मपितामह का यह वचन उनकी श्रीकृष्ण विषयक रति की व्यञ्जना करता है, अत: यहां रति-भाव ध्वनि है। त्रयोदश सर्ग में प्रौढ़ पुराङ्गनाओं का श्रीकृष्ण के प्रति रतिभाव भावाभास के अन्तर्गत आता है। यथा- 'श्रीकृष्ण के सम्मुख सटे हुए स्तनों को अधिक ऊपर उठाकर तथा नाचते हुए मयूर के समान हिलने से मधुर ध्वनि करते हुए कङ्कणों वाली कोई रमणी अङ्गुलि के अग्र भाग से शीघ्रतापूर्वक एक कान के छिद्र को विघट्टित करने (खुजलाने) लगी।'[4]

---

1. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। का.प्र. 4/48
   नृपपुत्रादि विषया कान्ताविषया तु व्यक्ता श्रृङ्गार/। का.प्र.,पृ. 140
2. दाघ्रीयांसः संहताः स्थेमभाजश्चारुदग्रास्तीक्ष्णतामत्यजन्तः।
   दन्ता दन्तैराहताः सामजानां भङ्ग जम्मुर्न स्वयं सामजाताः।।शि॰ व॰ 18/33
3. भक्तिमन्त इह भक्तवत्सले सन्ततस्मरणीयकल्मषाः।
   यान्ति निर्वहणमस्य संसृति-क्लेशनाटकविडम्बनाविधेः।।शि॰ व॰ 14/63
4. अधिकोन्नमद्घनपयोधरं मुहुः प्रचलत्कलापिकलशङ्ककस्वना।
   अभिकृष्णमङ्गुलिमुखेन काचन द्रुतमेककर्णविवरं व्यघट्टयत्।।शि॰ व॰ 13/41

यहां पुराङ्गनाओं का श्रीकृष्ण विषयक रति-भाव अनौचित्य प्रवर्तित है, अतः यहां भावाभास है।

भावोदय

जहां उदयावस्था में ही किसी व्यभिचारीभाव की चर्वणा होती है, वहां भावोदय व्यङ्ग्य माना जाता है। इसमें सारा चमत्कार भाव की उत्पत्तिकाल में ही होता है। भाव को अधिक समय तक ठहरना नही चाहिए।

भावशान्ति

जहां किसी व्यभिचारी रूप चित्तवृत्ति का उठते ही प्रशम हो जाये वहां भावशान्ति रूप व्यङ्गय होता है। चित्तवृत्ति के उठने एवं नाश होने में एक क्षण लगना चाहिए अर्थात् उत्पत्तिकाल में ही नाश होना चाहिए अन्यथा उसमें चमत्कार नहीं आयेगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने, उत्पत्तिकालावच्छिन्न भाव के नाश को ही सहृदयचमत्कार होने से भाव-प्रशम कहा है।[1] क्योंकि यदि उत्पन्न होते ही भाव का नाश न होगा, तो वह उत्पन्न भाव कुछ काल तक स्थित रह जाने के कारण भाव व्यङ्ग्य का विषय बन जायेगा।

भावसन्धि

जहां दो व्यभिचारी भावों की चर्वणा हो, उसे भावसन्धि ध्वनि कहते हैं।[2] सन्धि का अर्थ है तुल्यकोटिता।

पण्डितराज जगन्नाथ वस्तुतः अभिभूत न होने वाले, किन्तु एक दूसरे को अभिभूत करने की क्षमता रखने वाले दो भावों के समानाधिकरण्य को, भावसन्धि मानते हैं।[3]

भावशबलता

जहां एक के बाद अनेक भावों के आने से एक ही साथ अनेक भावों के सम्मिलन का सौन्दर्य हो, वहां भाव शबलता होती है।

---

1. भावस्यप्रागुप्तरूपस्य शान्तिर्नाशः। स च उत्पत्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात्।। रस गं., पृ. 102।
2. क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम्। लोचन पृ. 176
3. भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभावनयोग्ययोः समानाधिकरण्यम्। रस.गं. पृ. 103।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि

संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्य और व्यङ्ग्य का क्रम उसी प्रकार लक्षित होता रहता है, जिस प्रकार घण्टा-रणन के अनुरणन का। इसी कारण ध्वनिकार इसे अनुस्वानसन्निभ कहते हैं। आचार्य मम्मट ने भी इसे अनुस्वनाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहा है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन इसके दो भेद मानते हैं-

1. शब्दशक्तिमूलक ध्वनि
2. अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

किन्तु आचार्य मम्मट तथा रसगङ्गाधरकार शब्दार्थोभयशक्तिमूल नामक तृतीय भेद भी मानते हैं। इस प्रकार इसके तीन प्रधान भेद माने जाते हैं-

1. शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि
2. अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि
3. शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ ध्वनि

शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल ध्वनियों में क्रम से शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थीव्यं चमत्कारिणी होती है, जो क्रम से शब्दपर्यायसह तथा शब्दपर्यायासह होती है। जहां किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने पर व्यङ्ग्य अर्थ अथवा काव्य-सौन्दर्य नष्ट नहीं होता, वहां अर्थशक्तिमूलध्वनि तथा जहां पर्याय रख देने पर काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो जाता है- वहां शब्दशक्तिमूल ध्वनि मानी जाती है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि

जहां वाच्यार्थ के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ के बोध कराने की शक्ति किसी शब्द-विशेष में ही होती है, उसके अन्य पर्यायवाची शब्द में नहीं, वहां शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि मानी जाती है। जहां शब्द से वस्तु अथवा अलङ्कार प्रधान रूप से प्रतीत होते है वह दो प्रकार का शब्दशक्त्युध्वनि क्रमशः वस्तुध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि नाम से कहलाता है।[1] जिसका सोदाहरण विवेचन अग्रिम अध्याय में यथास्थान किया जायेगा।

---

1. अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्य.ावभासते।
   प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।। का.प्र. 4/53

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के दो भेद हैं-

1. वस्तु ध्वनि

2. अलङ्कार ध्वनि

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि उसे कहते हैं- जहां वाच्य अर्थ के सामर्थ्य से अन्य वस्तु तथा अलङ्कार व्यङ्ग्य हो।

1. स्वत:सम्भवी

2. कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध

3. कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध

ध्वनिकार आनन्दवर्धन व्यञ्जक अर्थ की दृष्टि से इसके दो भेद मानते हैं- 1. कविप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर अथवा कवि-निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध कवि-निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति निष्पन्न शरीर।[1] आचार्य मम्मट तथा अभिनवगुप्त ने इसके उपर्युक्त तीन भेद माने हैं। पुन: इन तीनो के वस्तु तथा अलङ्कार दो भेद होकर 3 x 2 = 6 भेद हो जाते हैं। ये छ: भेद वस्तु एवं अलङ्कार रूप के व्यञ्जक होने से ध्वनि के 6 x 2 = 12 भेद हो जाते हैं। परन्तु ध्वनिकार, कविप्रौढ़ोक्ति तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति को एक ही मानने के कारण आठ ही भेद मानते हैं। शब्दशक्तिमूल ध्वनि के भी पद, वाक्य, प्रबन्ध से प्रकाश्य होने के कारण तीन भेद हुए, अर्थशक्तिमूल के यही आठो भेद पद, वाक्य तथा प्रबन्धगत होने से 8 x 3 = 24 + 3 = 26 भेद हुए। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के वर्ण, पदादि, वाक्य संघटना तथा प्रबन्ध से प्रकाशित होने के कारण पांच भेद 27 + 5 = 32 भेद हुए। विवक्षितवाच्य ध्वनि के दोनो भेद पद तथा वाक्य से प्रकाशित होने से चार भेद हूए। इस प्रकार शुद्ध ध्वनि के कुल 32 + 4 = 36 भेद हुए। आचार्य मम्मट ने शुद्ध ध्वनि के 51 (इक्यावन) भेद माने है।[2]

---

1. प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवीस्वत:।
   अथोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोन्यस्य दीपक:।। ध्व., 2124

2. भेदास्तदेकपंचाशत् - का.प्र., पृ. 185

पञ्चम अध्याय

ध्वनि काव्यता

ध्वनिकाव्यता

(क) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि

1. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

रस और भाव की अभिव्यक्ति

प्रायः सभी काव्य मनीषियों ने आनन्द को ही काव्य का पार्यन्तिक प्रायोजन बतलाया है। काव्यानन्द का प्रधानरूप भावानुभूति या रसानुभूति है। काव्य का कान्तासम्मित उपदेश आनन्दमूलक ही है। काव्य का कान्तासम्मितत्त्व लक्षण ही उसे शब्द प्रधान प्रभुसम्मित वेदादि तथा अर्थप्रधान सुहृतसम्मित इतिहास आदि से भिन्न बनाता है। काव्य में आनन्द की कल्पना दो रूपों में पल्लवित हुई है- 1. वर्णनशैली या अभिधान प्रकार का चमत्कार। 2. काव्य के प्रतिपाद्य की सुन्दर अभिव्यञ्जना। इनमें प्रथम के अन्तर्गत अलङ्कारादि तथा द्वितीय में रस का अन्तर्भाव है अलङ्कारादि काव्य के वाह्य तत्त्व तथा रस अन्तस्तत्त्व का निर्माण करता है। ध्वनिवादी आचार्यो ने अभिनेयार्थ तथा अनभिनेयार्थ सभीं प्रकार के काव्यों में चमत्कार तथा आनन्द का कारण रस को ही माना है।

कवि के काव्य प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट विलास रसभावाभिव्यक्ति ही है। महाकवि माघ की काव्य सरस्वती रसनिष्यन्दन में अत्यधिक सफल हुई है। रस परतन्त्रता काव्य-रचना का सबसे बड़ा अनुशासन है। काव्य-जगत् में वही कवि श्रेष्ठ महाकवियों की श्रेणी में परिगणित किया जाता है, जिसकी काव्ययोजना अतिशय रमणीयता के साथ रस-व्यञ्जना करती है। अतएव यह कवि की आलोक-सामान्य विशिष्ट प्रतिभा के स्फुरण को प्रमाणित करती है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य में श्रृङ्गार, वीर, शान्त में से किसी एक रस को ही अङ्गी तथा अन्य सभी रसों को अङ्गरूप में रखे जाने का निर्देश किया है।[1]

वीर रस ध्वनि

शिशुपाल वध महाकाव्य के नाम से ही प्रतीत होता है कि इसका अङ्गी (प्रधान) रस वीर है।[2]

---

1. श्रृङ्गार वीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते। अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः। साहित्यदर्पण
2. नेताऽस्मिन् यदुनन्दनः स भगवान् वीरप्रधानो रसः, श्रृङ्गारादिभिरङ्गवान् विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना।
   इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलम्, धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनः तत्सूक्तिसंसेवनात्।।

इसमें श्रृङ्गार, रौद्र, भयानक आदि रस अङ्गरूप में सन्निविष्ट हैं। अङ्ग रसों में श्रृङ्गार रस को इस काव्य में प्रामुख्य प्राप्त हुआ है। महाकवि माघ ने भारतीय संस्कृति के उन्नायक तथा दुष्टों के संहारक श्रीकृष्ण-सदृश नायक और प्रजोत्पीड़क दुष्ट शिशुपाल-सदृश प्रतिनायक का चयन कर उन दोनो की वीरता तथा उन दोनो के मध्य चलने वाले युद्ध का वर्णन कर अपनी काव्य-रचना-चातुरी का शोभन परिचय दिया है।

शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में ही अङ्गी वीर रस का बीज अंकुरित होता है तथा क्रम से पल्लवित और पुष्पित होते हुए अवसान में शिशुपालवध रूप चरमोत्कर्ष फल को सहृदय (सामाजिक, पाठक) को आस्वाद (अनुभव) कराता है। यहाँ नायक अलौकिक दिव्यगुण सम्पन्न देवपुरुष श्रीकृष्ण हैं। वीर रस के आश्रय भूत नायक श्रीकृष्ण - **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** सदृश पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुए। देवर्षि नारद के द्वारा किये गये प्रतिनायक शिशुपाल का जन्मान्तर वर्णन यहाँ वीर रस का उद्दीपक है। प्रति नायक शिशुपाल एक ही जन्म का पापी नही है- वह पूर्वजन्म का नृशंस हिरण्यकश्यप और उच्छृङ्खल रावण इस जन्म में उनके द्वारा दृढ़मूल संस्कारों के साथ शिशुपाल रूप में अवतरित हुआ है।[1] चेदिनरेश शिशुपाल के उच्छृङ्खल और लोकोत्पीड़क स्वरूप के वर्णन द्वारा नायक श्रीकृष्ण का क्रोध उद्दीप्त होता है। श्रीकृष्ण का यह क्रोध वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' के अङ्गरूप में है। इस 'उत्साह' का अनुभाव श्रीकृष्ण भ्रूभङ्ग रूप में माघकवि के द्वारा सर्गान्त मे कहा गया है।[2]

द्वितीय सर्ग में उद्धव, बलराम के साथ श्रीकृष्ण के द्वारा की गयी मन्त्रणा उसी उत्साह रूप स्थायीभाव के सहायक सञ्चारी विवेकभाव रूप से वर्णित है।[3] सम्पूर्ण द्वितीय सर्ग उसी गृहमन्त्रता रूप उत्साह स्थायी भाव को व्यक्त करता है। कवि की राजनीति विषयक व्युत्पत्ति केवल आनुषङ्गिक रूप से ही साक्ष्य रूप में मानी जायेगी। सम्पूर्ण द्वितीय सर्ग की रचना का मुख्य प्रयोजन तो गृहमन्त्रणा ही है।

---

1. शि.व. 1/42-68
2. शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति।
   व्योम्नीव भृकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम्।। शि.व. 1/75
3. मन्त्रोयोध इवाधीरः सवाङ्गैः संवृतैरपि।
   चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया।। शि.व. 2/29

तृतीय सर्ग में युद्ध का विचार स्थगित होने से सौम्यमूर्ति श्रीकृष्ण अनेकविध बहुमूल्य शस्त्रास्त्र से युक्त और अचिन्त्य शक्ति एवं वैभव से सम्पन्न अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ की ओर ससङ्कल्प एवं सोत्साह प्रस्थान उनके उत्साह के द्वारा सम्बद्ध चेष्टा या अनुभाव कहा जा सकता है। द्वारिका का ऐश्वर्य एवं वैभव नायक श्रीकृष्ण की सम्पन्नता का द्योतक है।[1]

चतुर्थ सर्ग से आरम्भ होकर एकादशसर्ग पर्यन्त प्रसङ्गान्तर रूप में उपस्थित होता है, जो अङ्गभूत रसों एवं भावों का क्षेत्र कहा जा सकता है। पुनः द्वादश सर्ग में चतुरङ्गिणी सेना रैवतक पर्वत पर विश्राम करके आगे इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान करती है। यहाँ बहुविध सैन्य अङ्गो द्वारा की गयी विविध चेष्टाओं का उत्साह रूप स्थायी भाव का अनुभाव रूप ही प्रदर्शित है। श्रीकृष्ण का सैन्यसागर अन्यन्त विस्तृत था, तथापि इन मार्गों में आये हुए ग्रामों में कहीं भी निर्मर्याद या अव्यवस्था नहीं हुई, जबकि सागर भी कल्पान्त में वेग से चलता हुआ मर्यादा तोड़ देता है।[2]

कवि के द्वारा की गयी सेना का इस प्रकार वर्णन विवेक रूप सञ्चारी भाव का ही व्यञ्जक है।

महाकाव्य के पन्द्रहवें सर्ग से प्रारम्भ होकर बीसवें सर्ग पर्यन्त वीररस का अविच्छिन्न प्रवाह स्वाभाविक रूप में दृष्टिगोचर होता है। चेदिनरेश शिशुपाल का सभाभवन से ससम्भ्रम वाह्यगमन, उसके शिविर में युद्ध के प्रवर्तक की शंख ध्वनि में उद्घोष, सैनिकों को युद्ध के लिए प्रेरित करना, दयिताओं से जाने की अनुमति लेना और प्रापण आदि उसी युद्धोत्साह का उद्दीपन विभाव और अनुभाव स्वीकार किया जा सकता है। यह सुस्पष्ट है कि इस उत्साह का आश्रय चेदिनरेश शिशुपाल ही होगा, श्रीकृष्ण नहीं। शिशुपालवध महाकाव्य के प्रथम सर्ग से बीसवे सर्ग पर्यन्त अनुशीलन एवं अध्ययन से यह सुस्पष्ट होता है कि यह सारा संघर्ष जगदाधार श्रीकृष्ण और चेदिनरेश शिशुपाल के मध्य होता है। पाण्डुपुत्र इसमें भाग नहीं लेते। धर्मराज युधिष्ठिर व्यवहार कुशल हैं। शिशुपाल तथा श्रीकृष्ण दोनों ही उनके सम्बन्धी होने के कारण समान थे। उन्होने इन्द्रप्रस्थ आगमन के लिए दोनो को निमन्त्रित किया था। श्रीकृष्ण अपने

1. शि.व. 1/36
2. निःशेषमाक्रान्तमहीतलो जलैश्चलन्समुद्रोऽपि समुज्झति स्थितिम्।
   ग्रामेषु सैन्यैरकरोदवारितैः किमव्यवस्थां चलितोऽपि केशवः।। शि.व. 12/36

मौसेरे भाई शिशुपाल से अतिशय क्रुद्ध होकर भी उसे समझाकर शान्त करना चाहते थे- स्वभाव से ही दूसरे के अनुकूल व्यवहार करने वाले तथा क्षमा से श्रेष्ठ चित्तवाले पाण्डव घर पर आये हुए मौसी के पुत्र (शिशुपाल) पर उसके अक्षम्य अपराध करने पर भी कृपा करके क्रुद्ध नहीं हुए।[1]

श्रीकृष्ण तथा शिशुपाल के मध्य होने वाले संघर्ष में पाण्डुपुत्र प्रायः तटस्थ ही रहे। अन्यथा इन्द्रप्रस्थ ही महाभारत युद्धस्थल बन जाता।

पन्द्रहवें सर्ग के 81वे श्लोक से सर्ग की समाप्ति तक युद्ध में जाने की अनुमति प्राप्त करने के लिए प्रियाओं से मिले हुए शूरवीरों की भावी शोकसूचक चेष्टाओं का वर्णन किया गया है।[2]

अपने-अपने शिविरों से युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय सैनिकों की प्रेयसियों के भावविकारों का भावुक चित्रण हुआ है प्रियतम के विजयरूप मङ्गल को चाहने वाली किसी रमणी ने आँसू नहीं गिराया, किन्तु शोक से शिथिल हुए बाहु से निकलकर पृथ्वी पर गिरे हुए कङ्कण को भी उसने नही जाना अर्थात् प्रियतम के विजयमङ्गलार्थ आँसू रोकने पर भी हाथ से कङ्कण गिरने से उसका अपशकुन हो ही गया[3], अवश्यम्भावी कार्य को कौन रोक सकता है।

यहाँ रमणी का रतिभाव युद्धोत्साह का व्यभिचारी भाव माना जायेगा। इसी प्रकार प्रियतम के जाते रहने पर नम्रभ्रूवाली रमणी का रोका गया आँसू गिर पड़ा क्योंकि अकृत्रिम अनुरागयुक्त स्नेह को धारण करते हुए अत्यन्त सरल चित्तवालों के लिए यही उचित होता है।[4]

उपर्युक्त स्थल में भी रति-भाव उत्साह का सञ्चारी भाव माना जायेगा।

वीर तथा उत्साही पति के वियोग से सन्तप्त कुछ ऐसी वीर रमणियाँ थी, जो राज-समूह

---

1. गृहमागताय कृपया च. कथमपि निसर्गदक्षिणाः।
   क्षान्तिमहितमनसो जननीस्वसुरात्मजाय चुक्रुधुर्नपाण्डवाः।। शि.व. 15/68
2. दयिताय सासवमुदस्तमपतदवसादिनः करात्।
   कांस्यमुपहितसरोजपतद्भ्रमरौघभारगुरू राजयोषितः।। शि.व. 15/81
3. न मुमोच लोचन जलानि दयितजयमङ्गलैषिणी।
   यातमवनिमवसन्नभुजान्न गलद्विवेद वलयं विलासिनी।। शि.व. 15/85
4. भ्रियमाणमप्यगलदश्रु चलति दयिते नतभ्रुवः।
   स्नेहमकृतकरसं दधतामिदमेव युक्तमतिमुग्धचेतसाम्।। शि.व. 15/89

के लिए उन्मुख होने पर भी उनके (पति के) पीछे मरने के लिए निश्चित विचार की हुई और उनके इस प्रकार के निश्चित विचार से दुःखित दासियों को रुलाती हुई स्थिरचित्तवाली वे (रमणियाँ) भयभीत नहीं हुईं। अतएव मर कर प्रियतमों का अनुगमन करने वाली सती रमणियों (वीराङ्गनाओं) का भयभीत नहीं होना उचित ही है।[1]

यहाँ वीररस के स्थायी भाव उत्साह का अङ्ग धैर्य (धृति) सञ्चारीभाव माना जायेगा।

सोलहवें सर्ग में चेदिनरेश शिशुपाल के वाग्मीदूत का कटु वचन सुनकर भी धीरोदात्त नायक केशव का चित्त व्यग्र तथा विकृत नहीं हुआ। यदु सैनिकों का युद्ध करने के लिए तत्पर होना और युद्धस्थल की ओर प्रयाण करना अनुभाव रूप में चित्रित हुआ है। श्रीकृष्ण रूप से वर के साथ आते हुए पटहरवः वधू के सदृश चेदिनरेश (शिशुपाल) सेना के लिए हर्षकारक हुआ। यहाँ हर्ष भी उसी युद्धोत्साह का सञ्चारी भाव है।

वाग्मी दूत द्वारा शिशुपाल के भेजे गये सन्देश रूप कटुवचन को सुनकर भी धीरोदात्त नायक श्रीकृष्ण का मन विकृत नहीं हुआ। वाग्मी दूत की कटूक्तियों से राजाओं के क्षुब्ध होने पर भी श्रीकृष्ण तथा उद्धव दोनों ही शान्त बने रहें। शत्रु (चेदिनरेश) शिशुपाल के दूत के कटुवचनों से सभासदों के क्षुब्ध होने पर भी श्रीकृष्ण का मन क्षुब्ध नहीं हुआ जैसे नदी के जलस्तर को बढ़ाने वाले मेघों से समुद्र का जल विकार युक्त (मलिन) नहीं होता।[2]

श्रीकृष्ण की सभा में इस प्रकार यादवों से तिरस्कृत होकर दूत के चले जाने पर श्रीकृष्ण की यदुसेना युद्ध के लिए तैयार हो गयी। सेना प्रस्थान तथा युद्ध तत्परता आदि सब वीरों के अनुभाव रूप में चित्रित किये गये हैं।

'जगदाधार केशव रूपी वर के आगे चलने वाला वह नगाड़े का शब्द जैसे-जैसे समीप होता गया, वैसे-वैसे शत्रुओं की सेना नववधू के समान मन से आनन्दविह्वल तथा पुलकित शरीर

---

1. समरोन्मुखे नृपगणेऽपि तदनुमरणोद्यतैकधीः।
   दीनपरिजनकृताश्रुजलो न भटीजनः स्थिरमना विचक्लमे।। शि.व. 15/93

2. समाकुले सदसि तथापि विक्रिया मनोऽगमन्न मुरभिदः परोदितैः।
   धनाम्बुभिर्बहुलितनिम्नगाजलैर्जलं न हि व्रजति विकारमबुधे।। शि.व. 17/18

वाली होती, गयी।"[1]

यहाँ नववधू सदृश हर्ष भी उसी युद्धोत्साह का सञ्चारी भाव है।

अट्ठारहवें सर्ग से युद्ध प्रारम्भ हो जाता है और बीसवें सर्ग पर्यन्त चलता है। श्रीकृष्ण की यदुसेना तथा चेदिनरेश शिशुपाल की सेना दोनों के मध्य तुमुल युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। युद्ध के उत्साह से बहुविध चतुरङ्गिणी सेना के पैदल, घोड़े, हाथी तथा रथ चारों अङ्ग शत्रुसमूह के पैदल, घोड़े, हाथी तथा रथ से ऐसे मिल गये जैसे कोई रमणी प्रियतम के साथ रतिविषयक अनुराग से उसके हाथ-पैर आदि प्रत्येक अङ्गो को अपने अङ्गो में समेटती है।[2]

चेदिनरेश शिशुपाल तथा श्रीकृष्ण की यदुसेनाओं के मध्य होने वाले तुमुलयुद्ध का बहुविध वर्णन अधिकांशतः रामायण, महाभारत तथा अष्टादश पुराणों की परम्पराओं के अनुसार है तथा कहीं-कहीं माघकवि ने कविकुलगुरु कालिदास तथा भारवि की कल्पनाओं का अनुसरण किया है। युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग में वीराङ्गनाओं की श्रृङ्गार सम्बन्धी बातें तथा चेष्टाएं काव्यशोभार्थ ही कही जायेगी।

'काव्यशोभार्थमेव वा।' यथा किसी निर्भीक वीर पुरुष को बलशाली गज ने अपने सूड़ से लपेटकर जो ऊपर आकाश में फेंका तो वहाँ उसी के लिए आकाश में बैठी अप्सराओं को ही मानों भेंट कर दिया।[3]

कोई देवाङ्गना युद्ध में वीरगति प्राप्त किये हुए किसी शूरवीर का आलिङ्गन कर उसके साथ रमण करने के लिए शीघ्र ही सुमेरु पर्वत के लताकुञ्ज में चली गयी, जब तक उस शूरवीर के विरह को नहीं सह सकने वाली पत्नी शीघ्र अग्नि में सती होकर नहीं पहुँच सकी।[4]

माघकवि ने अट्ठारहवें सर्ग में चैद्य तथा यदु सेना के मध्य हुए घनघोर युद्ध का वर्णन कर उन्नीसवें सर्ग में अनुष्टुप् छन्द से विविध चित्रबन्धों द्वारा द्वन्द्वयुद्ध का वर्णनकरना अधिक उचित समझा है किन्तु वहाँ भी अनेक स्थान पर उच्चकोटि का ध्वनिकाव्य दृष्टिगत हो जाता

1. यथा यथा पटहरवः समीपतामुपागमत् स हरिवराग्रतः सरः।
   तथा तथा हृषितवपुर्मदाकुला द्विषां चमूरजनि जनीव चेतसा।। शि.व. 17/43
2. पत्तिः पत्तिं वाहमेयाय वाजो नागं नागः स्यन्दनस्थो रथस्थम्।
   इत्थं सेना वल्लभस्येव रागादङ्गेनाङ्गं प्रत्यनीकस्य भेजे।। शि.व. 18/2
3. हस्तेनाग्रे वीतभीतिं गृहीत्वा कञ्चिद्व्यालः क्षिप्तवानूर्ध्वमुच्चैः।
   आसीनानां व्योम्नि तस्यैव हेतोः स्वर्गस्त्रीणामर्पयामास नूनम्।। शि.व. 18/48
4. वृत्तं युद्धे शूरमाश्लिष्य काचिद्रन्तुं तूर्णं मेरुकुञ्जं जगाम।
   त्यक्त्वा नाग्नौ देहमेति स्म यावत्पत्नीसद्यस्तद्वियोगासमर्था।। शि.व.18/60

है-यथा उपमालङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य का प्रसिद्ध उदाहरण दृष्टव्य है-वेग से दौड़कर आते हुए इसे (वेणुदारी को), दूर से महापराक्रमशाली बलराम जी ने उस प्रकार देखा, जिस प्रकार सिंह हाथी को देखता है।[1]

यहाँ पर बलराम को सिंह तथा वेणुदारी को हाथी के साथ उपमा देने से वेणुदारी का बलराम के द्वारा शीघ्र मारा जाना ध्वनित होता है।

उन्नीसवें सर्ग में युद्ध के प्रसङ्ग में विकटबन्धों का प्रयोग दिखायी देता है।

शत्रुजन भयभीत एवं उद्भ्रान्त होने से युद्ध के मैदान में एक ही श्रीकृष्ण को कहीं पर तीन और कहीं पर चार कृष्ण देखते हुए मानों स्पर्धा से स्वयं पंचत्व को प्राप्त कर रहे थे।[2]

बीसवें सर्ग में जगदाधार श्रीकृष्ण का चेदिनरेश शिशुपाल से साक्षात् युद्ध होता है-युद्ध में श्रीकृष्ण के पराकम को नहीं सहन करते हुए, तीन रेखाओं वाले, चढ़ी हुई भृकुटी से भयङ्कर मुख को धारण करते हुए निर्भीक शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को युद्ध करने के लिए ललकारा।[3]

बीसवें सर्ग के प्रारम्भ में ही अनुभावों तथा विभावों द्वारा शिशुपाल के युद्धोत्साह की अभिव्यक्ति होती है।

श्रीकृष्ण का रथ भी 'जागुड' नामक देश के कुङ्कुम के समान अत्यन्त लाल, बोझिल नेमियों (पट्टियों) के ऊपरी भागों के निपीडन से विदीर्ण मृतशरीरों के रक्तों से पृथ्वी को लीपता हुआ शिशुपाल के सम्मुख हुआ।[4]

उपर्युक्त स्थल में वीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा उत्साहभाव का अङ्ग बन रही है।

विदर्भ नरेश रुक्मी की पुत्री (रुक्मिणी)के कुच केसर से चिन्हित श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल

---

1. आपतन्तममु दूरादूरीकृतपराक्रमः।
   बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी।। शि.व. 19/2
2. द्विधा त्रिधा चतुर्धा च तमेकमपि शत्रवः।
   पश्यन्तः स्पर्धया सद्यः स्वयं पञ्चत्वमाययुः।। शि.व. 19/117
3. मुखमुल्लसितत्रिरेखमुच्चैर्भिदुरभ्रूयुगभीषणं दधानः।
   समिताविति विक्रमानमृष्यन्गतभीराह्वत चेदिराण्मुरारिम्।। शि.व. 20/1
4. अभिचैद्यमगाद्रथोऽपि शौरेरवनिं जागुडकुङ्कुमाभिताम्रैः।
   गुरुनेमिनिपीडनावदीर्णव्यसुदेहस्रुतशोणितैर्विलिम्पन्।। शि.व. 20/3

को देखकर चेदिनरेश रुक्मिणी हरण के समय से सेवित क्रोध से मानो उसी समय युक्त हुआ तभी से रहने वाला शिशुपाल का क्रोध, श्रीकृष्ण के वक्ष:स्थल को रुक्मिणी के आलिङ्गन करने से उसके लगे हुए कुङ्कुम से चिन्हित देखकर और अधिक बढ़ गया।[1]

यहाँ उचित आलम्बन तथा कुचकुङ्कुम दर्शन रूप उद्दीपन विभाव से चेदिनरेश का क्रोध भाव व्यक्त होता है।

अन्ततोगत्वा चेदिनरेश ने जब मुरारि को परम शुद्ध सीधे लोहबाणों से अजेय समझ लिया तो वह मर्मवेधी अत्यन्त अशुद्ध कुटिल वाग्बाणों से उन्हें बेधने लगा।[2]

यहाँ चेदिनरेश शिशुपाल के वाग्वाण उद्दीपन विभाव है, जिससे श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि भड़क उठती है और वे सहसा अपने दुर्द्धर्ष कालाग्निज्वालाप्रदीप्त उस सुदर्शन चक्र से कुवाक्यों को कहते ही उस (शिशुपाल) के शरीर को मुखरहित कर दिया अर्थात् उसके सिर को काट दिया।[3]

इस प्रकार चैद्य (शिशुपाल) का वध करने के अनन्तर श्रीकृष्ण का युद्धोत्साह पूर्णता को प्राप्त करता है। शिशुपाल के शरीर से निकल कर दिव्य तेजपुञ्ज जब मुरारि के शरीर में प्रवेश करता है, तब उस शिशुपालवध रूपी विजय तथा श्रीकृष्ण रूपी विजयी दोनों का स्वरूप ही दिव्य अलौकिक हो जाता है।

श्रृङ्गार रस ध्वनि

माघ कवि के द्वारा शिशुपालवध महाकाव्य मे प्राय: सभी अङ्गरसों को समाविष्ट किया गया है, किन्तु महाकाव्य के अध्ययन से सुस्पष्ट है कि श्रृङ्गार रस के प्रति उनकी विशेष रुचि रही और वीर रस के साथ श्रृङ्गार की सङ्गति बैठती है। माघकवि का जीवन वैभव एवं विलासपूर्ण था। अपनी प्रतिभा के द्वारा उन्होंने मानवीयभावों की प्रक्रिया का सूक्ष्मतम निरीक्षण किया। शिशुपालवध महाकाव्य के षष्ठ, सप्तम, अष्टम और दशम इन चार सर्गो में श्रृङ्गार की

---

1. अभिवीक्ष्यविदर्भराजपुत्रीकुचकाश्मीरजचिन्हमच्युतोर:।
   चिरसेवितयापि चेदिराज: सहसावाप रुषा तदैव योगम्।। शि.व. 20/6
2. शुद्धिं गतैरपि परामृजुभिर्विदित्वा बाणैरजय्यमविघट्टितमर्मभिस्तम्।
   मर्मातिगैरनृजुभिनितरामशुद्धैर्वाकशायकैरथ तुतोद तदा विपक्ष:।। शि.व. 20/77
3. तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित्तत्काललोलामल।
   ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलं चक्रेण चक्रे वपु:।। शि.व. 20/78

छटा दर्शनीय है। षष्ठ सर्ग में षड्ऋतु वर्णन श्रृङ्गार का उद्दीपन है। ऋतुजनित प्रेरणा से ही सैन्यजन वीराङ्गनाओं (प्रेयसियों) के साथ रमण में प्रवृत्त हुए। ऋतु प्रायः सभी जीवों में श्रृङ्गार रस के सन्दर्भ में रति प्रेरक होती ही हैं। कवि के द्वारा प्रौढ, प्रगल्भ, विदग्ध, मुग्धा, नवोढ़ा इत्यादि नायिकाओं के लिए विविध रति क्रीडाएं प्रदर्शित हैं। महाकवि माघ श्रृङ्गार वर्णन में सिद्धहस्त हैं। यथा- षष्ठ सर्ग के एकादश श्लोक के अनुशीलन से सुस्पष्ट होता है- मेरी प्रियतमा मुझे स्वयमेव आलिङ्गन कर सुखी करे ऐसी इच्छा करने वाले किसी विलासी प्रियतम के द्वारा भ्रमर पंक्ति से भयभीत की गयी अङ्गना के स्वयमेव किये गये आलिङ्गन का वर्णन माघकवि करते हैं- 'पुष्प के गुच्छे के भार से अवनत नूतन लता को स्तनों के भार से जीतने वाली प्रिये! परागयुक्त कमल श्रेणियों को छोड़कर विरागयुक्त यह भ्रमर-समूह तुम्हें श्रेष्ठ लता समझकर तुम्हारे सामने आ रहा है।'[1]

यहाँ आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव के द्वारा रति स्थायी भाव अभिव्यञ्जित हो रहा है।

पुनश्च नायक-नायिका की चाटु करता हुआ कहता है- 'तुम्हारे समक्ष भ्रमर के आने में यह कारण है कि सुगन्धयुक्त तुम्हारे निःश्वास तथा नवीन अमृत के तुल्य मधुर तुम्हारे अधरोष्ठ में तृषा को धारण करते हुए ये दोनो पुष्पों के सौरभ तथा पराग रस- मेरे समान भ्रमर के मन को भी हर्षित करने में समर्थ नहीं है।'[2]

इस प्रकार कहते हुए प्रेमी का, बाद में दोनों बाहुओं को उठाने से ऊँचे स्तनोंवाली तथा त्रिवलीयुक्त उदरशोभा से उपलक्षित अङ्गना ने मानों भ्रमर के भय से वेगपूर्वक आलिङ्गन कर लिया।[3]

यहाँ संयोग श्रृङ्गार की अभिव्यञ्जना हुई है। षष्ठ सर्ग में बसन्त ऋतु का उद्दीपन इतना

---

1. इदमपास्य विरागि परागिणीरलिकदम्बकसम्बुरूहां ततीः।
   स्तनभरेण जितस्तबकानमन्नवलते वलतेऽभिमुखं तव।। शि.व. 6/11
2. सुरभिणि श्वसिते दधतस्तृषं नवसुधामधुरे च तवाधरे।
   अलमलेरिव गन्धरसावमू मम न सौमनसौ मनसो मुदे।। शि.व. 6/12
3. इति गदन्तमनन्तरमङ्गना भुजयुगोन्नमनोच्चतरस्तनी।
   प्रणयिनं रभसादुदरश्रिया वलिभयालिभयादिव सस्वजे।। शि.व. 6/13

अधिक हो जाता है कि जो मानिनी यदु-सुन्दरियाँ प्रियतम के मनुहारों की गणना ही नहीं करती थी, वे अब मदनव्यथा से विह्वल होकर स्वयं अपने प्रियतम को मनाने लगती है।[1]

षड्ऋतुवर्णन प्रसङ्ग में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करने के अनन्तर माघकवि ने क्रमागत वर्षा ऋतु का वर्णन किया है, जहाँ श्रृङ्गार रस की अभिव्यञ्जना मनोहारी है। श्रावण मास में गगन में गजसमूह के समान नीलवर्ण तथा उन्नत नये मेघों को देखकर किस स्त्री नें एक रसवाले (केवल श्रृङ्गार रस वाले) किस प्रियतम को नहीं चाहा? तथा किस वल्लभ के प्रति अभिसार नहीं किया? अर्थात् अङ्गनाओं ने प्रियतमों को चाहा तथा उनके प्रति अभिसार किया।[2]

षड्ऋतु वर्णन प्रसङ्ग में हेमन्त एवं शिशिर ऋतु के वर्णन में रति भाव की अभिव्यञ्जना हुई है- मार्गशीर्ष अगहन महीने की शीत प्रिय युगल प्रेमियों को बलात् संयुक्त कराती है।[3]

क्रोधयुक्त जो स्त्री प्रियतम के साथ नहीं बैठी, मार्गशीर्ष अगहन महीने के शीत से कंपायी गयी तथा हंसती हुई वह स्त्री पूर्वापमानित पति का सहसा आलिङ्गन कर क्षणमात्र भी पति के आलिङ्गन को शिथिल नहीं कर सकी।

यदुगण विविध पुष्पों से युक्त वनों में स्त्रियों के साथ जाने की इच्छा किये क्योकि अन्यथा स्त्रियों को छोड़कर अकेले जाने पर वे यदुगण मन्मथ के महान् अस्त्र केवल पाँच बाणों को भी सहन करने में समर्थ नहीं थे।[4]

यहाँ षड्ऋतु कुसुम सम्पन्न वन उद्दीपन विभाव है।

इस प्रकार प्रियों के साथ जाने की इच्छारूप उस अवसर को पाकर हृदय को वशीभूत करती हुई स्वभावतः सुन्दरी व रमणियाँ वन में विहारार्थ पैदल चल पड़ी और उस समय उनके

---

1. अजगणन् गणशः प्रियमग्रतः प्रणतमप्यभिमानितया न याः।
   सति मधावभवन्मदनव्यथा विधुरिता धुरिताः कुकुरस्त्रियः।। शि.व. 6/15
2. गजकदम्बकमेचकमुच्चकैर्नभसि वीक्ष्य नवाम्बुदमम्बरे।
   अभिससार न वल्लभमङ्गना न चकमे च कमेकरसं रहः।। शि.व. 6/26
3. प्रियतमेन यथा सरूषा स्थितं न सहसा परिरभ्यतम्।
   श्लथयितुं क्षणमक्षमताङ्गना न सहसा सहसा कृतवेपथुः।। शि.व. 6/56
4. दधति सुमनसो बनानि वद्वीर्युवतियुता यदवः प्रयातुमीषुः।
   मनसिशयमहाऽस्त्रमन्यथामी न कुसुमपञ्चकमप्यलं विसोढुम्।। शि.व. 7/2

अनेक प्रकार के विलास प्रारम्भ हो गये।[1]

यहाँ आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव दोनों एकाश्रय हो गये हैं।

प्रिय के प्रति क्रुद्ध किसी खण्डिता नायिका को मनाती हुई दूती, के अनुरोध से प्रिया की प्रतीक्षा करते हुए प्रिय का धीरे-धीरे मानों भूमि नापते हुये वन-विहारार्थ जाना[2], पति के साथ पार्श्व का आलिङ्गनकर जाती हुई नायिका प्रियाङ्गस्पर्श से अधिक रोमाञ्चयुक्त एक स्तन प्रिय के वक्षःस्थलरूपी अङ्ग के संस्पर्श से पुलकित हो गयी[3], किसी सुन्दरी का अपनें प्रिय के कन्धे पर दाहिना हाथ रखकर प्रियतम द्वारा वामबाहु से आलिङ्गन होने से पुलकित पीनपयोधर के साथ सविलास जाना[4] प्रिय के मांसल होने से आसन के समान दोनों कन्धों पर अपने दोनो पाणि-पल्लवों को रखकर लीलापूर्वक पैर रखते हुए कठोर कुचाग्र से प्रेरित करती हुयी अन्य स्त्री का विलासपूर्वक पति के पीछे-पीछे जाना[5] आदि रतिविलास के विविध पक्ष अभिव्यञ्जित हैं।

'जिस प्रकार नदी का महाप्रवाह तड़ागो को परिपूर्ण कर बाहर प्रवाहित होने लगता है, उसी प्रकार यादव स्त्रियों के श्रृङ्गार रस का महाप्रवाह उनकी नाभिरूपी तड़ाग को परिपूर्णकर रोमावलि से बाहर निकल रहा था।'[6]

सप्तम सर्ग के वन-विहार वर्णन प्रसङ्ग में रति भाव की अतिसुन्दर व्यञ्जना हुई है। पुष्पावचय करती हुई रमणियों की श्रृङ्गार चेष्टाओं का भी माघकवि ने वर्णन किया है- पुष्पावचय के समय हाथ को ऊपर उठाने पर उदर की बड़ी-बड़ी त्रिवलियों से स्पष्ट दिखायी पड़ती हुई, गौरवर्णवाली रेखाओं से अत्यन्त सुशोभनीय, विलीन हुई रोमपंक्तियोवाली और स्वभावतः पतली कटि से सुन्दरी रमणी का उत्तरीय खिसक जाता है, अतएव उस रमणी के स्तन तथा गम्भीर नाभि अनावृत हो जाती है।[7] वन के भीतरी भाग में छिपकर सामने स्थित

1. अवसरमधिगम्य तं हरन्त्यो हृदयमयत्नकृतोज्ज्वलस्वरूपाः।
   अवनिषु पदमङ्गनास्तदानीं न्यदधत विभ्रमसम्पदोऽङ्गनासु।। शि.व. 7/3
2. शि.व. 7/12-13
3. शि.व. 7/15
4. शि.व. 7/16
5. शि.व. 7/19
6. शि.व. 7/23
7. शि.व. 7/33-34

प्रियतम को नहीं जानती हुई सी बहुत देर तक पूर्ववत् मुद्रा में रमणी हाथ उठाये पुष्पावचय करती रहती है। पुनश्च सखियों द्वारा कहने पर कि 'तुम्हारा प्रियतम छिपा हुआ सामने खड़ा तुम्हारे अङ्गो को देख रहा है' सखियों की उक्ति सुनने के अनन्तर वह भय-परितोष के साथ सचकित, सस्मित-मुख वारिजश्री हो प्रिय से छिपने की अधीरता-भरी लज्जा का प्रदर्शन करती है।[1] उस लज्जा के कारण अपने प्रियतम के हृदय को सहज की अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है- स्पष्टत: लज्जा स्त्रियों का आभूषण है अर्थात् लज्जा ही स्त्री को अलंकृत करती है।[2]

मार्ग में आते हुए भ्रमर को सखी द्वारा सङ्केतित करने पर भय से बन्द नेत्र को दुगुना सान्द्र की हुई कोई नायिका भ्रमरों के भय से प्रियतम की गोद में गिर पड़ती है क्योंकि स्त्रियों का भीरु होना गुण ही है।[3]

कामोत्कण्ठिता किसी अङ्गना ने वृक्ष से संसक्त लता का अनुकरण करती हुई सरलता से चपलतारूपी दोष को त्यागकर सखियों के सामने ही प्रियतम का आलिङ्गन कर लिया।[4]

पति ने नवोढ़ा नायिका के मुख-कमल को ऊपर उठाकर बलात् चूम लिया, नवपल्लवाग्र तोड़नें में आसक्त विदग्ध सखी ने उस चुम्बन को मानों नहीं जाना। वस्तुत: जानकर भी चातुर्य से वह (सखी) अनजान सी हो गयी।[5]

यहाँ 'न किल' शब्द द्वारा चतुर सखी की मनोहर चेष्टा आश्चर्यजनक दृष्टि से व्यक्त हो रही है।

अन्य अङ्गना ने ऊँचे स्थान पर लटकते हुए फूल के गुच्छे को लेने की इच्छा से प्रियतम

---

1. शि.व. 7/36-37
2. अवनतवदनेन्दुरिच्छतीव व्यवधिमधीरतया यदस्थितास्मै।
   अहरत सुतरामतोऽस्य चेत: स्फुटमभिभूषयति स्त्रिय स्त्रपैव।। शि.व. 7/38
3. इति वदति सखीजने निमीलद्द्विगुणितसान्द्रतक्षिपक्ष्ममाला।
   अपतदलिभयेन भर्तुरङ्कंभवति हि विक्लवता गुणोऽङ्गनानाम्।। शि.व. 7/43
4. विलसितमनुकुर्वती पुरस्ताद्धरणिरूहाधिरूहो वधूर्लतायाः।
   रमणमृजुतया पुर: सखीनामकलित चापलदोषमालिलिङ्ग।। शि.व. 7/46
5. मुखकमलकनुन्नमय्य यूना यदभिनवोढवधुर्बलादचुम्बि।
   तदपि न किल बालपल्लवाग्रग्रहपरया विविदे विदग्धसख्या।। शि.व. 7/44

के कन्धे का बाएँ हाथ से अवलम्बन कर हाथी के कुम्भद्वय के समान पीनपयोधरों से अनुरागवश ,प्रियतम को वक्ष:स्थल से आच्छादित कर दिया।[1]

यहाँ अङ्गना का रति भाव स्पष्टत: अभिव्यञ्जित हो रहा है।

ऊँचाई पर स्थित फूलों को 'आप इन फूलों को तोड़कर दीजिए' इस प्रकार मांगती हुई पीनपयोधरा मुग्धाङ्गना को 'तुम स्वयं ही इन फूलों को ग्रहण करो' और परिरम्भलोलुप चतुर नायक उस सरलस्वभाववाली रमणी को अपने दोनों हाथों से ऊपर उठा लिया।[2]

कोई दूसरा मदन लोलुप नायक 'यह फूल लो, यह फूल लो' इस प्रकार वृक्षों के फूलों से आगे-आगे ललचाया हुआ वह अङ्गना को एकान्त निर्जन में ले गया। आश्चर्य है कि 'कामदेव रति करने के लिए मनुष्य को स्थान तथा समय के विचार से शून्य करके उतावला बना देता है।'[3]

कोई अतिप्रगल्भा अङ्गना 'एकान्त है' ऐसा जानकर प्रियतम को क्षणभर बलात् आकृष्ट करने के उपरान्त समीप में सपत्नी को देख यद्यपि पति इसे नहीं चाहता, तथापि यह पति को बलात् पकड़कर ला रही है, इस प्रकार अपनी लघुता के भय से वहाँ से हटने की इच्छा करती हुई नायिका को जब प्रियतम नें नहीं छोड़ा, तब वह नायिका अत्यन्त गौरवान्वित हुई।[4]

इस प्रकार माघकवि के द्वारा मुग्धा, प्रगल्भा आदि विविधकोटि नायिकाओं द्वारा विभिन्न प्रकार की रतिक्रीडाएं प्रदर्शित की गयी है, जिनमें नायिका तथा नायक दोनों का परस्पर रतिभाव अभिव्यञ्जित हुआ है और अन्त में वन विहार जन्य श्रम से अङ्गनाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो रहे थे। वन विहारोपरान्त अङ्गनाओं के विविध श्रमानुभाव स्पष्टत: दृष्टिगोचर होते है- 'कोई

---

1. सललितमवलम्ब्य पाणिनां से सहचरमुच्छितगुच्छवाञ्छयाऽन्या।
   सकलकलभकुम्भविभ्रमाभ्यामुरसि रसादवतस्तरे स्तनाभ्याम्।। शि.व. 7/47
2. उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्य:।
   प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदास दोर्भ्याम्।। शि.व. 7/49
3. इदमिदमिति भूरुहां प्रसूनैर्मुहुरतिलोभयता पुर: पुरोऽन्या।
   अनुरहसमनायि नायकेन त्वरयति रन्तुमहो जनं मनोभु:।। शि.व. 7/50
4. विजनमिति बलादमुं गृहीत्वा क्षणमथ वीक्ष्य विपक्षमन्तिकेऽन्या।
   अभिपतितुमना लघुत्वभीतेरभवदमुञ्चति वल्लभेऽतिगुर्वी।। शि.व. 7/51

नायिका निरन्तर फूल तोड़ने तथा चुनने से उत्पन्न खेद से पति के गर्दन में दोनों बाहुओं को डाली हुई तथा परस्पर संयुक्त पयोधरों से प्रियतम के वक्षःस्थल को आवृत कर सहारा ले लिया।[1]

यहाँ नायिका के, प्रिय कण्ठ को अवलम्बन करने से श्रम के अनुभाव की व्यञ्जना हुई है।

अन्य किसी कृशाङ्गी ने प्रियतम के सामने अत्युन्नत स्तनद्वय को और ऊँचा उठाकर अङ्गभङ्गकर तथा दोनों भुजलताओं को परस्पर लपेटकर श्रम दूर करने के ब्याज से अपने मनोभिलषित आलिङ्गनाभिलाष को व्यक्त कर दिया।[2]

यहाँ पर नायिका का अङ्गभङ्ग· नामक अनुभाव अभिव्यञ्जित हो रहा है।

सभी अङ्गनाएं वनविहार करने के कारण रति-श्रम-जन्य स्वेद से खिन्न हो रही थी, प्रियतम के द्वारा हाथों से पोछने पर उनका पसीना और अधिक बहने लगा तब शरीर के मलिन होने पर भी निर्मल शोभावली उन अङ्गनाओं की अपने वन विहार-शिथिल शरीर को जलाभिषिक्त करने की इच्छा हुई।[3]

सर्गान्त में अग्रिम सर्ग के कार्य का निर्देश होना महाकाव्य का लक्षण होने से अष्टम सर्ग में होने वाली जलक्रीड़ा का संकेत माघकवि के द्वारा अत्यन्त कुशलता के साथ किया गया है और इसी प्रकार महाकवि ने प्रत्येक भावी सर्ग की कथा का सङ्केत एवं औचित्य सूचित किया है।[4]

अष्टम सर्ग में जलकेलि का वर्णन करते हुए माघकवि ने कामशास्त्र के आधार पर श्रृंगार-वर्णन किया है। वन विहार के समान ही जलविहार भी संयोग-श्रृङ्गार का रूप माना जायेगा। जलक्रीड़ा के समस्त संभार अर्थात् आलम्बन उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी

1. अविरतकुसुमावचायखेदान्निहितभुजालतयैकयोपकण्ठम्।
   विपुलतरनिरन्तरावलग्नस्तनपिहितप्रियवक्षसा ललम्बे।। शि.व. 7/71
2. अभिमतमभितः कृताङ्गभङ्गा कुचयुगमुन्नतिवित्तमुन्नमय्य।
   तनुरभिलषितं क्लमच्छलेन व्यवृणुत वेल्लितबाहुवल्लरीका।। शि.व. 7/72
3. प्रियकरपरिमार्गादङ्गनानां यदाभूत् पुनरधिकतरैव स्वेदतोयोदयश्री।
   अथ वपुरभिषेक्तुं तास्तदाम्भोभिरीषुर्वनविहरणखेदम्लानमम्लानशोभाः।। शि.व. 7/75
4. सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्। (साहित्यदर्पण)

भाव उपस्थित थे- 'शीत को नहीं सहने वाली, तडाग में उतरने के लिए इच्छा नहीं करती हुई, किनारे पर बैठी हुई तथा हाथ को हिलाती हुई रम्भोरु को पानी में पहले से ही प्रविष्ट मुस्कुराते हुए पति ने उसके विलास को देखने के लिए उसे भिगो दिया।'[1]

यहाँ तटस्थित रमणी आलम्बन, उसका शीतालु होना तथा निषेधार्थ हाथ हिलाना-उद्दीपन विभाव है, पति द्वारा स्मितपूर्वक भिगोया जाना अनुभाव तथा हर्ष सञ्चारी भाव है, जिससे रति भाव की व्यञ्जना हुई है।

माघकवि के द्वारा किसी नायिका की मुग्धता का वर्णन इस प्रकार किया गया है- कन्धे तक पानी में स्थित पति को देखकर अपने भी कन्धे तक ही पानी को समझती हुई सुन्दरी अङ्गना ने अज्ञान के कारण निर्भय हो पति के पास जाना चाहा किन्तु उस पति ने यह डूब रही है, यह जानकर बलात् उसका आलिङ्गन कर लिया।[2]

जलक्रीड़ा के समस्त साधन उद्दीपन रूप से अभिव्यञ्जित है- पिघलाये गये सोने की कलई किये हुए श्रृञ्ज (पिचकारियाँ) चन्दन, कुंकुमादि सुगन्धयुक्त पदार्थ पीन पयोधरों पर आँचल रूप कुसुम्भी उत्तरीय अंगूरी मदिरा और प्रियतम का सामीप्य ये सब अङ्गनाओं के जलक्रीड़ा के साधन थे।[3]

यहाँ जलक्रीड़ा के चन्दनकुंकुमादि, सुगन्धयुक्त पदार्थ आदि समस्त साधन नायक-नायिका के रति भाव को उद्दीप्त करने में सहायक हुए।

जलक्रीड़ा के कुछ मनोरम रतिकेलि के दृश्य संयोग श्रृङ्गार की मञ्जुल मञ्जूषा-सदृश है- यथा- 'अपने पति के साथ तडाग में घुसने की इच्छा न करती हुई, सखियों के द्वारा किनारे से पानी में ढकेली गयी नवोढा रमणी ने भय से चकित होकर जल में डूबने के भय से पति का आलिङ्गन कर लिया क्योंकि विपत्ति में मार्यादा का उल्लघंन करना निन्दित नहीं होता।[4]

---

1. आसीना तटभुवि सस्मितेन भर्त्रा रम्भोरूरवतरितुं सरस्यनिच्छुः।
   धुन्वाना करयुगमीक्षितुं विलासाञ्शीतालुः सलिलगतेन सिच्यते स्म।। शि.व. 8/19
2. तिष्ठतं पयसि पुमांसमंसमात्रे तद्दध्नं तदवती किलात्मनोऽपि।
   अभ्येतुं सुतनुरभीरियेष मौग्ध्यादाश्लेषि द्रुतममुना निमज्जतीति।। शि.व. 8/21
3. श्रृङ्गाणि द्रुतकनकोज्ज्वलानि गन्धाः कौसुम्भं पृथुकुचकुम्भसङ्गि वासः।
   मार्द्वीकं प्रियतमसन्निधानमासन्नारीणामिति जलकेलिसाधानानि।। शि.व. 8/30
4. नेच्छन्ती सममुना सरोऽवगाढुं रोधस्तः प्रतिजलमीरिता सखीभिः।
   आश्लिष्यद्भ्रचकितेक्षणं नवोढा वोढारं विपदि न दूषितातिभूमिः।। शि.व. 8/20

काम-पराधीन चित्तवाली, देखने मात्र से प्रेम को प्रकट करती हुई रमणी ने सखी को सींचने के व्याज से मानों मूर्तिमान प्रेमरस के समान अञ्जलि में पानी भरकर युवक के सम्मुख स्थित हुई।[1]

यहाँ नायिका का रति भाव अभिव्यञ्जित हुआ है।

प्रेम पूर्वक पति के द्वारा वक्ष:स्थल सींचने पर रमणी का सन्ताप तो दूर हो गया, किन्तु उस सेकक्रिया को देखकर ईर्ष्या से रमणी की सपत्नी सन्तप्त होने लगी।[2]

यहाँ रमणी की काम-सन्तप्त सपत्नी को देखकर सुस्पष्ट है कि श्रृङ्गार में ईर्ष्या का उदय कहीं न कहीं अवश्य होता है।

अष्टम सर्ग में जल-विहार वर्णन में नायक तथा नायिका द्वारा संयोग श्रृङ्गार के विविध पक्ष की मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है। स्नान से निर्मल शरीर अधरो पर ताम्बूल की रक्तिमा, हल्का महीन परिधान तथा एकान्त स्थान ही विलासवती रमणियों का भूषण होता है, यदि वह काम-वासना रहित न हो।[3]

उधर जलाशय में डूब-डूबकर जलक्रीड़ा करने से मानिनियों के मान को दूर किये हुए तथा बार-बार शोभाप्राप्त एवं विमल शरीरकान्तिवाले यादवों को देखकर भगवान् भास्कर ने भी पश्चिम पयोदधि की लहरों में मज्जन करना चाहा और सूर्यास्तमय हो गया। अन्धकार छाने लगा और चन्द्रोदय होने लगा। काम सन्तप्त रमणियों ने रतिक्रीड़ा के लिए प्रियतम के पास सन्देशार्थ दूतियाँ भेजना प्रारम्भ कर दी। कोई कलहान्तरिता नायिका अपनी दूती से कहती है- 'दूती तुम प्रियतम के पास जाकर ऐसी कुशलता से बात करना कि मेरी जिसमें लघुता भी न मानी जाय, और वे मेरे ऊपर कृपा भी करें।'[4]

---

1. स्निह्यन्ती दृशमपरा निधायपूर्ण मूर्तेन प्रणयरसेन वारिणेव।
   कन्दर्पप्रवणमना: सखीसिसिक्षा लक्ष्येण प्रतियुवमञ्जलिं चकार।। शि.व. 8/35
2. प्रेम्णोर प्रणयिनि सिञ्चति प्रियाया: सन्तापं नवजलविप्रुषो गृहीत्वा।
   उद्धूता: कठिनकुचस्थलाभिघाता दासन्नांभृरामपराङ्गनामधाक्षु:।। शि.व. 8/40
3. स्वच्छाम्भ:स्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम्।
   वासश्च प्रतनु विविक्तमस्त्वितीयानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्य:।। शि.व. 8/70
4. न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि।
   निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे।। शि.व. 9/56

कोई अन्य कलहान्तरिता मध्या नायिका तो दूती को भेजते समय दूती से पूछने पर भी लज्जावश कुछ सन्देश नहीं कहा किन्तु तीक्ष्ण कामबाणों से निरन्तर दुर्बल अपने शरीर को धीरे से देखती है।[1]

इस प्रकार प्रिया के विषय में प्रेमपूर्वक दूती के द्वारा कहे गये वचन पर प्रियतम ने विश्वास कर लिया।[2]

तदनन्तर पुनः नायक और नायिका के मध्य रतिक्रीड़ा प्रारम्भ हो जाती है। प्रियतम के अचानक आने पर शीघ्रतापूर्वक आसन से खड़ी होते समय रमणी के सोने के खम्भे के समान स्फुरित होते हुए जघनरूप भित्ति-प्रदेश से वसन स्खलित हो जाता है और वह रमणी हाथ से नीवि पकड़े उसे पुनः आवृत कर लेती है।[3]

यहाँ रमणी का रति भाव अभिव्यञ्जित हो रहा है।

किसी नवोढा रमणी ने पीछे से आकर दोनों नेत्रों को बन्द किये हुए प्रियतम को 'यह कौन तुम्हारे नेत्रों को बन्द किया है? ऐसा पूछने पर रमणी मुख से तो कुछ नहीं बोलती केवल प्रिय-स्पर्श एवं वचन-श्रवण से सात्त्विक भावजन्य रोमाञ्चों से प्रियतम को बता देती है।[4]

इस प्रकार मानरूप विघ्न को तत्काल शान्त करने वाली चन्द्रमा की किरणें रमणियों को कामी पुरुषों के साथ संयुक्त करने के लिए सम्यक् प्रकार से समर्थ हुई तथा कामश्री के विलास को विलसित करने वाली और लज्जारूपी विघ्न को दूर करने में निपुण मदिरा रमणियों की रतिक्रीड़ा में आचार्यत्व करनें लगी।[5]

दशम सर्ग में मद्यपान वर्णन प्रसङ्ग में माघकवि ने मद्यपान के प्रभाव का मनोहारी वर्णन किया है, जिसमें मद नामक सञ्चारी भाव की अभिव्यञ्जना हुई है। यथा- 'मद्यपान से बढ़े

---

1. ननु सन्दिशेति सुदृशोदितया त्रपया न किञ्चन किलाभिदधे।
   निजमैक्षि मन्दमनिशं निशितैः कृशितं शरीरमशरीरशरैः।। शि.व. 9/61
2. उदितं प्रियां प्रति सहार्दमिति श्रदधीयत प्रियतमेन वचः। शि.व. 9/69
3. कररुद्धनीवि दयितोपगतौ गलितं त्वराविरहितासनया।
   क्षणदृष्टहाटकशिलासदृशस्फुरदूरुभित्ति वसनं ववसे।। शि.व. 9/75
4. पिदधानमन्वगुपगम्य दृशौ ब्रुवते जनाय वद कोऽयमिति।
   अभिधातुमध्यवससौ न गिरा पुलकैः प्रियं नववधूर्न्यगदत्।। शि.व. 9/76
5. इत्थं नारीर्घटयितुमलं कामिभिः काममासन्, प्रालेयांशोः सपदि रुचयः शान्तमानान्तरायाः।
   आचार्यत्वं रतिषु विलसन्मन्मथश्रीविलासा, ह्रीप्रत्यूहप्रशमकुशलाः शीधवश्चक्रुरासाम्।। शि.व. 9/87

हुए नशे में धृष्ट युवक के समान सरल प्रकृतिवाली रमणी की हंसी को विलास से मनोहर वचनो को चातुर्यपूर्ण तथा नेत्रो में अनेक कटाक्षादि विलास रूप विकारो का बढ़ा दिया तो फिर प्रौढ़ा रमणियों के विषय में कहना ही क्या?'[1]

मानवती रमणियों के मान को भग्न करने में समर्थ, सुरत की इच्छा को बढ़ाने वाला, नेत्र में लालिमा को प्रकट करता हुआ और अन्तःकरण को रञ्जित करता हुआ मद्य प्रियतम के समान रमणियों को अपने में तन्मय कर लिया।[2]

कामसन्तप्त रमणियों के शरीर को सुन्दरता ने सुशोभित किया, उस सुन्दरता को परिपूर्ण नवीन युवावस्था के संसर्ग सुशोभित किया, उसको कामश्री ने सुशोभित किया और मद को प्रिय-सङ्गम सुशोभित कर रहा था।[3]

माघकवि के द्वारा महाकाव्य में सुरत-क्रीड़ा के वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों रूपों का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। प्रेक्षण, चुम्बन, आलिङ्गन आदि वाह्य सुरत-क्रीड़ा है तथा परिरम्भण आदि क्रियाभिनिवृत्ति आभ्यन्तर सुरतक्रीड़ा है। सुरतक्रीड़ा के दोनों रूप अत्यन्त मनोरम तथा सूक्ष्मविवेचित है।

प्रियतमों के आलिङ्गन करनें पर रमणियों के शरीर से सात्त्विकभावजन्य इतना पसीना निकला कि उनके वस्त्र भी गये और उससे पानी बहने लगा।[4]

किसी युवक ने अरुणिमा से युक्त तथा विरहावस्थाओं में वाह्यक्रीडा से अत्यधिक उष्ण सुन्दर भ्रूवाली प्रिया के अधर पल्लव को छोड़कर कुछ समय तक सरस नेत्र का चुम्बन किया।[5]

यहाँ वाह्य सुरतक्रीड़ा की अभिव्यञ्जना हुई है।

---

1. हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः।
   चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन।। शि.व. 10/13
2. मानभङ्गपटुना सुरतेच्छां तन्वता प्रथयता दृशि रागम्।
   लेभिरे सपदि भावयतान्तर्योषितः प्रणयिनेव मदेन।। शि.व. 10/25
3. चारुता वपुरभूषयदासां तामनूनवयौवनयोगः।
   तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसंगमभूषः।। शि.व. 10/33
4. स्नेहनिर्भरमधत्त वधूनामार्द्रतां वपुरसंशयमन्तः।
   यूनि गाढपरिरम्भिणी वस्त्रक्नोपममम्बु ववृषे यदनेन।। शि.व. 10/49
5. केनचिन्मधुरमुल्बणरागं बाष्पतप्तमधिकं विरहेषु।
   ओष्ठपल्लवमपास्य मुहूर्तं सुभ्रुवः सरसमक्षि चुचुम्बे।। शि.व. 10/54

माघकवि ने सुरतक्रीड़ा के अनेक रहस्यमय पक्षों का चित्रण किया है- रमणी के कटि के वस्त्र को हटाने में प्रवृत प्रियतम के हाथ और उसे रोकने वाले रमणी के दोनों हाथों के कलह को रोकने के लिए मानों सुन्दरी की मेखला तथा कङ्कण खनक रही है।[1]

सुरतक्रीड़ा के समय रमणियों के कुछ विरोधी भाव का भी चित्रण किया गया है- 'तरुणियां तीव्रतम कामभाव वाली होकर भी धीरता को, शरीर को समर्पित करके भी प्रतिकूलता और मनोहर सुरतसम्बन्धी धृष्टता युक्त होती हुई भी लज्जा का प्रदर्शन कर रही थी।'[2]

कुट्टमित:[3] नामक स्त्रियों के स्वभावज सुरतक्रीड़ा का चित्रण द्रष्टव्य है- करभ के समान जघनों वाली कोई रमणी प्रियतम की इच्छा का विरोध नहीं करती हुई भी उसके हाथ को रोक रही थी, मधुर मुस्कान करती हुई उसे भर्त्सित कर रही थी और कामसुख होने पर भी मनोहर शुष्क रोदन कर रही थी[4]।

सुरतक्रीड़ा के समय रमणी के सीत्कार, मणित, करुण वचन, प्रेमयुक्त कथन, निषेधार्थक वचन और हँसने तथा अलङ्कारों की ध्वनि ये सब मानो वात्स्यायन रचित कामसूत्र के पद बन रहे थे[5]।

रतिकाल में हृदय को प्रिय लगने वाले रमणों को जो-जो रुचता था, सुन्दर भ्रूवाली रमणियों ने वही-वही किया, उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही था क्योंकि युवतियाँ अनुकूल आचरणों से पुरुषों के हृदय को वश में कर लेती हैं।[6]

---

1. अम्बरं विनयत: प्रियपाणेर्योषितश्च करयो: कलहस्य।
   वारणामिव विधातुमभीक्ष्णं कक्ष्यया च बलयैश्च शिशिञ्जे।। शि.व. 10/62
2. धैर्यमुल्बणमनोभवभावा वामतां च वपुरर्पितवत्य:।
   व्रीडितं ललितसौरतधाष्ट्र्यास्तेनिरेऽभिरुचितेषु तरुण्य:।। शि.व. 10/68
3. कुट्टमित- केशाधरादिग्रहणे मोदनेऽपि मानसे।
   दु:खितेव बहि: कुप्येद्यत्र कुट्टमितं हि तत्।। साहित्यशास्त्र
4. पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भा:।
   कामिन: स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि।। शि.व. 10/69
5. सीत्कृतानि मणितं करुणोक्तिः स्निग्धमुक्तमलमर्थवचांसि।
   हासभूषणरवाश्च रमण्या: कामसूत्रपदतामुपजग्मु:।। शि.व. 10/75
6. यद्यदेव रुरुचे रुचिरेभ्य: सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन्।
   आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि तरुण्य:।। शि.व. 10/79

माघकवि के द्वारा सुरतक्रीड़ा के वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों पक्षों के सूक्ष्मविवेचन के पश्चात् सुरतावसान का वर्णन किया गया है- प्रियतमों से सङ्गत रमणियों ने सुरत के पूर्व वहाँ से जाने के लिए तत्पर जिस लज्जा को सखी के समान छोड़ दिया था, रमणियों के विरह को नहीं सह सकने वाली वही लज्जा सखी के समान रति के पश्चात् पुर्नप्रकट हो गयी।[1]

सुरतावसान में रमणियों की दृष्टि लज्जा के कारण स्खलित हो रही थी। रमणियों के द्वारा सम्भ्रम के साथ वस्त्र (वसन) से शरीर आच्छादित किया जा रहा था। सुरतावसान का वह क्षण दर्शनीय क्षण था।[2]

रमणियों के प्रथम रति के पश्चात् श्रम को दूर करने के लिए प्रियतमों ने जो आलिङ्गन किया, कामदेव को उद्दीप्त किया हुआ वह आलिङ्गन द्वितीय रति का आरम्भ हो गया।[3]

शिशुपालवध महाकाव्य में संयोग श्रृङ्गार के चित्रण का बाहुल्य है। केवल ईर्ष्या-मानजन्य विप्रलम्भ श्रृङ्गार के कुछ दृश्य पुष्पावचय, जलविहार तथा सुरतक्रीड़ा में यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। यथा- 'वनविहार वर्णन प्रसङ्ग में कोई खण्डिता नायिका पल्लवपुष्प का उपहार देनेवाले अपराधी कान्त की भर्त्सना करती है।'[4]

श्रृङ्गार आलम्बन श्रीकृष्ण

शिशुपालवध महाकाव्य में मुख्य अङ्गीरस 'वीररस' है और प्रधान वीर रस के आश्रय श्रीकृष्ण है। प्रधान नायक के रूप में श्रीकृष्ण अन्य अङ्गभूत भावों के भी आश्रय या आलम्बन बनें हैं। यथा- 'द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ (हस्तिनापुर) प्रस्थान के समय उनके तैयार होने पर उनकी अङ्गनाएं भी उनके साथ चलने की उद्यत श्रीकृष्ण के चारो ओर आ गयी- जन-समुदाय के प्रिय श्रीकृष्ण ने जिस-जिस अङ्गना को देखा वह-वह अङ्गना लज्जा से संकुचितनेत्रा होकर नम्रमुखी

1. सङ्गताभिरुचितैश्चलितापि प्रागमुच्यत चिरेण सखीव।
   भूय एव समगंस्त रतान्ते ह्रीर्वधूभिरसहा विरहस्य।। शि.व. 10/81
2. प्रेक्षणीयकमिव क्षणमासन् ह्रीविभङ्.गुरविलोचनपाताः।
   सम्भ्रमद्रुतगृहीतदुकूलच्छाद्यमानवपुषः सुरतान्ताः।। शि.व. 10/82
3. विश्रमार्थमुपगूढमजस्रं यत्प्रियैः प्रथमरत्यवसाने।
   यिषितामुदितमन्मथभावौ तद्द्वितीयसुरतस्य बभूव।। शि.व. 10/88
4. शि.व. 7/53

हो गयी, तथा जिन्हें श्रीकृष्ण ने नहीं देखा था वे ईर्ष्यालु दूसरी अङ्गनाएं उस समय निश्शङ्क (प्रिय) की ओर कटाक्ष प्रहार कर रही थी।'[1]

युधिष्ठिरादि पाण्डवों के साथ श्रीकृष्ण जब इन्द्रप्रस्थ नगरी में प्रवेश करते है, तो उन्हें देखने वाली रमणियों की सहसा-सम्भ्रमनिर्भरचेष्टायें श्रीकृष्ण के प्रति रति भाव की अभिव्यक्ति रूप ही है। यथा- 'शीघ्रता के कारण हार के स्थान में मेखला पहनी हुई, केशों में कर्णपूर को लगायी हुई, ओढ़ने वाले दुपट्टे को पहनी हुई एवं पहननेवाली उत्तरीय को ओढ़ी हुई और कर्णभूषण का कङ्कण बनायी हुई रमणियाँ श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ सहसा चल देती है।'[2]

यहाँ रमणियों का श्रीकृष्ण के प्रति रतिभाव अभिव्यञ्जित हो रहा है।

रमणियाँ यह सोचकर खिन्न हो रही थी कि श्रीकृष्ण हम लोगो के नेत्रों के सतृष्ण रहने पर ही जा रहे है, किन्तु वे यह नहीं जानती थी कि श्रीकृष्ण को जो निरन्तर देखता रहता है, वह भी तृष्णारहित नहीं होता।[3]

श्रीकृष्ण के साथ गये हुए मन के लौटने की प्रतीक्षा करती हुई सी, अपने घर जाने में आदररहित रमणियाँ श्रीकृष्ण के जाने के पश्चात् थोड़े समय तक चित्र लिखित सी ज्यों कि त्यों स्थित रहीं।[4]

यहाँ रमणियों का श्रीकृष्ण के प्रति श्रृङ्गार भाव व्यञ्जित हो रहा है।

हास्य रस ध्वनि

यद्यपि कविश्रेष्ठ माघकवि प्रकृति से अतिगम्भीर प्रतीत होते है तथापि शिशुपालवध महाकाव्य में यत्र-तत्र हास्य रस के प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होते है। इस काव्य कथानक में यद्यपि हास्य रस का विशिष्ट प्रसङ्ग नहीं आया है तथापि हास्य रस के कुछ प्रसङ्गो को कवि के द्वारा यत्न पूर्वक संयोजित किया गया है। इन्द्रप्रस्थ यात्रा में हास्य रस के कुछ प्रसङ्गों का चित्रण

1. यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
   निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः।। शि.व. 3/16
2. रभसेन हारपददत्तकाञ्चयः प्रतिमूर्धजं निहितकर्णपूरकाः।
   परिवर्तिताम्बरयुगाः समापतन्वलयीकृतश्रवणपूरकाः स्त्रियः।। शि.व. 13/32
3. अभियाति नः सतृष एष चक्षुषो हरिरित्यखिद्यत नितम्बिनीजनः।
   न विवेद यः सततमेनमीक्षते न वितृष्णतां व्रजति खल्वसावपि।। शि.व. 13/46
4. अकृतस्वसद्मगमनादरः क्षणं लिपिकर्मनिर्मित इव व्यतिष्ठत।
   गतमच्युतेन सह शून्यतां गतः प्रतिपालयन्मन इवाङ्गनाजनः।। शि.व. 13/47

किया गया है। यथा- रैवतक पर्वत पर विश्राम करने के लिए सेना फैल रही है। हथिनी से भयभीत तथा सबको हंसानेवाला गधा तब तक उछलता रहा, जब तक सरके हुए आसन से वस्त्रहीन नितम्बो वाली अन्त:पुर की दासी गिर नहीं पड़ी।[1]

यहाँ अन्त:पुर वधू आलम्बन है तथा उसके नितम्बों का वस्त्रहीन होना तथा उस वधू का गधे से गिरना उद्दीपन विभाव है।

अभिमान से उछले हुए रस्सी के साथ ही खूँटे को उखाड़कर शीघ्र भागते हुए दूसरे घोड़े के पीछे यह अश्व है ऐसा समझकर दौड़ते हुए प्रयत्नशील लोगों से कठिनता से पकड़े जाने योग्य अश्व ने शिविर को व्याकुल कर दिया।[2]

यहाँ हास नामक स्थायी भाव की व्यञ्जना हुई है।

रैवतक पर्वत पर विश्राम करने के पश्चात् सेना जब आगे प्रस्थान करती है, तब ढीला होने के कारण ऊपर से नीचे की ओर सरककर पेट में लटके हुए जीन से उछलकर सवार को गिराये हुए और एक ओर भागते हुए दुष्ट अश्वों को लोगों ने हंसते एवं हा-हा कार करते हुए देखा।[3]

इसी प्रकार समीप आये हुए हाथी के सूत्कार से भयभीत दो खच्चरों ने सारथि के घबड़ाकर रास को छोड़ देने पर उस पर आरूढ़ अन्त:पुर की स्त्री को गिराकर ऊँची-नीची भूमि को पारकर छकड़ी अर्थात् छोटी गाड़ी को तोड़ दिया।[4]

द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ पहुँचे हुए श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ मार्गो में आयी हुई रमणियों के क्रिया कलाप हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।[5]

---

1. त्रस्त: समस्तजनहासकर: करेणोस्तावत्खर: प्रखरमुल्ललयांचकार।
   यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्ब-विस्रस्तवस्त्रमवरोधवधू: पपात।। शि.व. 5/7
2. उत्खायदर्पचलितेन सहैवरज्ज्वा, कौलं प्रयत्नपरमानवदुर्ग्रहेण।
   आकुल्यकारि कटकस्तुरगेण तूर्णमश्वेति विद्रुतमनुद्रवताऽश्वमन्यम्।। शि.व. 5/59
3. दुर्दान्तमुत्कृत्य निरस्तसादिनं सहासहाकारमलोकयज्जन:।
   पर्याण त: स्रस्तमुरोविलम्बिनस्तुरङ्गमं प्रद्रुतमेकया दिशा।। शि.व. 12/22
4. त्रस्तौ समासन्नकरेणुसूत्कृतान्नियन्तरि व्याकुलमुक्तरज्जुके।
   क्षिप्तावरोधाङ्गनमुत्पथेन गां विलङ्घयलघ्वीं करभौ बभञ्जतु।। शि.व. 12/24
5. रभसेन हारपददत्तकाञ्चय: प्रतिभूर्धजं निहितकर्णपूरका:।
   परिवर्तिताम्बरयुगा समापतन्वलयीकृतश्रवण पूरका: स्त्रिय:।। शि.व. 13/32

यहाँ विकृत वेष वाली रमणियां हासभाव की आलम्बन हैं।

वस्तुतः शिशुपाल वध महाकाव्य में हास्य रस के प्रसङ्ग प्रायः बहुत कम आये हैं। अङ्गरसों में हास्य रस का अतिस्वल्प दर्शन होता है।

रौद्र-रस ध्वनि

रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है और वीर रस के साथ उसका साहचर्य स्वाभाविक है। शिशुपालवध महाकाव्य में रौद्र रस का अत्यन्त उचित निबन्धन हुआ है। जगत् द्रोही शिशुपाल के प्रति श्रीकृष्ण का क्रोध ही उसके वध का हेतु हुआ। प्रबन्धकाव्यों में प्रतिनायकों का मोहभय और विवेकहीन क्रोध ही दृष्टिगत होता है। महाकवि के द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर की सभा का श्रीकृष्ण के प्रति अर्घ्य अर्पणकाल में शिशुपाल का क्रोध अत्यन्त नैसर्गिक है।

पञ्चदश सर्ग के आरम्भ में माघकवि ने रौद्र रस के स्थायी भाव 'क्रोध' का चित्रण किया है। यथा- 'श्रीकृष्ण पर पहले से ही वैरयुक्त शिशुपाल का क्रोध धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा की गयी उनकी पूजा से उस प्रकार हावी हुआ जिस प्रकार अपथ्य सेवन एवं भाग्य के परिणाम से बढ़ा हुआ ज्वर मनुष्य पर हावी होता है।'[1]

राजसूययज्ञसभा में धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा श्रीकृष्ण को दिया गया प्रथम अर्घ्य शिशुपाल को असहनीय था। यदुनन्दन की अग्रपूजा देखकर शिशुपाल का क्रोध ज्वर की भाँति बढ़ रहा था। माघकवि ने कुपित शिशुपाल के क्रोध के अनुभावों का मनोहारी चित्रण किया है- चेदिनरेश शिशुपाल सम्पूर्ण राजसमूह को सम्यक् प्रकार से तर्जित करता हुआ सा, चञ्चल मुकुट-मणियों की किरणोवाले तथा तीनों लोकों को कम्पित किये हुए मस्तक को कंपाने लगा।[2]

यहाँ 'क्रोध' भाव की व्यञ्जना हुई है।

सुसंघटित पर्वत-शिखर के समान कठोर कन्धेवाले उस शिशुपाल ने क्रोधातिरेक से कंपाये गये समस्त सभा को अधिक कंपाने वाले खम्भे का आलिङ्गन किया।[3]

---

1. पुर एव शार्ङ्गिणि सवैरमथ पुनरमु तदर्चा।
   मन्युरभजदवगाढतरः समदोषकाल इव देहिनं ज्वरः।। शि.व. 15/2
2. अभितर्जयन्निव समस्तनृपगणमसावकम्पयत्।
   लोलमुकुटमणिरश्मि शनैरशनैः प्रकम्पित जगत्त्रयं शिरः।। शि.व. 15/3
3. क्षणमाश्लिषद् घटितशैलशिखरकठिनांसमण्डलः।
   स्तम्भमुपहितविधूतिमसावधिकावधूनितसमस्तसंसदम्।। शि.व. 15/6

यहाँ शिशुपाल के कम्प का वर्णन किया गया है, जिससे उसका क्रोधातिरेक व्यञ्जित होता है।

शिशुपाल के क्रोध में समस्त भावों के अनुभावों का स्वाभाविक चित्रण हुआ है- 'वह क्रोध से आँखों में आँसू, विशाल कपोलों पर पसीने की धार तथा हाथों में स्वेदकणिका लिए मदस्रावी कुंजर की भाँति सुशोभित हो रहा था। टेढ़े भ्रूद्वयवाला एवं अधिक भ्रूभङ्ग होने से भयङ्कर ललाट वाले शिशुपाल का मुख मानो पुनः तृतीय नेत्र से युक्त-सा होकर भयावह (क्रूर) हो गया।[1] शिशुपाल ने विशाल पर्वत के चट्टान के समान कठोर अपने जङ्घे पर हाथ पटकते हुए जोर से ताल ठोका, जिसके भयङ्कर शब्द को भयभीत और घबड़ाकर चञ्चल हुए सभासदों ने सुना।[2] इस प्रकार शिशुपाल के क्रोध के अनुभावों[3] का माघकवि ने कुशलतापूर्वक चित्रण किया है।

शिशुपाल धर्मराज युधिष्ठिर, भीष्म और श्रीकृष्ण के प्रति उपालम्भपूर्ण तथा क्रोध से निष्ठुर वचन कहने लगा। शिशुपाल सर्वप्रथम पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर को अपमानित करते हुए कहता है- युधिष्ठिर जो तुमने राजभिन्न इस कृष्ण को राजाओं के समान अर्घ्य दिया है, वह कृष्ण उसी प्रकार इन राजाओं के यहाँ उपस्थित रहने पर इस अर्घ्य (अग्रपूजा) पाने के योग्य नहीं है, जिस प्रकार अग्नि के जलते रहने पर हविष्य पाने के योग्य श्वान नहीं होता।[4]

यहाँ आलम्बन श्रीकृष्ण है, युधिष्ठिर द्वारा उनको अर्घ्य दिया जाना उद्दीपन विभाव है, शिशुपालकृत आत्म-प्रशंसा तथा श्रीकृष्ण निन्दा अनुभाव, पद, अमर्ष आदि सञ्चारी भाव है। पुनश्च शिशुपाल युधिष्ठिर से कहता है- 'हे पृथापुत्र! यदि तुम लोगों को यह शौरि ही पूज्यतम था तो क्यों अपमान करने के लिए यहाँ पर (यज्ञ में) सारे भूपतियों को बुलाया था।'[5]

यहाँ शिशुपाल के क्रोध भाव की व्यञ्जना हुई है।

---

1. शि.व. 15/4-8
2. शि.व. 15/10
3. साहित्यदर्पण-भ्रुविभङ्गौष्ठनिर्दशबाहुस्फोटनतर्जना:।
   आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च।।
   उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः अनुभावा:। 3/229-30
4. यदराज्ञि राजवदिहार्घ्य मुपहितमिदं मुरद्विषि।
   ग्राम्यमृग इव हविस्तदयं भजते ज्वलत्सु न महीशवह्निषु।। शि.व. 15/15
5. यदि वार्चनीयतम एव किमपि भवतां पृथासुता:।
   शौरिरवनिपतिभिर्निखिलैरवमाननार्थमिह निमन्त्रितै:।। शि.व. 15/18

भीष्मपितामह को दुर्वचन सुनाते हुए शिशुपाल कहता है कि- समुन्नत नृपगण को त्यागकर नीच आचरण वाले निम्न कृष्ण पर जो तुमने अपनी अनुरक्ति दिखायी है, उससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः तुम निम्नगा (गङ्गा) पुत्र हो।[1]

तदनन्तर शिशुपाल यज्ञसभा में उपस्थित राजाओं के क्रोध को बढ़ाता हुआ कहता है- हे नृपगण! सिंह के समान आप लोगों का अनादर करके पृथा पुत्र युधिष्ठिरादि के द्वारा श्रृगाल के समान कृष्ण की जो पूजा की गयी, वह आप लोगों का तिरस्कार है।[2]

शिशुपाल के दुर्वचन सुनकर भीष्म पितामह ने कहा कि- 'मेरे द्वारा इस राजसूय यज्ञ-सभा में की गयी श्रीकृष्ण की पूजा का जो नहीं सहन करता वह युद्ध करने के लिए धनुष चढ़ावे, सब राजाओं के मस्तक पर मेरा यह पैर रखा है।'[3]

यहाँ भीष्मपितामह के क्रोधजनित अमर्ष की अभिव्यञ्जना हुई है। भीष्मपितामह के वचन को सुनकर शिशुपालपक्षीय राजा अतिक्षुब्ध हो गये। उनके गात्रारब्ध क्रोधानुभावो का अत्यन्त मनोरम चित्रण हुआ है। शिशुपाल अन्त में पाण्डवों, भीष्म तथा श्रीकृष्ण सबको कटुतम परुष वचन कहते हुए ललकारता है- 'हे राजाओं! इन पाँच जारजपुत्रों तथा वृद्ध राजकन्या के साथ वध करने के योग्य इस कंस के दास कृष्ण को क्यों नहीं मारते हो?'[4]

शिशुपाल की ये उपर्युक्त सभी बाते उसके क्रोध भाव के अनुभाव रूप में वर्णित है।

इसके अनन्तर शिशुपाल के गर्व तथा अमर्ष आदि सञ्चारी भावों की मनोहारी व्यञ्जना हुई है।[5]

शिशुपाल के कथन से गर्व तथा अमर्ष आदि सञ्चारी भाव स्पष्टतः प्रतीत होते है।

---

1. अवनीभृतां त्वमपहाय गणमतिजडः समुन्नतम्।
   नीचि नियतमिव यच्चपलो निरतः स्फुटं स्वसि निम्नगासुतः।। शि.व. 15/21
2. मृगविद्विषामिव यदित्थमजनि मिषतां पृथासुतैः।
   अस्य वनशुन इवापचितिः परिभाव एव भवतां भुवोऽधिपाः।। शि.व. 15/34
3. विहितं मयाद्य सदसीदमपमृषितमच्युतार्चनम्।
   यस्य नमयतु स चापमयं चरणः कृतः शिरसि सर्वभूभृताम्।। शि.व. 15/46
4. किमहपो नृपाः सममम्मीभिरुपपतिसुतैर्न पञ्चभिः।
   वध्यमभिहत भुजिष्यममुं सह चानया स्थविरराजकन्यया।। शि.व. 15/63
5. विदतुर्यमुत्तममशेषपरिषदि नदीजधर्मजौ।
   यातु निकषमधियुद्धमसौ वचनेन किं भवतु साध्वसाधु वा।। शि.व. 15/65

शिशुपालवध महाकाव्य में रौद्र रस के प्रसङ्ग में क्रोध के अनुभावों का अवसर तथा पात्रभेद से बहुशः वर्णन हुआ है किन्तु उसमें किसी प्रकार का वैरस्य नहीं आने पाया है। एक तो अवसर तथा पात्र को देखते हुए क्रोधानुभावों के वर्णन में औचित्य का सतत ध्यान रखा गया है। दूसरे एक स्थल का क्रोधानुभाव वर्णन दूसरे स्थल के क्रोधानुभाव वर्णन से भिन्न है, इस भिन्नता का कारण माघकवि की विविध कल्पनाएं तथा काव्य-रचना कौशल हैं। सम्पूर्ण षोडश सर्ग में शिशुपाल द्वारा भेजे गये प्रतिभावान् दूत की श्लिष्ट व्यङ्ग्यमयी वाणी को सुनकर राजसूययज्ञ-सभा तत्काल क्षुब्ध हो गयी। इस प्रसङ्ग में यज्ञसभा में उपस्थित राजाओं के क्रोधानुभावों का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है। दूत के सारे वचन श्रीकृष्ण के क्रोध को उद्दीप्त करने वाले हैं और वह क्रोध युद्धोत्साह अथवा वीर रस का अङ्ग है। वाग्मीदूत के वचनों को सुनने के अनन्तर यदु-सभा विक्षुब्ध हो उठी और उसकी क्रोधमयी विविध प्रतिक्रियाएं हुईं।

सभाक्षोभ वर्णन प्रसङ्ग में राजाओं के क्रोधानुभाव का अत्यन्त स्वाभाविक अनुभाव वर्णित हुआ है- 'अपनी हथेली से स्कन्धप्रदेश को स्फालित करने पर श्रीकृष्ण के छोटे भाई गद के भुजबन्ध (केयूर) टूट जाने पर टूट-टूटकर उछलते हुए पद्मराग मणियों से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों चिनगारी युक्त यह क्रोधाग्नि ही स्पष्ट रूप से निकल रही हो।'[1]

प्रसेनजित् अपनी मदकलुषित आँखो को घुमाते हुए हाथ से भयङ्कर भूतल पीटते हुए क्रोध से अत्यन्त लालरंग हो गये थे, मानो गौरिक धातु से रक्तगज हो।[2]

युद्ध करते हुए शूरवीर क्रोधान्ध हो गये थे। वे शत्रु के सामने इतने वेग से दौड़े कि सामने शत्रु के द्वारा पकड़ी गयी तलवार की नोंक उसकी मूठतक उनके वक्षःस्थल में शत्रु के प्रयत्न नहीं करने पर भी प्रविष्ट हो गयी।[3]

यहाँ रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध की जैसी व्यञ्जना हुई है, वह सहृदयों से अज्ञात

---

1. अलक्ष्यत क्षणदलिताङ्गदे गदे करोदर प्रहितनिजांसधामनि।
   समुल्लसच्छकलितपाटलोपलैः स्फुलिङ्गवान्स्फुटमिव कोपपावकः।। शि.व. 17/3
2. विवर्तयन्मदकलुषीकृते दृशौ कराहतक्षितिकृतभैरवारवः।
   क्रुधा दधत्तनुमति लोहिनीमगूत्प्रसेनजिद्गज इव गैरिकारुणः।। शि.व. 17/13
3. आधावन्तः सम्मुखं धारितानामन्यैरन्ये तीक्ष्णकौक्षेयकाणाम्।
   वक्षःपीठैरात्सरोरात्मनैव क्रोधेनान्धाः प्राविशन्पुष्कराणि।। शि.व. 18/17

नहीं है। उस तुमुल युद्ध में पदातियों के क्रोध की व्यञ्जना इस प्रकार हुई है- शत्रुओं के खड्ग से कटे हुए खड्गवाले पैदल सैनिक क्रोध के कारण दाँतो से शत्रु को इस प्रकार काटने लगे, जैसे शत्रुओं के खड्ग से कटे हुए सूँड़ तथा पूंछवाले हाथी क्रोध के कारण दाँतो से शत्रु को छेदते हैं।[1]

यहाँ शत्रुगण आलम्बन है, उनके द्वारा खड्ग का काटा जाना उद्दीपन है, पदातियों का उन्हे दाँत से काटना अनुभाव तथा उग्रता और अमर्ष आदि सञ्चारी भाव है।

बीसवें सर्ग में शिशुपाल के क्रोध का वर्णन करते हुए माघकवि की उक्ति है- 'युद्ध में श्रीकृष्ण के पराक्रम को नहीं सहन करते हुए अतएव क्रोधजन्य सिकुड़न से तीन-रेखाओं वाले, चढ़ी हुई भृकुटि से भयङ्कर मुख को धारण करते हुए निर्भीक शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को युद्धार्थ ललकारा।'[2]

यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन है, उनकी चेष्टाएं उद्दीपन है, शिशुपाल के मुख का भ्रूयुगल भीषण होना आदि अनुभाव तथा गर्व, अमर्ष आदि सञ्चारी भाव है।

भयानक रस ध्वनि :

शिशुपालवध महाकाव्य में 'भय' भाव की यत्र-तत्र मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है। वीर रस प्रधान काव्य तथा महाकाव्य में जहाँ भी युद्ध या वीरता प्रदर्शन का प्रसङ्ग आता है, प्रायः वहाँ 'भयानक' का प्रसङ्ग आना स्वाभाविक है। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में हिरण्यकशिपु असुर द्वारा देवताओं के अन्तर्मन में प्रथम बार ही 'भय' से द्वेष करने वाले तथा सर्वप्रथम 'असुर' कहे जाने वाले हिरण्यकशिपु ने देवों के मन में सर्वप्रथम भय को उत्पन्न कर दिया।[3]

यहाँ हिरण्यकशिपु देवताओं के भय का प्रथम आलम्बन हुआ। देवगण ने हिरण्यकशिपु के भय से अपने नगरों को दुर्ग बना लिया, शस्त्रास्त्र को तेज कर लिया, सेना को शूरवीर

---

1. दन्तैश्चिच्छिदिरे कोपात् प्रतिपक्षं गजा इव।
   परनिंस्त्रिशनिर्लूनकरवालाः पदातयः।। शि.व. 19/55
2. मुखमुल्लसित त्रिरेखमुच्चैभिदुरभ्रूयुगभीषणं दधानः।
   समिताविति विक्रमानमृष्यन्गतभीराह्वत चेदिराण्मुरारिम्।। शि.व. 20/1
3. समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम्।
   भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत।। शि.व. 1/43

बना लिया तथा कवच को दुर्भेद्य बना लिया।[1]

यहाँ देवताओं के भय भाव की व्यञ्जना हुई है।

लक्ष्मी का आश्रयभूत वह हिरण्यकशिपु दूसरे-दूसरे लोकों में भ्रमण करता हुआ स्वेच्छा से जिस दिशा में जाता था, मुकुटों में जड़े गये रत्नों पर हाथ रखे हुए देवगण उस दिशा के लिए तीनों सन्ध्याओं में नमस्कार करते थे।[2]

पुनः उसी हिरण्यकशिपु के रावण अवतार में देवताओं के भय भाव का नैसर्गिक चित्रण हुआ है- हिरण्यकशिपु के अवताररूप रावण के भय से बलशत्रु (इन्द्र) युद्धस्थल से भागते समय अपने ऐरावत हाथी तथा उच्चैःश्रवा घोड़े की तीव्र गति की ही प्रशंसा करते थे, उनकी विशिष्ट गति की नही।[3]

पुनश्च जिस प्रकार अस्थिर दृष्टि उलूक परम तेजस्वी सूर्य को देखने में असमर्थ होकर हिमालय की गुफा में प्रवेश कर भयभीत होकर दिन व्यतीत करता है, उसी प्रकार रावण के भय से चञ्चल नेत्रवाले इन्द्र ने सूर्य के समान तेजस्वी रावण को देखनें में असमर्थ होकर अपनी अमरावती पुरी छोड़कर हिमालय की कन्दरा में व्यतीत किया।[4]

प्रथम सर्ग में इसी प्रकार रावण से भयभीत इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की भयक्रिया का काल्पनिक चित्रण हुआ है।

द्वादश सर्ग में युद्धस्थल से कुछ लोगों के पलायन का वर्णन करते हुए माघकवि की उक्ति है- "वृक्ष की दाढ़ी के समान आचरण करते हुए मधुमक्खी के छत्ते से कपोल रगड़ते हुए हाथी के द्वारा हिलाये जाने पर बड़ी मधुमक्खियों से काटे जाते हुए लोग व्याकुलतापूर्वक भय से भाग गयो।[5]

यहाँ गज आलम्बन है, उसकी चेष्टा तथा उन लोगों का मधुमक्खियों द्वारा काटा जाना

---

1. पुरापि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि धनाश्च कंचुकाः।
   स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां, गणैर्यमाशंक्य तदादि चक्रिरे।। शि.व. 1/45
2. स संचरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां, यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
   अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः।। शि.व. 1/46
3. सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम्।
   अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्यशत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम्।। शि.व. 1/52
4. अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
   प्रविश्य हेमाद्रिगृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः।। शि.व. 1/53
5. श्मश्रूयमाणे मधुजालके तरोर्गजेन गण्डं कषता विधूनिते।
   क्षुद्राभिरक्षुद्रतराभिराकुलं विदश्यमानेन जनेन दुद्रुवे।। शि.व. 12/54

उद्दीपन है, पलायन अनुभाव है, त्रास, श्रम आदि सञ्चारी भाव है।

अष्टादश सर्ग में भय भाव की अभिव्यञ्जना हुई है- 'शत्रु के बाण से कटी हुई गर्दनवाले अतएव आकाश की ओर अत्यन्त ऊँचे उछले हुए, समान भयङ्कर आकार वाले किसी शूरवीर के मुख से अप्सराओं का मुखरूपी चन्द्रमा भयभीत हो गया।'[1]

यहाँ 'भय' नाम स्थायी भाव की व्यञ्जना हुई है।

वीभत्स रस ध्वनि

शिशुपालवध महाकाव्य में वीभत्स रस के स्थायी भाव जुगुप्सा की व्यञ्जना युद्ध प्रसङ्ग में यत्र-तत्र हुई है। प्राय: वीभत्स रस के वर्णन में आलम्बन विभाव का स्वरूप मात्र चित्रण कर दिया जाता है। षड्ऋतुवर्णन प्रसङ्ग में बसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए माघकवि ने अशोक पुष्प के वर्णन को जुगुप्सामय बना दिया है- 'तपाने से शुद्ध सोने की कान्ति वाले पीतवर्ण चम्पा के पुष्पों से युक्त अशोक का पुष्प विरहियों के विदीर्ण हुए हृदय के कामाग्नि से अर्धदग्धकर कपिशवर्ण किये गये मांस के सदृश शोभमान हो रहा था।'[2]

युद्ध स्थल में प्रवाहित शोणित-नदियों से संसक्त वीरों के मृतशरीर से क्रव्याद् पक्षियों एवं पशुओं की क्षुधायुक्त चेष्टाएं वीभत्स रस की आलम्बन बनती है- युद्ध भूमि के लघुतम गर्त में एकत्रित आयुध से कटे हुए लोगो का रक्त जो शोभ रहा था, वह यमराज की रमणियों के दुपट्टे को रंगने के लिए मानों कुसुम्भ-पुष्प का घोला हुआ पानी हो।[3]

यहाँ रक्त रूप आलम्बन का स्वरूप चित्रण किया गया है।

इसी प्रकार नभचर पक्षी रूप आलम्बन का स्वरूप चित्रण किया गया है- 'मांस के लिए मरे हुए लोगों के ऊपर आकाश में विचरण करते हुए पक्षी ऐसे ज्ञात होते थे कि मानो

---

1. लूनग्रीवात् सायकेनापरस्य द्यामत्युच्चैराननादुत्पतिष्णोः।
   त्रेसे मुग्धैः सैहिकेयानुका राद्रौद्राकारादप्सरोवक्त्रचन्द्रैः।। शि.व. 18/59
2. स्फुटमिवोज्ज्वलकाञ्चनकान्तिभि, र्युतमशोकमशोभत चम्पकैः।
   विरहिणां हृदयस्य भिदाभृतः, कपिशितं पिशितं मदनाग्निना।। शि.व. 6/5
3. निम्नेष्वोघीभूतमस्त्रक्षतानामस्रं भूमौ यच्चकासाञ्चकार।
   रागार्थं तत्किं तु कौसुम्भमम्भः संव्यानानामन्तकान्तपुरस्य।। शि.व. 18/69

इस समय मरने पर भी भयङ्कर शस्त्रों से शरीर को छोड़े हुए शूरवीरों के मूर्तिमान प्राण ही उड़ रहे हों।[1]

पुनश्च श्रृगाल भूख को जगाने के लिए अजीर्ण तथा ग्लानि को दूर करने वाले रक्तरूपी मद्य को पीकर कलेजे के मांसरूप उपदंश को स्वादयुक्त करके खाता है और विकृत शब्द करता है।[2]

यहाँ श्रृगाल रूप आलम्बन का स्वरूप चित्रण किया गया है। अठारहवें सर्ग में इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दर्शनीय है।[3]

वीभत्स रस का एक दृश्य उन्नीसवें सर्ग में दृष्टिगोचर होता है जब- शस्त्रास्त्र के आघात से युक्त शूरवीर व्यक्ति चेष्टा के वेग को रोकता हुआ रुधिर-वमन कर दिया और ताजे मेदा तथा चर्बी को खाने वाले राक्षस तथा पिशाच हर्षित हो रहे थे।[4]

यहाँ राक्षस तथा पिशाच की भूखभरी चेष्टाएं आलम्बन हैं।

इसी प्रकार वीभत्स रस का एक दृश्य इस महाकाव्य के 20वें सर्ग में दृष्टिगत होता है- जब शिशुपाल के ललकारने पर श्रीकृष्ण का रथ 'जागुड' नामक देश के कुंकुम के समान अत्यन्त लाल, बोझिल नेमियों (पट्टियों) के ऊपरी भागों के निपीडन से विदीर्ण मुर्दों के रक्तों से पृथ्वी का लेपन करता हुआ शिशुपाल के सम्मुख हुआ।[5]

यहाँ जुगुप्सा भाव की अभिव्यञ्जना हुई है।

करुण-रस ध्वनि

शिशुपालवध महाकाव्य में करुण रस का प्रसङ्ग कहीं भी विशिष्ट रूप से नहीं दिखायी देता। प्रथम सर्ग में रावण के द्वारा किये गये द्युसद दुर्ग के चित्रण में करुण रस की झलक मिलती है, जैसे- रावण ने अपना शार्ङ्धनुष बनवाने के लिए यमराज के वाहन भैंसे के सींगों

1. उत्क्रान्तानामामिषायोपरिष्टादध्याकाशं बभ्रमुः पत्रवाहाः।
   मूर्ताः प्राणा नूनमद्याप्यवेक्षामासुः कायं त्याजिता दारुणास्त्रैः।। शि.व. 18/73
2. ग्लानिच्छेदीक्षुत्प्रबोधाय पीत्वा रक्तारिष्टं शोषिताजीर्णशेषम्।
   स्वादुंकारं कालखण्डोपदंशं क्रोष्टा डिम्बं व्यष्वणद्व्यस्वनच्च।। शि.व. 18/77
3. शि.व. 18/75-56, 72, 76
4. असृग्जनोऽस्त्रक्षतिमानवमज्जवसादनम्।
   रक्षः पिशाचं मुमुदे नवमज्जवसादनम्।। शि.व. 19/78
5. शि.व. 20/3

को उखाड़ लिया। यद्यपि भार तो हल्का हो गया, किन्तु पराजयजन्य लज्जा के भार से वह महिष आज तक दु:ख से सिर झुकाकर रखता है।[1]

इसी प्रकार मानी रावण के द्वारा विदग्ध लीलावती स्त्रियों के योग्य दन्तपत्रिका बनाने की इच्छा से किसी समय उखाड़ा गया विनायक का एक दाँत आज तक पुनः नहीं उगा।[2]

रावण के लोकपराभावुक अतिशय श्रेष्ठ तेजों के महत्व से बार-बार तिरस्कृत अतएव दुर्बल अग्नि ने मानसिक पीड़ाजन्य वाष्प से द्विगुणित धूम समूह को धारण किया।[3]

एकादश सर्ग में प्रभातवर्णन के कल्पना प्रवाह में भी करुण रस की अभिव्यञ्जना प्रतिबिम्बित होती है। अभी-अभी मेरी प्रियतमारूपिणी कुमुदिनियाँ मुकुलित हो गयी, हाय! रात्रि भी नष्ट हो गयी, वे सभी ताराएं भी अस्त हो गयी; इस प्रकार चिन्ता करता हुआ पत्नी वत्सल चन्द्रमा मानों शोक से शोभाहीन सम्पूर्ण अङ्गो को धारण कर रहा है।[4]

यहाँ चन्द्रमा के शोक भाव की व्यञ्जना हुई है।

पुनश्च पन्द्रहवें सर्ग में करुण रस का शोक भाव प्रतिबिम्बित होता है- जब रमणी प्रियतम के विजय मङ्गलार्थ आँसू रोकने पर भी, शोक शिथिल भुजा से गिरते हुए कङ्कण को नहीं जान पाती।[5]

चेदिनरेश शिशुपाल के शिविर में वीर यादव सैनिकों द्वारा यादवाङ्गनाओं से विदायी लेते समय भी यत्र-तत्र करुण प्रसङ्ग प्रतिबिम्बित होता है- 'माता के डाँटने से बढ़े हुए कोपवाले बालक से हे पिताजी! आप कहाँ जा रहे है? इस प्रकार अस्पष्ट तोतली वाणी में

---

1. परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः।
   हृतेऽपि भारं महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः।। शि.व. 1/57
2. विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना।
   न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति।। 1/60
3. तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
   बभार वाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनून पाद्धूमवितानमाधिजैः।। शि.व. 1/62
4. सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितं हा क्षपापि, क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः।
   इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नङ्गमिन्दुर्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभं शुचेव।। शि.व. 11/24
5. न मुमोच लोचनजलानि दयितजयमङ्गलैषिणी।
   यातमवनिमवसन्नभुजान्न गलद्विवेद वलयं विलासिनी।। शि.व. 15/85

कहने पर भी अभ्यास के कारण समझे गये वचन ने युद्ध में जाते हुए शूरवीर के धैर्य को भग्न कर दिया।'[1]

यहाँ दम्पतियों के विषाद, चिन्ता, शङ्का आदि सञ्चारी भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है।

पुनश्च रमणी का शोकभाव प्रतिबिम्बित हो रहा है- 'प्रियतम के (युद्धार्थ) जाते रहने पर नम्रभूवाली रमणी का रोका गया आँसू गिर ही पड़ा क्योंकि अकृत्रिम अनुराग युक्त स्नेह को धारण करते हुए अत्यन्त सरल चित्तवालों के लिए यह उचित भी है।'[2]

यहाँ रमणी का स्नेह भी करुणा का ही पोषक व्यभिचारी भाव है।

प्रिय का पुनः दर्शन अत्यन्त दुर्लभ जानकर प्रियतम के युद्धस्थल में जाते समय अतृप्त मन से वह जहाँ तक मार्ग दिखायी पड़ता है- 'वहाँ तक रमणी अपलक दृष्टि से उसे देखती रहती है।'[3]

यहाँ रमणी के प्रिय के प्रति स्नेह पर करुणा की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है।

अद्भुत रस ध्वनि

माघकवि के शिशुपालवध महाकाव्य में अद्भुत रस के स्थायी भाव 'विस्मय' की मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है। अद्भुत रस अतिशयोक्ति जन्य होता है और अतिशयोक्ति वस्तुतः कवि-कल्पना के मूल में होती है। सम्भवतः इसीलिए कुछ चमत्कारवादी आचार्यों नें अद्भुत रस को सर्वव्यापी माना है। अतएव साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के पितामह नारायण कवि ने अद्भुत रस की सत्ता काव्य में सर्वत्र व्याप्त माना है।[4]

---

1. व्रजतः क्व तात व्रजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम्।
   धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना।। शि.व. 15/87
2. म्रियमाणमप्यगलदश्रु चलति दयिते नतभ्रुवः।
   स्नेहमकृतकरसं दधतामिदमेव युक्तमतिमुग्धचेतसाम्।।
3. विदुषीव दर्शनममुष्य युवतिरतिदुर्लभं पुनः।
   यान्तमनिमिषमतृप्तमनाः पतिमीक्षिते स्म भृशमा दृशः पथः।। शि.व. 15/94
4. रसेसारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरसः।
   स्माद्भुतमेवाहकृती नारायणो रसम् - साहित्यदर्पण 3

प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद का सर्वत: प्रसारी तेज: पुञ्ज रूप में अम्बरतल से उतरना और उनका क्रमश: नारद रूप में अभिव्यक्त होना वस्तुत: वासुदेव सद्म के लोगों के लिए विस्मयावह था- 'श्रीकृष्ण के अभ्युत्थान करने के बाद प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठाने पर भी अधिक भार होने से झुकते हुए फणाओं वाले सर्पसमूहों से नीचे की ओर कथञ्चित् अत्यन्त कठिनाई से धारण किये गये भूतल पर ब्रह्मा के पुत्र देवर्षि नारद देवकीनन्दन के समक्ष भूतल पर खड़े हुए।'[1]

यहाँ देवर्षि नारद के गौरवाधिक्य प्रदर्शन से 'विस्मय' भाव की अभिव्यञ्जना हुई है।

पुनश्च तृतीय सर्ग में श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ-प्रस्थान के समय तैयार होना, जिसमें उनके दिव्य नेपथ्याभूषण तथा दिव्यास्त्रसन्निधान वर्णित है, वस्तुत: परम विस्मय कारक हुआ है। इन्द्रप्रस्थ प्रस्थान के समय लोकत्रय को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण जिस भूभाग से चले, पृथ्वी को धारण करनेवाले शेषनाग ने उस भूभाग के नीचे अधिक भार से झुकते हुए सहस्र मस्तकों की सहायता में व्यस्त भुजाओं को फैलाया।[2]

अनेकश: देखे गये दोषवर्जित श्रीकृष्ण जी को देखने के इच्छुक जनसमूह सभी गलियों से समीप में आये। अहो आश्चर्य है कि अत्यधिक प्रेम बहुश: परिचित को भी नवीन बना देता है।[3]

यहाँ जनसम्मर्द के विस्मयादि भाव की व्यञ्जना' हुई है।

तृतीय सर्ग में द्वारिका नगरी का वैभव वर्णित है, जहाँ अद्भुत रस के अनेक स्थल दृष्टिगोचर होते हैं- 'जिस द्वारिकापुरी में रात्रियों में स्त्रियाँ स्फुरित होते हुए चन्द्रकिरण-समूहों से छिपी हुई शुभ्रवर्ण होने से एक रूप होने के कारण अभिन्न हाती हुई, स्फटिक रत्नों के महलों की श्रेणियों पर चढ़कर आकाशस्थ देवाङ्गनाओं के समान शोभमान हो रही थी।'[4]

---

1. अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरध:।
   न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले।। शि.व. 1/13
2. यत: स भर्ता जगतां जगाम धर्त्रा धरित्या: फणिना ततोऽध:।
   महाभराभुग्नशिर:सहस्रासाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे।। शि.व. 3/25
3. दिदृक्षमाणा: प्रतिरथ्यमीयुर्मुरारिमारादनघं जनौघा:।
   अनेकश: संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति।। शि.व. 3/31
4. स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुता: स्फाटिकसौधपङ्क्ती:।
   आरुह्य नार्य: क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन्।। शि.व. 3/43

पुनश्च द्वारिका-नगरी के वैभव वर्णन में विस्मय भाव की व्यञ्जना हुई। जब-अन्त:करण जिसका भूयश: कल्पना करता है, कल्पवृक्ष उसी को फल देते हैं. किन्तु द्वारिका-नगरी में निवास करनेवाले जनसमूह की जो सम्पत्तियाँ हुई वे मानसिक कल्पना से भी परे थीं, अतएव वह द्वारिकापुरी स्वर्ग से भी श्रेष्ठ थी।[1]

चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत वर्णन प्रसङ्ग में अद्‌भुत रस की मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है। रैवतक पर्वत का प्राय: प्रत्येक श्लोक अद्‌भुत रस का एक छलकता हुआ चषक की भाँति है। श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए देवताओं द्वारा सुमेरु से लाकर उसके शिखरों से उन्नत किये गए रैवतक पर्वत की ऊँचाई तथा सुन्दरतारूपी गुण प्रगल्भवक्ता कवियों को असत्य कहनेवाला नहीं बनाया।[2]

रैवतक पर्वत पर परस्पर मिश्रित होने से सुन्दर अतएव अनेकविध रङ्गवाले, दोषरहित श्रेष्ठजातीय रत्नों के उत्पन्न किरणों से आकाश में बिना दीवार के बनायी गयी चित्रकारी आकाशगामियों को आश्चर्यचकित कर देता है।[3]

यहाँ 'विस्मम' स्वशब्द से अद्‌भुत रस की व्यञ्जना हुई है।

षष्ठ सर्ग में रैवतक पर्वत पर षड्ऋतुओं का युगपत् एक साथ उपस्थित हो जाना स्वयं में विस्मयावह है।

पुनश्च त्रयोदश सर्ग में 'मय' नामक असुर के द्वारा वृषपर्वा के सुन्दर मणिमय काष्ठ से निर्मित धर्मराज युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ-सभा का परम विस्मयकारक स्वरूप निरुपित किया गया है। यथा- जिस सभा में चारो ओर से स्फुटित होती हुई खड्ग के समान कान्ति वाली इन्द्रनीलमणि की भूमि में दूसरे व्यक्ति के द्वारा हँसने के लिए उपेक्षित लोगों नें पानी की आशङ्का से दूर तक वस्त्र उठाने से उपहास के पात्र बन गये।[4]

---

1. क्षुण्णं यदन्त:करणेन वृक्षा: फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव।
   अध्यूषुषो यामभवञ्जनस्य या: सम्पदस्ता मनसोऽप्यगम्या:।। शि.व. 3/59
2. मुदे मुरारेरमरै: सुमेरोरानीय यस्पचितस्य श्रृङ्गै:।
   भवन्ति नोद्‌दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्या:।। शि.व. 4/10
3. अन्योन्यव्यतिकरचारुभिर्विचित्रैरत्रस्यन्नवमणिजन्मभिर्मयूखै:।
   विस्मेरान्गगनसद: करोत्यमुष्मिन्नाकाशे रचितमभित्तिचित्रकर्म।। शि.व. 4/53
4. हसितुं परेण परित: परिस्फुरत्करवालकोमलरुचावुपेक्षितै:।
   उदकर्षि यत्र जलशङ्कया जनैर्मुहुरिन्द्रनीलभुवि दूरमम्बरं।। शि.व. 13/60

यहाँ इन्द्रनीलमणि जटित भूमि पर जल की आशङ्का होने के कारण 'विस्मय' भाव की अभिव्यञ्जना हुई है।

अष्टादश से विंश सर्ग के मध्य युद्ध-वर्णन प्रसङ्ग में अनेक विस्मयकारक दृश्य वर्णित किये गए हैं। विंश-सर्ग के अन्तिम श्लोक में अद्भुत रस की स्पष्टतः अभिव्यञ्जना हुई है, जब श्रीकृष्ण ने अपनें 'ज्वालापल्लवित सुदर्शन चक्र' से शिशुपाल का शरीर शिर से विहीन कर दिया और दिव्यशोभा-भास्वर, आकाश में सूर्यरश्मियों को तिरस्कृत करता हुआ, ऋषिगणों द्वारा स्तूयमान, दिव्य दुन्दुभिनाद एवं पुष्पवृष्टि के साथ एक दिव्य तेजपुञ्ज शिशुपाल के शरीर से निकलकर श्रीकृष्ण के शरीर में प्रवेश करता हुआ राजाओं के द्वारा आश्चर्यचकित नेत्रों से देखा गया।[1]

यहाँ शिशुपाल के शरीर से निकलने वाला तेज आलम्बन विभाव है, उस तेज का श्रीकृष्ण के शरीर में प्रविष्ट होना उद्दीपन, राजाओं के नेत्रों का विकसित होना अनुभाव है तथा हर्ष आदि सञ्चारी भाव है। यद्यपि यहाँ विस्मित शब्द के प्रयोग से स्वशब्द वाच्यत्व दोष आ गया है किन्तु उससे विस्मय भाव के अभिव्यञ्जना में कमीं नहीं आने पाती क्योंकि विभावादि का सम्यक् निरूपण हुआ है।

शान्त-रस ध्वनि

महाकवि माघ मुख्यतः कृष्ण भक्ति के कवि थे। उनके द्वारा विरचित शिशुपाल वध महाकाब्य एक नवरस-रुचिर रचना है। माघकवि ने अपने महाकाव्य को लक्ष्मीपति विष्णु के अवताररूप श्रीकृष्ण के चरित-कीर्तनमात्र से चारु माना है। इस दृष्टि से शिशुपालपध महाकाव्य का पर्यवसायी रस भक्ति है, अतएव यह महाकाव्य समग्र रूप में एक स्तोत्रकाव्य है। माघकवि ने श्रीकृष्ण के चरित्र वर्णन में जो सामान्य नायक-चरित की परम्परा का निर्वाह किया है, इससे इस महाकाव्य का अङ्गी रस वीर ही माना जायेगा। इस महाकाव्य में शान्त रसकी यत्र-तत्र अभिव्यञ्जना हुई है। एकादश सर्ग के प्रभात-वर्णन प्रसङ्ग में ज्ञानजन्य निर्वेद

---

1. श्रिया जुष्टं दिव्यैः सपटहरवैरन्वितं पुष्पवर्षै र्वपुष्टश्चैद्यस्य क्षणमृषिगणैः स्तूयमानं निरीय।
प्रकाशेनाकाशे दिनकरकरान्विक्षिपद्विस्मिताक्षैः नरेन्द्रैरौपेन्द्रं वपुरथ विशद्धाम वीक्षांबभूवे।। शि.व. 20/79

भाव की व्यञ्जना हुई है- 'कुमुदवन श्रीहीन हो रहा है, कमलसमूह शोभायुक्त हो रहा है, उलूक प्रसन्नता का परित्याग कर रहे हैं, चक्रवाक प्रसन्न हो रहा है, भगवान् भास्कर उदयोन्मुख हैं और चन्द्रमा अस्तोन्मुख है। दुर्दैव की चेष्टाओं का परिणाम विचित्र होता है।[1]

यहाँ शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' की मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है।

भक्तिवात्सल्यादिभाव ध्वनि

काव्य मर्मज्ञ आचार्यों द्वारा रतिभाव के आलम्बन-भेद से भिन्न रस रूप में भक्ति एवं वात्सल्य भाव माने गये हैं। भक्ति एवं वात्सल्य भाव काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध नव रसों से पृथक प्रतीत होते हैं। माघकवि द्वारा शिशुपालवध महाकाव्य में भक्ति एवं वात्सल्य भाव यत्र-तत्र चित्रित किये गए हैं।

प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद एवं श्रीकृष्ण-संवाद प्रसङ्ग में भक्ति रस की अभिव्यञ्जना हुई है। श्रीकृष्ण के लिए यदि नारद पूज्यतम जगद्वन्द्य देवर्षि हैं तो देवर्षि नारद के लिए श्रीकृष्ण मनुजरूप में साक्षात् परब्रह्मपरमात्मा हैं। देवर्षि नारद एवं श्रीकृष्ण का परस्पर एक दूसरे के प्रति अमायिक भक्ति है। युगान्तकाल में जीवों का उपसंहार करनेवाले कैटभारि श्रीकृष्ण के जिस शरीर में चतुर्दश भुवन विस्तार के साथ रहते थे, उसी शरीर में तपोधन देवर्षि नारद के आगमनं से हर्ष नहीं समा सका।[2]

यहाँ हर्ष सञ्चारी भाव की अभिव्यञ्जना हुई है।

सूर्य के समान परमतेजस्वी महर्षि नारद के समक्ष हर्ष से विकसित नेत्रद्वयको धारण करते हुए श्रीकृष्ण वस्तुतः पुण्डरीकाक्ष हुए।[3]

उपर्युक्त स्थल भक्ति के अनुभाव रूप में चित्रित है।

---

1. कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं, त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
   उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं, हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः।। शि.व. 11/64
2. युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत्।
   तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः।। शि.व. 1/23
3. निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी।
   विलोचने विभ्रदधिश्रितश्रिणी सपुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत्।। शि.व. 1/24

यदुनन्दन महर्षि नारद के प्रति श्रद्धाभाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं- हे मुने! आपके पापविनाशक इस दर्शन से ही मै कृतार्थ हो गया, तथापि मै आपके कल्याणकारी वचनों को सुनना चाहता हूँ, अथवा मङ्गल के विषय में किसको तृप्ति होती है।[1]

श्रीकृष्ण के इस स्नेहमय विनय से भक्त नारद की भक्तिभाव सहज ही सघन हो गयी होगी इसका अनुमान इस एक वाक्य से ही लगाया जा सकता है- जब देवर्षि नारद कपिल, सनत्कुमारादि निस्पृह योगियों की भी एक मात्र साध्य स्पृहा का उल्लेख करते हैं कि- हे पुरुषोत्तम! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए योगियों के भी साक्षात्करणीय आप ही हैं, अतएव आपके प्रत्यक्ष दर्शन से बड़ा क्या प्रयोजन हो सकता है![2]

देवर्षि नारद के ये वचन ज्ञानी भक्त के भावोद्गार हैं। इसी प्रसङ्ग में देवर्षि नारद की उक्ति है- हे प्रभो! आप यदि अपने बल से लोकद्रोही कंसादि का विनाश करने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण न हुए होते तो समाधिस्थ योगियों से भी अनिरूपित आप हम जैसे चर्मचक्षु को कैसे दृष्टिगोचर होते?[3]

यहाँ भक्ति भाव संसार में काव्य मर्मज्ञ-सहृदय कवि अपनी काव्य-सृष्टि का प्रजापति होता है। वह स्वेच्छा से अचेतन को चेतनवत् तथा चेतन को अचेतनवत् निरूपित करता रहता है।[4] माघकवि ने उसी भक्ति भावना की झलक सागर में बसी हुई द्वारिकानगरी में पायी। जब श्रीकृष्ण के कङ्कणों के समान सेना समूह द्वारा द्वारिकापुरी से बाहर निकलने पर सेना लहरियां उस नगरी की वीथी रूप भुजा से चूड़ियों की भांति बाहर निकल पड़ी, मानों द्वारिकापुरी को यदुनन्दन के निकलने पर अपना विशाल द्वारवाला होना प्रिय नहीं लगा।[5]

---

1. विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निवर्हितांहसा।
   तथापि शुश्रुषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते।। शि.व. 1/29
2. इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरूषोत्तम! त्वया।
   त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरुयोगिनामपि।। शि.व. 1/31
3. निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि।
   समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश! मादृशाम्।। शि.व. 1/37
4. असारे खलु संसारे कविरेक: प्रजापति।
   यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते स्म।। निबन्धशतकम्
5. बलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजाया वलयैरिवास्याः।
   प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीत्।। शि.व. 3/69

इसी प्रकार श्रीकृष्ण जब इन्द्रप्रस्थ-प्रस्थान के समय सागर तट पर पहुँचे तब सागर प्रलयकाल के बान्धव तथा उत्सङ्गरूपी शैय्या पर सोने वाले, आये हुए देखकर अतिहर्ष से तरङ्गरूपी बाहुओं को फैलाकर प्रत्युद्गमन (अगवानी) किया।[1]

यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति समुद्र की भक्ति भावना की अभिव्यञ्जना हुई है।

त्रयोदश सर्ग में यमुना पार करने के पश्चात् श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ के समीप पहुँचने पर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने बन्धुपरिजन सहित जिस प्रकार उनकी अगवानी की उसमें उनकी भक्ति की सीमा तक पहुँचा स्नेह अभिव्यञ्जित होता है- श्रीकृष्ण को दूर से ही देखकर रथ से शीघ्र उतरना चाहते हुए राजा युधिष्ठिर से पहले ही स्वयं रथ से उतरे हुए श्रीकृष्ण अपने सम्भ्रम द्वारा उनसे विनय में बढ़ गये।[2]

समस्त लोकों से नमस्कृत भी पुराणपुरुष अपनी श्रेष्ठता को बढ़ाये हुए, सामने भूमि पर राशिभूत होती हुई लम्बी हार की लड़ियोवाले मस्तक से बुआ के पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर को स्वयं प्रणाम करते हैं।[3] किन्तु श्रीकृष्ण को झुके हुए शिर से भूतल का स्पर्शकर पूर्णतया प्रणाम करने के पहले ही युधिष्ठिर ने क्रम का त्याग कर उन्हें उठाकर दोनों भुजाओं को फैलाकर गाढ़ालिङ्गन कर लिया।[4] तत्पश्चात् उन्हें हृदय से लगाकर सूंघते हैं।[5] तदनन्तर श्रीकृष्ण के आलिङ्गन कर हट जाने पर भी तज्जन्य सुख के अनुभव को बार-बार होते रहने से युधिष्ठिर का शरीर रोमाञ्चयुक्त होकर विकसित होती हुई कदम्ब पुष्प के समूह के समान शोभमान हो रहा था[6] और अनुरागभक्ति धर्मराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को रथ पर बैठाकर स्वयं चाबुक पकड़ी, जैसे त्रिपुरारि के रथ को स्वयं प्रजापति ब्रह्मा ने हाँका था।[7]

---

1. तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः।
   प्रत्युज्जगामेव गुरूप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः।। शि.व. 3/78
2. अवलोक एव नृपतेः स्म दूरतो रभसाद्रथादवतरीतुमिच्छतः।
   अवतीर्णवान्प्रथममात्मना हरिविनयं विशेषयति सम्भ्रमेण सः।। शि.व. 13/7
3. शि.व. 13/8
4. शि.व. 13/9
5. शि.व. 13/12
6. सुखवेदनाह्रषितरोमकूपया शिथिलीकृतेऽपि वसुदेवजन्मनि।
   कुरुभर्तुरङ्गलतया न तत्यजे विकसत्कदम्बनिकुरम्ब चारुता।। शि.व. 13/13
7. रथमीस्थितस्य च पुराभिवर्तिन, स्तिसृणां पुरामिव रिपोर्मुरद्विषः।
   अथ धर्ममूर्तिरनुरागभावितः स्वयमादित प्रवयणं प्रजापतिः।। शि.व. 13/19

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के सारथि का कार्य किया भीम चामर डुला रहे थे और अर्जुन उनका छत्र सम्भाले हुए थे।[1] यहाँ श्रीकृष्ण जिस प्रकार पाण्डवों से मिले, उससे उनका पाण्डवों के प्रति स्नेह वात्सल्य भाव अभिव्यञ्जित होता है।

चतुर्दश सर्ग में राजसूय यज्ञ प्रारम्भ करने के पूर्व धर्मराज युधिष्ठिर के सप्रश्रय निवेदन में उनकी श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति भावना ही अभिव्यक्त होती है- युधिष्ठिर कहते हैं- हे प्रभो! यज्ञ करने की इच्छा करने वाले मेरे ऊपर आज्ञा देकर आप अनुगृहीत कीजिए क्योंकि आपके प्रधान बनने पर धर्मराज कहलाया।[2]

पुनश्च युधिष्ठिर कहते हैं- आपके अनुग्रह से विजय में मिली हुई धन-सम्पत्ति से क्या करना चाहिए? इसे हे तीनों लोकों के शासन करने वाले, आप मुझे शासित कीजिए। मै अपनें अनुजों सहित आपका आज्ञापालक हूँ।[3]

श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर के स्नेह का प्रत्युत्तर देते हुए विनय व्यक्त करते हैं- श्रीकृष्ण कहते हैं- कठोर आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर मुझको आप इच्छानुसार कर्तव्य कार्यों में नियुक्त कीजिए और अनुज अर्जुन के समान ही मुझे भी अपने अभीष्ट साधन में तत्पर समझिए।[4]

धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति स्नेह भाव का व्यभिचारी सहायक उत्साह भाव श्रीकृष्ण के इस वचन में अभिव्यक्त होता है- आपके इस राजसूय यज्ञ में जो राजा भृत्य के समान काम नहीं करेगा, रक्षक होने से संसार का बन्धु यह सुदर्शन चक्र उसके शरीर को कबन्ध शेष कर देगा।[5]

माघकवि ने चतुर्थ सर्ग में उत्प्रेक्षा अलङ्कार की योजना में वात्सल्यभाव का एक

---

1. शि.व. 13/20-21
2. सप्ततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः कुर्वनुग्रहमनुज्ञया मम।
   मूलतामुपगते प्रभो त्वयि प्रापि धर्ममयवृक्षता मया।। शि.व. 14/6
3. किं विधेयमनसा विधीयतां त्वत्प्रसाद जितयार्थसम्पदा।
   शाधि शासक जगत्त्रयस्य मामाश्रवोऽस्मि भवतः सहानुजः।। शि.व. 14/11
4. शासनेऽपि गुरुणि व्यवस्थितं कृत्यवस्तुषु नियुङ्क्ष्व कामतः।
   त्वत्प्रयोजनधनं धनञ्जयादन्य एष इति मां च मावगाः।। शि.व. 14/15
5. यस्तवेह सवने न भूपतिः कर्मकरवत्करिष्यति।
   तस्य नेष्यति वपुः कबन्धतां बन्धुरेव जगतां सुदर्शनः।। शि.व. 14/16

अतिमार्मिक चित्रण किया है- निशङ्क होकर मध्य में खेलने में सुपरिचित समुद्र को प्राप्त करने के लिए आँगे चली हुई स्वोत्पन्न नदियों के लिए वत्सलता से रैवतक पर्वत पक्षियों के करुण कूजन द्वारा मानो रो रहा है।[1]

वस्तुत: चतुर्दश सर्ग में भीष्म पितामह के उस समस्त कथन में भक्ति भाव का पूर्ण दर्शन होता है जो उन्होंने राजसूययज्ञ सभा में धर्मराज युधिष्ठिर के प्रथम अर्घ्य-योग्य व्यक्ति पूँछने पर श्रीकृष्ण के प्रति कहा। इसी प्रसङ्ग में भीष्मपितामह श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता सृष्टिकर्तृत्व, पालकत्व तथा संहर्तृत्व का वर्णन करते हुए उनके वामन, वराह आदि विशिष्ट अवतारों का यशोगान किया है, और अन्त में भीष्मपितामह कहते है कि- जिन श्रीकृष्ण की विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले लोग यज्ञों में दूर से भी पूजा करते हैं, वे तुम्हारे सामने है अतएव हे युधिष्ठिर तुम धन्य हो! पूज्य श्रीकृष्ण के लिए अर्घ देकर कल्पान्त तक साधुवाद प्राप्त करो।[2]

इस प्रकार माघकवि के द्वारा शिशुपालवध महाकाव्य में भक्तिवात्सल्यादिभाव की यत्र-तत्र मनोहारी अभिव्यञ्जना हुई है।

माघकवि ने रसभाव की अभिव्यक्ति में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन सभी गुणो का यथावसर यथोचित प्रयोग किया है। गुण रसभाव के नित्य धर्म माने गए हैं। महाकवि माघ इससे पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है कि- **नैकमोज: प्रसादो वाऽरस भावविद: कवे:।** वस्तुत: कवि की दृष्टि सर्वदा रसानुकूल माधुर्य या ओजस् गुण के व्यञ्जक वर्णो की योजना पर रही है। भाषा-भाव पर इतना विस्मयकारक अधिकार संस्कृत-साहित्य के इतिहास में किसी अन्य कवि का नही दृष्टिगोचर होता।

2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

अलङ्कार ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि

काव्य में अलङ्कारों की प्राधान्येन स्थिति रहने पर अलङ्कार ध्वनि-काव्य होता है। ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार सारा अलङ्कार प्रपञ्च काव्य के वाच्य-वाचक भाव पर ही आश्रित है। अर्थालङ्कार अभिधान के विभिन्न प्रकार हैं। वाच्यार्थ को अलंकृत करने के कारण जिन

---

1. अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिता: पुर: पतिमुपैतुमात्मजा:।
   अनुरोदितीव करुणेनपत्रिणांविरुतेनवत्सलतयैषनिम्नगा:।। शि.व. 4/47
2. धन्योऽसि यस्य हरिरेष समक्ष एव, दूरादपि क्रतुषु यज्वभिरिज्यते य:।
   दत्वार्घमत्रभवते भुवनेषु यावत्, संसारमण्डलमवाप्नुहि साधुवादम्।। शि.व. 14/87

उपमादि अलङ्कारों की अलङ्कारता सेवकत्व सिद्ध होती है, वे ही उपमादि अलङ्कार व्यङ्ग्य रूप में आ जाने के कारण अलङ्कार न होकर अलङ्कार्य बन जाते हैं। अलङ्कार्य रूप रहने पर भी उन्हें नामत: (ब्राह्मणश्रमणन्यायेन) अलङ्कार ही कहा जाता है।

संलक्ष्यक्रमध्वनि के अन्तर्गत अलङ्कार ध्वनि तथा वस्तुध्वनि आती है, क्योंकि इनमें वाच्य एवं व्यङ्ग्य का क्रम लक्षित होता रहता है। इन दोनों के पुन: दो भेद किए गये हैं- शब्दशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि तथा अर्थशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि। ध्वनिकार आनन्दवर्धन शब्दशक्तिमूल में केवल अलङ्कार व्यङ्ग्य को ही स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार जहाँ वस्तु रूप अर्थान्तर की प्रतीति होगी वह श्लेष का विषय होता है, वस्तु व्यङ्ग्य का नहीं।[1] किन्तु आचार्य मम्मट शब्दशक्तिमूल ध्वनि के अन्तर्गत अलङ्कार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि दोनों मानते हैं। मम्मट के अनुसार वस्तुव्यङ्ग्य का प्रकाशन होने पर जहाँ एक अर्थ का अभिधा द्वारा नियमन हो जाता है, वहाँ दूसरा अर्थ व्यज्यमान होने से वस्तुध्वनि का विषय बन जाता है।

शिशुपालवध महाकाव्य में शब्द-शक्ति-मूल अलङ्कार व्यङ्ग्य के अनेक स्थल हैं। जहाँ माघकवि शाब्दिक चमत्कार के माध्यम से ही अलङ्कारान्तर या वस्त्वन्तर की प्रतीति कराने में समर्थ हैं। वे चमत्कारवादी कवि हैं, उनके महाकाव्य में शब्दालङ्कारों का चमत्कार यत्र-तत्र दिखायी पड़ता है। प्रथम, चतुर्थ तथा पञ्चम सर्ग में अनुप्रास के छेक, वृत्ति आदि भेद प्रयुक्त हुए हैं। माघ-कवि ने यमक का विविध प्रयोग किया है। सम्पूर्ण षष्ठ सर्ग में उन्होने यमक का प्रयोग किया है। यमक के कुछ उदाहरण अन्य सर्गों में भी मिलते हैं, यथा चतुर्थ सर्ग में यमक के भेद दामयमक 4/30, श्रृंखला यमक 4/36 आदि। शब्दश्लेष का प्रयोग यद्यपि उपमादि अन्य अलङ्कारों के साथ हुआ है। किन्तु इसका स्वतन्त्र प्रयोग भी किया गया है, यथा 2/88 में शब्दश्लेष का स्वतन्त्र प्रयोग है। इसका सोदाहरण विवेचन यथा स्थान किया जायेगा।

अलङ्कार व्यङ्ग्य तथा वस्तु व्यङ्ग्य

शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार - ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ वाच्यार्थ के पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ के बोध कराने की शक्ति किसी शब्द-विशेष में ही होती है, उसके अन्य पर्यायवाची शब्द में नहीं।

देवर्षि नारद रावण के औद्धत्य का वर्णन करते हुए कहते हैं- जिस प्रकार अस्थिर दृष्टि उलूक (पक्षी) परम तेजस्वी सूर्य को देखने में असमर्थ होकर हिमालय की गुफा में प्रवेश कर

1. ध्वन्यालोक, पृ0 119

भयभीत होता हुआ दिन व्यतीत करता है, उसी प्रकार रावण के भय से चञ्चल नेत्रवाले इन्द्र ने सूर्य के समान तेजस्वी रावण को देखने में असमर्थ होकर अपनी अमरावती पुरी छोड़कर हिमालय की कन्दरा में दिन व्यतीत किया।[1]

यहाँ 'कौशिक' शब्द में ही व्यङ्ग्यार्थ के बोध कराने की शक्ति है, उसके अन्य पर्यायवाची शब्द में नहीं।

शब्दशक्तिमूल वस्तु व्यङ्ग्य- 'शक्य विषय में क्षमाशील (शान्त) राजाओं की शक्ति के अनुसार व्यायाम करने पर शक्ति की वृद्धि होती है तथा बल के प्रतिकूल अर्थात् शक्ति से अधिक किसी कार्य को प्रारम्भ करना हानि।[2]

यहाँ शक्ति के विशेष होने पर भी श्लिष्टता के कारण वस्तु व्यङ्ग्य है।

नायिकाओं के चलने का वर्णन करते हुए माघकवि कहते है कि- निरन्तर बहते हुए रसवाला राग से युक्त नाखून से तोड़ा गया नवपल्लव तत्काल मलिन हो गया।[3]

यहाँ अभिधा के द्वारा प्रकृत अर्थ नियन्त्रित हो जाने पर अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होने के कारण शब्द शक्तिमूल ध्वनि है।

जलविहार के पश्चात् रमणियों के जल से निकलने का वर्णन करते हुए माघकवि कहते है- जिस प्रकार नये प्रेम से युक्त नायक वेश्यादि के द्वारा बार-बार निकाले जाने पर भी अत्यन्त कठिनाई से निकलते हैं, उसी प्रकार पानी से भीगे एवं शरीर में सटे लाल रंग में रङ्गे हुए वस्त्र बार-बार हटाने पर भी बड़ी कठिनाई से उनके शरीर से पृथक हुए।[4]

यहाँ अवधूता (नायिका) के विशेष्य होने पर शब्दशक्तिमूल ध्वनि है।

अर्थशक्तिमूलक-अलङ्कार-ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ वाच्य अर्थ की व्यञ्जना शक्ति के

---

1. अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
   प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः।। शि.व. 1/53
2. स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम्।
   अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः।। शि.व. 2/94
3. अनवरतरसेन रागभाजा करजपरिक्षतिलब्धसंस्तवेन।
   सपदि तरुणपल्लवेन वध्वा विगतदयं खलु खण्डितेन मम्ले।। शि.व. 7/31
4. आर्द्रत्वादतिशायिनीमुपेयिवद्भिः संसक्तिं भृशमपि भूरिशोऽवधूतैः
   अङ्गेभ्यः कथमपि वामलोचनानां विश्लेषो वत नवरक्तकैः प्रपेदे।। शि.व. 8/67

द्वारा अलङ्कार-व्यङ्ग्य होता है।[1] अलङ्कार ध्वनि तभी होगी, जब व्यङ्ग्य अलङ्कार प्रधान रूप से स्थित रहे क्योंकि रूपक, अपह्नुति इत्यादि सादृश्यमूलक अलङ्कारो में उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है, किन्तु वहाँ उपमा प्रधान न होकर वाच्य रूपक आदि अलङ्कारों का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत हो जाता है। व्यङ्ग्य अलङ्कार यदि वाच्य अलङ्कार अथवा वस्तु के व्यङ्ग्य रूप से रहेगा तो उसकी गुणीभूत-व्यंग्यता ही मानी जायगी। इसीलिए जहाँ अलङ्कार वाच्य का मुखापेक्षी न होकर प्राधान्येन स्थित रहता है, वहीं अलङ्कार ध्वनि काव्य होता है।

जैसा कि पहले कह चुके है कि ध्वनिकार अर्थशक्तिमूल ध्वनि के दो प्रकार- 1. कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर अथवा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्तिनिष्पन्न शरीर, 2. स्वतः सम्भवी। आचार्य मम्मट ने इनको अलग-अलग मानकर अर्थशक्तिमूल के तीन भेद माने हैं और उनके वस्तु एवं अलङ्कार दो प्रकार होने से छः भेद किये हैं।

कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य

उद्धवजी द्वारा प्रदत्त मन्त्रणा का वर्णन करते हुए कवि कहते है- कालयवन, शाल्व, रुक्मी, द्रुम आदि जो राजा हैं, तामसिक प्रकृतिवाले वे भी अधिक दोषयुक्त उस शिशुपाल का उस प्रकार अनुगमन करेंगे, जिस प्रकार अन्धकार सायङ्काल का अनुगमन करता है।[2]

यहाँ सामान्य के द्वारा विशेष का कथन होने से अर्थान्तर व्यङ्ग्य न्यास अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

कविप्रौढ़ोक्ति अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य

श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ प्रस्थान का वर्णन करते हुए कवि कहते है- कालिमायुक्त अरुणवर्ण, हाथियों के मदजल से सम्मिलित (पङ्किल) मोर के पंख के समान चमकने वाले स्वर्णमयी भूमि के परागों को नेमितक धंसनेवाले रथों के समूहों ने पीस दिया।[3]

यहाँ परागों से पेषण असम्बद्ध होने से अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

---

1. विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते।
   जडानप्यनुलोमर्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः।। शि.व. 2/25

2. ये चान्ये कालयवनशाल्वरूक्मिद्रुमादयः।
   तमः स्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः।। शि.व. 2/98

3. श्यामारूणैर्वारणदानतोयैरालोडिताः काञ्चनभूपरागाः।
   आनेमिमग्नैः शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतश्चक्षुदिरे रथौघैः।। शि.व. 3/27

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य

अन्धकार का वर्णन करते हुए माघकवि कहते हैं कि- मानो अपने प्रतिबिम्ब से क्रुद्ध किये गये सूर्यरूपी सिंह के (पश्चिम) समुद्र में कूदने पर गजराज के झुण्ड के समान गाढ़ान्धकार नें सम्पूर्ण संसार को आच्छादित कर लिया।[1]

यहाँ उत्प्रेक्षा के द्वारा भ्रान्तिमान और उपमा के द्वारा रूपक अलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है।

स्वतःसम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य

रमणियों के श्रृङ्गार, लावण्य का वर्णन करते हुए माघकवि कहते है- बलवान् से जीता गया (दुर्बल व्यक्ति) अन्यत्र चला जाता है अथवा चतुर व्यक्ति उसके (बलवान के) शरण में प्रवेश कर रहता है; इस कारण सुन्दरियों के सुन्दरतम मुख से जीता गया चन्द्रमा प्रतिबिम्ब के दर्प से सून्दर नेत्रवाली रमणियों के निर्मल कपोलवाले मुख में प्रविष्ट हो गया।[2]

यहाँ चन्द्रमा प्रतिबिम्ब के छत्र से सुन्दर नेत्रवाली रमणियों के निर्मल कपोलवाले मुख में प्रविष्ट हो गया इस कथन में अपह्नव काव्यलिङ्ग सापेक्ष सङ्कर का निर्देश किया गया है। इन अलङ्कारों से उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है।

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु व्यङ्ग्य

माघकवि रमणियों के जलविहार का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सपत्नी का नाम लेकर पति के द्वारा बुलाये जाने पर लज्जित तथा क्षीण मुखकान्तिवाली रमणी का बहुत रोना ऐसा ज्ञात होता था कि उसके अश्रुबिन्दु पानी में गिरकर मानों उस पानी को बढ़ाने की इच्छा कर रहे हों।[3]

यहाँ मरण दुःख से भी दुःसह सपत्नी का दुःख प्रकट होता है- इस वस्तु की व्यञ्जना (श्लोकोक्त वस्तु से) हो रही है।

---

1. पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषित इवाम्बुनिधौ।
   अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे।। शि.व. 9/18
2. भजते विदेशमधिकेन जितस्तदनुप्रवेशमथवा कुशलः।
   मुखमिन्दुरूज्जवलकपोलमतः प्रतिमाच्छलेन सदृशामविशत्।। शि.व. 9/48
3. हूतायाः पतिसखिकामिनान्यनाम्ना ह्रीमत्याः सरसि गलन्मुखेन्दुकान्तेः।
   अन्तर्धिं द्रुतमिव कर्तुमश्रुवर्षैर्भूमानं गमयितुमीषिरे पयांसि।। शि.व. 8/42

स्वतःसम्भवी वस्तु व्यङ्ग्य

नायिकाओं के चलने का वर्णन करते हुए माघकवि कहते हैं- दूसरे नायक ने वन में सखियों के साथ पहले गयी हुई नीलभ्रू (नीले भौहों वाली अपनी प्रियतमा) के पदचिन्हों को ताजे महावरवाले चरणों की समानता से सन्देह रहित होकर अनुगमन किया।[1]

यहाँ पादरेखा सादृश्य वस्तु से सुरतकालीन पादताडन वस्तु व्यङ्ग्य हो रहा है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य

भीष्मपितामह श्रीकृष्ण के विविध अवतारों के वर्णन प्रसङ्ग में नृसिंहावतार का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- जिस प्रकार समुद्र के सीपों में मोतियों के समूह (बहुत से मोती) रहते हैं, उसी प्रकार नृसिंहरूपधारी श्रीकृष्ण के बड़े-बड़े नख भीतर दिग्गजों के कुम्भस्थलस्थ गजमुक्ताओं के समूह से परिपूर्ण हो गये।[2]

यहाँ श्रीकृष्ण के बड़े-बड़े नख भीतर दिग्गजों के कुम्भस्थलस्थ गजमुक्ताओं से परिपूर्ण हो गये इस वस्तु की व्यञ्जना हो रही है।

उपर्युक्त अलङ्कारों तथा वस्तु की व्यङ्ग्यता का उदाहरण एक बानगी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाकवि माघ की कृति में प्रधानेन अलङ्कार व्यङ्ग्य तथा वस्तुव्यङ्ग्य के अनेक स्थल प्राप्त होते है क्योंकि माघकवि अलङ्कार प्रेमी ही हैं।

अविविक्षितान्यपरवाच्यध्वनि या लक्षणामूलकध्वनि

यद्यपि पूर्व (चतुर्थ) अध्याय में ध्वनिकाव्य के भेदों का स्पष्ट विवेचन किया गया है किन्तु शिशुपालवध महाकाव्य के अनेक स्थलों में प्राय: विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि या अभिधामूल ध्वनि के भेदोपभेदों के अनेक स्थल दृष्टिगोचर होते है, इसलिए सर्वप्रथम विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भेदोपभेदों का विशद विवेचन किया गया है। चूँकि शिशुपालवध महाकाव्य का अध्ययन व अनुशीलन करने पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि (लक्षणामूलक ध्वनि) के भी स्थल यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। अत: ध्वनिभेद की तारतम्यता की दृष्टि से

---

1. अनुवनमसितभ्रुवः सखीभिः सह पदवीमपरः पुरोगतायाः।
   उरसि सरसरागपादलेखा प्रतिमतयानुययावसंशयानः।। शि.व. 7/22
2. वारिधेरिव कराग्रवीचिभिदिर्ङ्मतङ्गजमुखान्यभिघ्नतः।
   यस्य चारुनखशुक्तयः स्फुरन्मौक्तिकप्रकरगर्भतां दधुः।। शि.व. 14/73

यहां अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इन दोनों भेदों के स्थलों का विवेचन करना आवश्यक है।

लक्षणामूलक ध्वनि में वाच्य विवक्षित नहीं होता इसलिए उसका नाम 'अविवक्षितवाच्य ध्वनि' रखा गया है। इसके दो अवान्तर भेद होते हैं-

1. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य 2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।

1. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य उसे कहते हैं- जहाँ वाच्य अर्थ का सीधा सम्बन्ध, वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय न बनने के कारण, शब्द अपने सामान्य अर्थ का त्यागकर स्वसम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ को बोधित करता है। यथा- 'रैवतक पर्वत पर युवकों की प्रसन्नता के लिए धूप को व्यवहित किये हुए तथा सुरतक्रीड़ाजन्य श्रम की खिन्नता को दूर करनें में समर्थ मेघ दिन को रात्रि के समान अन्धकारयुक्त कर रहा है।'[1]

यहाँ 'दोषामन्यं विदधाति' में 'दोषा' शब्द का वाच्यार्थ अनुपपन्न होकर 'दिन को रात्रि के समान अन्धकारयुक्त करने वाला (मेघ) अन्धकार रूप अर्थ में परिणत हो गया है।

2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य उसे कहते हैं- जहाँ वाच्य अर्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यथा- 'आत्मप्रशंसा नहीं करने वाले सज्जन भयंकर विषैले सर्प के समान समय आने पर ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करते है, उसे सर्वत्र कहते नहीं और दुर्जन भीतर में असारता को धारण करते हुए तीव्र ध्वनि करने वाले नगाड़े के समान केवल बोलने में ही बहादुर होते हैं।'[2]

यहाँ 'सज्जन' और 'विषैले सर्प' तथा 'दुर्जन' और 'नगाड़े' का, दोनों में एक धर्मिबोधकत्व रूप अन्वय की सिद्धि न होने से वाच्यार्थ का सर्वथा (अत्यन्त) तिरस्कार कर दिया गया है।

---

1. प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः प्रौढध्वान्तं दिनमिह जलदाः।
   दोषामन्यं विदधति सुरतक्रीडायास श्रम शमपटवः।। शि.व. 4/62

2. विसृजन्त्यविकत्थनः परे विषमाशीविषन्नराः क्रुधम्।
   दधतोऽन्तरसाररूपतां ध्वनिसाराः पटहा इवेतरे। शि.व. 16/32

षष्ठ अध्याय

गुणीभूतव्यङ्ग्यता

गुणीभूतव्यङ्ग्यता

(क) अर्थालङ्कार

जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्तिसह होते है अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जाँय तो भी अलङ्कारों की कोई हानि नही होती है, वे अलङ्कार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते है। इसलिए अर्थालङ्कार कहलाते है।

आचार्य रूद्रट ने समस्त अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। उनके अनुसार अर्थालङ्कारों के चार मूल आधार हैं- 1. वास्तव 2. औपम्य 3. अतिशय और 4. श्लेष। श्लेष अलङ्कार इन्हीं के विशेष रूप है। कुछ अलङ्कार वास्तव पर आधारित होते है, कुछ के मूल में औपम्य रहता है, कुछ अतिशयमूलक होते हैं तथा कुछ श्लेष के ही रूपान्तर हैं।[1]

शिशुपालवध महाकाव्य में अर्थालङ्कारों की छटा दर्शनीय है। इस महाकाव्य में प्रचुरता के साथ अर्थालङ्कारों दृष्टिगोचर होता हैं। इन प्रयुक्त अलङ्कारों का वर्णक्रम से उनकी एक अनुक्रमणी इस प्रकार बनती है। यह अनुक्रमणी निम्नवत् है:-

अतद्गुण	10/76	उपमा	6/9, 3/16, 5, 1
अतिशयोक्ति	1/23	आर्थी उपमा	1/16
अधिक	14/75	उपमेयोपमा	11/15
अन्योन्य	19/20	पूर्णोपमा	8/9
अपहनव	9/48	ऊर्ज्वस्वी	11/26
अप्रस्तुतप्रशंसा	16/21	एकावली	10/33
अर्थान्तरन्यास	6/63, 9/43	काव्यलिङ्ग.	5/50
अर्थापत्ति	8/24	तुल्ययोगिता	5/21, 8/30
असंगति	10/46	दीपक	2/109
आक्षेप	15/83	दृष्टान्त	14/8
उत्प्रेक्षा	6/42, 8/15	निदर्शना	4/20, 6/21, 8/56
उदात्त	11/36	परिकर	16/21

1. अर्थस्यालङ्कारा: वास्तवमौपम्यातिशयश्लेषा:।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति नि:शेषा:।। काव्यालङ्कार 7/9

परिणाम	4/54	परिवृत्ति	18/15
परिसंख्या	14/66	पर्याय	13/11
पर्यायोक्त	20/68	प्रतिवस्तूपमा	2/8
प्रतीप	16/61	प्रत्यनीक	14/68
प्रेयस्	13/46	भाविक	20/69
भ्रान्तिमान्	4/46, 6/11	मीलित	10/26
यथासंख्य	10/34	रसवत्	6/75
रूपक	9/26	विचित्र	13/8
विभावना	6/56	विरोध	3/44
विरोधाभास	3/50, 3/68	विशेष	2/35
विशेषोक्ति	12/39	विषम	3/45
व्यतिरेक	2/46	व्याजस्तुति	2/60
संशय	18/42	सन्देह	8/29
सम	7/53	समाधि	6/49
समासोक्ति	4/34, 6/25	समुच्चय	6/72
सहोक्ति	16/63	सामान्य	13/53
सूक्ष्म	9/76	स्वभाव	9/74
स्वभावोक्ति	3/66	स्मरण	8/69
सङ्कर	6/46, 54, 58	संसृष्टि	6/51

इनके अतिरिक्त पूर्वोक्त अलङ्कारों के अन्य उदाहरण भी महाकाव्य में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं, जबकि उपर्युक्त सूची में प्राय: एक अलङ्कार का उदाहरण सङ्केतित है।

उपमा

आचार्य मम्मट ने उपमान में भेद के साथ सादृश्य को उपमा[1] कहा है।

माघकवि के काव्य में कालिदास के समान सुष्ठु और साधु उपमा प्रयोग दृष्टिगत होता है। कालिदास की उपमा नवीन, व्यञ्जनामय सूक्ष्म औचित्यमय, हृदयस्पर्शी, उदात्त और मधुर है। कविश्रेष्ठ माघ के द्वारा भी सूक्ष्म, मधुर, गम्भीर, नूतन और पाण्डित्यपूर्ण उपमा संयोजित की

1. साधर्म्यमुपमाभेदे। का.प्र. 10/125

गयी है। इस महाकाव्य में सुरुचिपूर्ण शतस्थलों में माघ में कालिदास की सी उपमा है।

उपमा अलङ्कार सम्यकरूप में उपलब्ध होता है। वहाँ कहीं शास्त्रीय ज्ञान, कहीं काव्यगौरव, कहीं नीतिशास्त्र तत्व, कहीं विविधशास्त्र-विशारदत्व उसको गरिमामण्डित करते हैं। माघकवि के द्वारा सङ्गीशास्त्र और काव्यशास्त्र का महत्व तथा उपमा का वैचित्र्य उद्‌भावित किया गया है। "कतिपय अर्थात् परिमित सात स्वरों से गुम्फित गाने के समान परिमित अक्षरों से गुम्फित वचन की अनन्त विचित्रता होती है, अहो, आश्चर्य है।"[1]

द्वारिका नगरी की शोभा वर्णन प्रसङ्ग. में माघकवि कहते हैं:- "स्निग्धाञ्जनश्याम श्रीकृष्ण से उसी प्रकार उस नगरी की शोभा विशिष्ट हो रही थी, जैसे आभूषणों से अलंकृत वधू की शोभा तिलक बिन्दु से होती है।"[2]

यहाँ माघकवि ने श्रीकृष्ण की द्वारिका नगरी की सर्वश्रेष्ठ शोभा एवं धनरूप बताने में सुहागिन स्त्री के तिलक बिन्दु से उपमा देकर जो व्यञ्जना की है, वह किसी अन्य प्रकार से नहीं की जा सकती थी। यहाँ उपमान वधू तथा उपमेय तिलक बिन्दु है।

एकादश सर्ग में प्रभातवर्णन प्रसङ्ग. में प्रातः, रात्रिगमन तथा उषा-आगमन का माघकवि ने 'उपमा' अलङ्कार द्वारा अतिशय भावुक चित्रण किया है- "लाल कमल-समूहरूपी सुन्दर हस्ततल तथा पादतल वाली, बहुत से भ्रमररूप कज्जल से युक्त नीलकमल के समान नेत्रों वाली और पक्षियों के कलरव से बोलती हुई सद्योजाता पुत्री की भाँति प्रातःकाल की सन्ध्या रात्रि के पीछे-पीछे चली आ रही है।"[3]

प्रभातवर्णन प्रसङ्ग. में अतिशय हृदय उपमा की सुषमा का मनोहारी चित्रण हुआ है- "दिशारूपिणी रमणियों के अपने पति के समान सूर्य के कुछ समय अर्थात् रात्रिभर प्रवास करके फिर पूर्व दिशा में आने पर गिरती हुई किरणोंवाला यह चन्द्रमा जार के समान नम्र होकर पश्चिम दिशा के कोण से शीघ्रता से निकला जा रहा है।"[4]

---

1. वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
   अनन्ता वाड्.मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता। शि.व.2/62
2. स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तो वध्वा इवाध्वंसितवर्णकान्तेः।
   विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकी तिलकः स एव।। शि.व. 3/63
3. अरूणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा, बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी।
   अनुपतति विरावै पत्रिणां व्याहरन्ती, रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव।। शि.व. 11/40
4. क्षणमतुहिनधाम्नि प्रोष्य भूयः पुरस्तादुपगतवति पाणिग्राहवद्दिग्वधूनाम्।
   द्रुततरमुपयाति स्रंसमानांशुकोऽसा, वुपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः।। शि.व. 11/65

उपर्युक्त श्लोक में उपमा से रात्रि में दिग्वधुओं का सौन्दर्याधिक्य प्रातः सूर्य के प्रति अनुरागाधिक्य तथा चन्द्रमा का मालिन्याधिक्य सभी अतिशय रमणीयता के साथ चित्रित किए गए हैं।

माघकवि का उपमा प्रयोग में काव्य शास्त्रीय ज्ञान भी प्रदर्शित होता है- 'बुद्धिमान केवल पुरुषार्थ पर ही निर्भर नहीं रहता किन्तु जिस प्रकार श्रेष्ठ कवि शब्द तथा अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार विद्वान भी भाग्य तथां पुरुषार्थ दोनों का अवलम्बन करता है।"[1]

सञ्चारीभाव जैसे स्थायीभाव को पोषित करते है, उसी प्रकार विजिगीषु अन्य नृप के सहायक होते हैं।[2] इसमें उपमा की साधुता प्रदर्शित है।

शिशुपालवध महाकाव्य में नीतिशास्त्र विषयक उपमा अत्यन्त रमणीय है- "हिताभिलाषी व्यक्ति को बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि बढ़ने वाले रोग तथा शत्रु को शिष्टों ने समान (घातक) कहा है।''[3]

उपमा प्रयोग में शास्त्रीय और पाण्डित्य का भी अपूर्व समन्वय दिखायी देता है। माघकवि कभी-कभी उपमा की निधि में बिम्ब-ग्रहण की सुविधा के लिए शास्त्र विशेष को ही एकत्र संजोकर रख देते हैं:- उदाहरणार्थ- राजनीति में कार्य, सिद्धि सहाय, साधनोपाय आदि पाँच अङ्गो से उसी प्रकार पृथक नहीं है, जैसे बौद्धमत में रूप, वेदना, विज्ञान आदि पाँचस्कन्धों से पृथक आत्मा-नामक कोई अन्य वस्तु नहीं है।"[4]

पुनश्च महाकवि सांख्यदर्शन के मुख्यतत्त्व को उपमा चारुत्व की वीथी में लाते है- गृहमन्त्रणा के समय शिशुपाल पर आक्रमण करने की सलाह देते हुए बलराम, श्रीकृष्ण से कहते हैं- फलभोक्ता, विजय का लाभ पानेवाले साक्षिमात्र आप में सेना की विजय उस प्रकार प्रयुक्त हो, जिस प्रकार सांख्योक्त फलभोक्ता साक्षिमात्र आत्मा में बुद्धि का भोग प्रयुक्त होता है।"[5]

---

1. नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
   शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।। शि.व. 2/86
2. स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा।
   रसस्यैकस्य भूयाँसस्तथा नेतुर्महीभृतः।। शि.व. 2/87
3. उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
   समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च।। शि.व. 2/10
4. सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
   सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्।। शि.व. 2/28
5. विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम्।
   फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि।। शि.व. 2/59

सप्तदश सर्ग में एक उपमा युद्ध के लिए प्रस्थित श्रीकृष्ण की सेना के वर्णन से है- श्रीकृष्ण रूपी वर के आगे चलने वाला वह नगाड़े का शब्द जितना-जितना समीप होता गया, उतना-उतना शत्रुओं की सेना वधू के समान मन से आनन्दविह्वल तथा पुलकित शरीरवाली होती गयी।"[1]

यहाँ उपमा के द्वारा सेना का उत्साह अत्यन्त चारूत्व से व्यञ्जित हो रही है।

युद्धवर्णन प्रसङ्ग. में उपमा प्रयोग का बाहुल्य है। उदाहरणार्थ- युद्धस्थल में "क्रुद्ध गज सेना के विशाल दुर्गम मध्य में पहुँचकर इस प्रकार चारों ओर भटकने लगता है, जैसे मार्कण्डेय ब्राह्मण आदि देव विष्णु के उदर में पहुँचकर भटकते रहे।"[2]

माघकवि के द्वारा शिशुपालवध महाकाव्य में व्याकरणशास्त्र से अनेक उपमाए संगृहीत की गयी है। यथा-अत्यन्त स्वल्पाक्षरोंवाली भी सम्पूर्ण देश में व्याप्त हुई तथा प्रामाण्य को प्राप्त गौरवयुक्त जिस शिशुपाल की आज्ञा, अल्पाक्षरोंवाली, सम्पूर्ण लक्ष्यों में व्याप्त, कहीं भी बाधित नहीं होने से प्रतिष्ठा को प्राप्त विशिष्ट अर्थ को कहनेवाली परिभाषा के समान कहीं भी नहीं रुकती हैं।"[3]

व्याकरण की एक अन्य उपमा दशम सर्ग में दृष्टिगत होती है-"प्रमदाओं में सदैव स्वभाव से विद्यमान किन्तु अनवसर न प्रकाशित होने वाले विभ्रम-विलास को मदिरामद ने इस प्रकार प्रकट कर दिया जैसे धातु में ही लीन अर्थ को प्र, परा आदि उपसर्ग प्रकाशित कर देते है।"[4]

इसी प्रकार आयुर्वेद प्रक्रिया की उपमा भी दर्शनीय है। उदाहरणार्थ-"जैसे शीघ्र बाण चलानेवाले क्षुब्ध राजा शिशुपाल ने बिगड़े रोग के समान जिन-जिन विकारों को प्रकट किया, बड़े-बड़े विकारों को दूर करनेवाले उपाय से उन-उन रोगों को वैद्य के समान क्रमज्ञाता एवं बड़े दोषों के नाशक श्रीकृष्ण ने उन-उन अस्त्रों को शीघ्र प्रतिहत कर दिया।"[5]

1. यथा यथा पटहरवः समीपतामुपागमत् स हरिवराग्रतः सरः।
   तथा तथा हृषितवपुर्मदाकुला द्विषां चमूरजनि जनीव चेतसा।। शि.व. 17/43
2. व्याप्तं लोकैर्दुःखलभ्यापसारं संरम्भित्वादेत्य धीरो महीयः।
   सेनामध्यं गाहते वारणः स्म ब्रह्मैव प्रागादिदेवोदरान्तः।। शि.व. 18/40
3. परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठाम्।
   न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा।। शि.व. 16/80
4. सन्तमेव चिरमप्रकृतत्वादप्रकाशितमदिद्युतदङ्गे।
   विभ्रमं मधुमदः प्रमदानां धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम्।। शि.व. 10/15
5. इतिनरपतिरस्त्रं यद्यदाविश्चकार, प्रकुपित इव रोगः क्षिप्रकारी विकारम्।
   भिषगिव गुरूदोषच्छेदिनोपक्रमेण, क्रमविदथ मुरारिः प्रत्यहंस्तत्तदाशु।। शि.व. 20/76

माघकवि ने शिशुपालवध महाकाव्य में इतिहास तथा पुराणों के प्रसिद्ध कथानकों को सादृश्य के आधार पर चित्रित किया है रैवतक पर्वत वर्णन प्रसङ्ग. में पुराणप्रसिद्ध उपमा दर्शनीय है-"सदैव खाये जाने से अभ्यस्त नीम के पत्तों के साथ में किसी प्रकार मुख के भीतर गये हुए कोमल आम के पत्ते को ऊँट ने तत्काल उस प्रकार उगल दिया, जिस प्रकार अनेक बार खाये जाने से अभ्यस्त निषादों के साथ किसी प्रकार मुख के भीतर गये हुए ब्राह्मण को पहले गरुड़ ने उगल दिया था।"[1]

इसीप्रकार त्रयोदश सर्ग में उपमा का मनोहारी चित्रण किया गया है-"रथ पर आरूढ़ इन्द्रप्रस्थ नगर के समान जानेवाले श्रीकृष्ण के, धर्ममूर्ति युधिष्ठिर ने अनुराग से व्याप्त होते हुए उस प्रकार, उनके सारथि का कार्य किया जिस प्रकार रथ पर आरूढ़ त्रिपुरासुर के सामने उसे मारने के लिए जाने वाले त्रिपुरारि शिवजी के अनुराग से व्याप्त होते हुए धर्ममूर्ति ब्रह्मा ने देवकार्यसम्पादनार्थ तत्पर शिवजी को देखकर स्वयं सारथि का कार्य किया था।[2]

रूपक

जहाँ उपमान और उपमेय को एक-दूसरे से नितान्त अभिन्न वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अलङ्कार माना जाता है।[3] प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा वर्णन में श्लिष्टपरम्परित रूपक का एक सुन्दर उदाहरण यह है- "हे हरि! मृगों के समान कंस आदि राजाओं के वध करने से लोग जो आपकी प्रशंसा करते है, वह हिरण्याक्ष आदि असुररूपी हाथियों को मारनेवाले आपका तिरस्कार है।"[4]

माघकवि ने द्वितीय सर्ग में गृहमन्त्रणा प्रसङ्ग. में रूपक का अत्यन्त मनोहारी चित्रण किया है- "जगत् में होनेवाले उपद्रवों की शान्ति के लिए एकत्रित तथा अतिशय दीप्यमान मानवरूपी अग्नित्रय (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयअग्नि) सभामण्डपरूप वेदी पर शोभित हुआ।"[5]

---

1. सार्धं कथञ्चिदुचितैः पिचुमर्दपत्रै-रास्यान्तरालगतमाम्रदलं म्रदीयः।
   दासेरकः सपदि संवलितं निषादैर्विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार।। शि.व. 5/66
2. रथमास्थितस्य च पुराभिवर्तिनस्तिसृणां पुरामिव रिपोर्मुरद्विषः।
   अथधर्ममूर्तिरनुरागभावितः स्वयमादित प्रवयणं प्रजापतिः।। शि.व. 13/19
3. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।। का.प्र. 10/139
4. करोतिकंसादिमहीभृतां बधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम्।
   हरे! हिरण्याक्षपुरः सरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया।। शि.व. 1/39
5. जाज्ज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुसी।
   व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी।। शि.व. 2/3

इसी प्रकार नवम सर्ग में भी रूपक की छटा दर्शनीय है-" पूर्व दिशा में चन्द्रमा की कला से थोड़ा विदीर्ण किये गए अन्धकाररूपी जटावाले आकाश को लोगों ने यह प्रमथ आदि गणों के नायक शिवजीकी मूर्ति है, ऐसा क्षणमात्र के लिए ठीक ही समझा।"[1]

उत्प्रेक्षा

आचार्य मम्मट ने प्रकृत (उपमेय) के समान (उपमान) के साथ ऐक्य की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा है।"[2]

माघकवि के द्वारा शिशुपालवध महाकाव्य में उपमा के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा का वैदुष्यपूर्ण प्रदर्शन किया गया है। कवि ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का चित्रण अत्यन्त परिष्कृतरूप में किया है। उनके कवित्व प्रतिभा के कल्पना की उड़ान उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति में दृष्टिगोचर होती हैं। तृतीय सर्ग में द्वारिका वर्णन प्रसङ्ग. में कवि के द्वारा कल्पित उत्प्रेक्षा है- "ब्रह्मा के निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्राप्त शिल्प-विज्ञान-सम्पत्ति के विस्तार की सीमारूप (द्वारकापुरी) दर्पण-तल के समान निर्मल समुद्र-जल में स्वर्ग की छाया के समान दृष्टिगोचर होती थी।"[3]

षष्ठ सर्ग में षड्ऋतु वर्णन प्रसङ्ग. में शरद ऋतु का वर्णन करते हुए माघकवि ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अत्यन्त मनोहारी चित्रण किया है-"जिसका पापनाशक नामोच्चारण है, ऐसे उन श्रीकृष्ण ने विकसित कमलरूप नेत्रोंवाली तथा नीचे की ओर गिरते हुए स्वच्छ वस्त्र के समान मेघवाली शरद् ऋतु को पर्वतराज में स्थित प्रिया के समान देखा।"[4]

सप्तम सर्ग मे वनविहार वर्णन प्रसङ्ग. में भी कवि के द्वारा उत्प्रेक्षा का चित्रण किया गया है-"जिन पर हर्षित भ्रमर बैठे है, ऐसी शाखा को चञ्चल तथा नियन्त्रणरहित हाथ में

---

1. कलया तुषारकिरणस्य पुरः परिमन्दभिन्नतिमिरौघजटम्।
   क्षणमभ्युपद्यत जनैर्न मृषा गगनं गणाधिपतिमूर्तिरिति।। शि.व. 9/27
2. सम्भावनमथोत्प्रेक्षाप्रकृतस्य समेन् यत्।। का.प्र. 10/137
3. त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरस्य सीमा।
   अदृश्यतादर्शतलामलेषु च्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु।। शि.व. 3/35
4. स विकचोत्पलचक्षुषमैक्षत क्षितिभृतोऽङ्क.गतां दायितामिव।
   शारदमच्छगलद्वसनोपमाक्षमघनामघनाशनकीर्तनः।। शि.व. 6/42

पहने हुए चञ्चल शंख के कङ्कण को बजाते हुए हिलाती हुई, दूसरी अङ्गनाओं को पराजित की हुई किसी अङ्गना के मस्तक पर मानो हर्ष से वृक्ष ने पुष्पवृष्टि की।"[1]

इसी प्रकार अष्टम सर्ग में भी उत्प्रेक्षा का चित्रण हुआ है-" तदनन्तर ऊपर उठे हुए तथा विकसित कमलरूपी अर्घ्यपदार्थ के साथ पक्षियों के शब्दों से मानो स्नेहपूर्वक आलाष अर्थात कुशल-प्रश्न करती हुई सी, फेनरूपी हासवाली पुष्करिणी ने स्त्रियों के लिए तरङ्गरूपी हाथों से मानो प्रेम के साथ पैर धोने का जल दिया।"[2]

यहाँ पर स्वभावतः होनेवाले पुष्करिणी के कार्यो को यादवाङ्गनाओं के अतिथ्यसत्कार करने की उत्प्रेक्षा की गयी है।

इसी प्रकार एकादश सर्ग में प्रभातवर्णन प्रसङ्ग. में भी उत्प्रेक्षा का चित्रण हुआ है-"सूर्योदयकालीन प्रकाश के कारण मन्द होती हुई प्रकाशश्रीवाली दीपक की लौ निरन्तर निर्निमेष होकर सम्पूर्ण रात्रि में अनुरागी पुरूषो एवं अनुरागिणी रमणियों की नयी-नयी सुरतक्रीड़ाओं को अत्यन्त कौतुक से देखकर मानो निद्रापरवश इन मकानों के नेत्रों के समान घुस रही है।"[3]

प्रभातवर्णन प्रसङ्ग. की उत्प्रेक्षा अत्यन्त मनोहारी है, जो दर्शनीय है-"प्रातःकाल होते ही चन्द्रमा क्षीण तथा नष्ट-कान्ति हो जाता है, मानों उस कलत्र-प्रेमी को यह शोक सता रहा है कि हाय, मेरी प्रिय कुमुदिनियों ने आँखे मूंद ली, रजनी भी विनष्ट हो गयी और मेरी सभी प्रिय ताराएं विनष्ट हो गयी।"[4]

---

1. मुदितमधुभुजो भुजेन शाखाश्चलितविश्रृङ्खलशङ्खकं धुवत्याः।
   तरुरतिशयितापराङ्ग.नायाः शिरसि मुदेव मुमोच पुष्पवर्षम्।। शि.व. 7/30
2. उत्क्षिप्तस्फुटितसरोरूहार्घ्यमुच्चैः सस्नेहं विहगरूतैरिवालपन्ती।
   नारीणामथ सरसी सफेनहासा श्रीत्येव व्यतनुत पाद्यमूर्मिहस्तैः।। शि.व. 8/14
3. विकचकमलगन्धैरन्धयन्भृङ्ग.मालाः सुरभितमकरन्दं मन्दमावाति वातः।
   प्रमदमदनमाद्यद्यौवनोछामरामा, रमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः।। शि.व. 11/19
4. सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितं हा क्षपापि. क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः।।
   इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नङ्ग.मिन्दु र्वहति कृशमशेषं भष्टशोभं शुचेव।। शि.व. 11/24

ससन्देह

जहाँ उपमेय के साथ उपमान के सादृश्यज्ञान का संशय हो वहाँ ससन्देह अलङ्कार होता है। भेद के कथन करने अथवा न करने के कारण इस अलङ्कार के दो भेद होते है।"[1]

उपमान और उपमेय उभय पक्ष में दोलायित चित्तवृत्ति का सुन्दर उदाहरण सन्देह में दृष्टिगोचर होता है। प्रथम सर्ग में इन्द्रसन्देश वर्णन प्रसङ्ग. में आकाशमार्ग से उतरते देवर्षि नारद मुनि को नीचे से देखते हुए लोगों के आश्चर्यित मनोभाव कहते है उसमें लोगों को सन्देह हुआ कि अपनी आत्मा को दो भागों मे विभक्त कर उसका एक नीचे की ओर आता हुआ यह सूर्य हैं क्या अथवा धुएं से रहित ज्वालावाली अग्नि है क्या? ऐसे दो सन्देहों के मन में उठने पर उनका निराकरण करते हुए लोग सोचते हैं कि सूर्य की गति तिरछी होती है तथा अग्नि का ऊपर की ओर गमन करना प्रसिद्ध है और सर्वत्र प्रसृत वह तेज नीचे गिर रहा है, यह क्या है? इस प्रकार लोगों ने व्याकुलतापूर्वक देखा।"[2]

माघकवि के द्वारा इसी प्रकार अष्टम सर्ग में जलकेलि वर्णन प्रसङ्ग. में सन्देह का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया गया है-"तडाग के समीप में सामने दिखायी पड़नेवाला पदार्थ कमल है क्या? अथवा युवती का मुख शोभ रहा है, ऐसा क्षणमात्र सन्देह करके किसी पुरूष ने बगुलों के सहवासी कमलों में नहीं रहने वाले बिम्बों को स्त्रियों के विलास-विशेषों से यह रमणी का मुख शोभ रहा है ऐसा निश्चय किया।"[3]

निदर्शना

जहाँ वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध के कारण उपमा की कल्पना की जाय वहाँ "निदर्शना" अलङ्कार होता है।[4] इस अलङ्कार में एक वस्तु दूसरी के प्रतिबिम्ब के रूप में रहती है, और यह प्रतिबिम्बकरण उन दोनों वस्तुओं के सम्भव या असम्भव सम्बन्ध द्वारा व्यक्त किया

1. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।।का.प्र. 10/134
2. गत तिरश्चीनमनूरूसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
   पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।। शि.व. 1/2
3. किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते युवत्याः।
   संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विब्वोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः।। शि.व. 8/29
4. निदर्शना-अभवन्वस्तुसम्बन्धउपमापरिकल्पकः।। का.प्र. 10/194

जाता है, ऐसा रुय्यक का मत है।"[1] माघकवि की निदर्शना भी अत्यन्त रमणीयता के साथ सादृश्य की अभिव्यक्ति करती है। शिशुपालवध महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत वर्णन प्रसङ्ग. में माघकवि द्वारा प्रयुक्त निदर्शना की छटा दर्शनीय है-"प्रात:काल उर्ध्वरश्मिजाल फैलाये सूर्य के उदय होते तथा चन्द्रमा के अस्त होते रहने पर यह रैवतक पर्वत नीचे की ओर लटकती हुई दो घण्टाओं से वेष्टित गजराज के समान शोभ रहा है।[2]

सहृदयों के द्वारा माघकवि को इसी एक निदर्शना के वैशिष्ट्य पर 'घण्टामाघ' की उपाधि दी गयी थी।

माघकवि ने षष्ठ सर्ग में षड्ऋतुवर्णन प्रसङ्ग. में बसन्तऋतु वर्णन का अत्यन्त मनोहारी चित्रण किया है-"समस्त पर्वत के वन को रक्तवर्ण बनायी हुई तथा पथिकों को बार-बार सन्तप्त करती हुई और ऊपर में स्थित विकसित पलाश-पुष्पों की श्रेणी ने दवाग्नि की शोभा को प्राप्त किया।"[3]

इसी प्रकार अष्टम सर्ग में भी निदर्शना का प्रयोग हुआ है-"जलक्रीड़ा करते समय पानी से धुली हुई पत्रलेखा वाले किसी रमणी के मुख में जल के भार से लम्बे तथा बीच में कमलकेसर के लगने से पीले लता के समान केशाग्रों ने मकरपत्रादि के चित्र की शोभा को ला दिया।"[4]

दृष्टान्त

जहाँ दो वाक्यों में एक उपमेय वाक्य होता है और दूसरा उपमान वाक्य एवं दोनों वाक्यों में 'उपमान, उपमेय, साधारण धर्म आदि का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव प्रतीत हो, वहाँ "दृष्टान्त" अलङ्कार समझना चाहिए।"[5]

---

1. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना/अलङ्कार सर्वस्व।
2. उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरूचौ हिमधाम्नि याति चारुताम्।
   बहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्।। शि.व. 4/20
3. अरूणिताखिलशैलवना मुहुर्विदधती पथिकान् परितापनि:।
   विकचकिंशुकसंहतिरूच्चकैरूदवहद्दवहव्यवहश्रियम्।। शि.व. 6/21
4. कस्याश्चिन्मुखमनु धौतपत्रलेखं व्यातेने सलिलभरावलम्बिनीभि:।
   किञ्जल्कव्यतिकरपिञ्जरान्तराभिश्चित्रश्रीरलमलकाग्रवल्लरीभि:।। शि.व. 8/56
5. दृष्टान्त: पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।। का.प्र. 10/155

शिशुपालवध महाकाव्य में दृष्टान्त अलङ्कार का यत्र-तत्र प्रदर्शन किया गया है। यथा- "धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से कहते है कि- "इस समय आपके सान्निध्य से मेरा यज्ञ निर्विघ्नतापूर्वक सम्यक् प्रकार पूर्ण हो जायेगा, क्योंकि सूर्य के उदय होने पर दिन की शोभा को नष्ट करने के लिए कौन समर्थ होता है।"[1]

इसी प्रकार षोडश सर्ग में शिशुपाल के दुर्दुरुट दुर्मुख दूत को श्रीकृष्ण का संकेत पाकर सात्यकि भर्त्सना करते हुए कहते है- "अपशब्द कहते हुए चेदिपति शिशुपाल को श्रीकृष्ण ने प्रत्युत्तर नहीं दिया, क्योंकि सिंह मेघ के गरजने पर गरजता है, स्यार के बोलने पर नहीं। अत: शिशुपाल स्यार के समान तथा श्रीकृष्ण सिंह के समान है।"[2]

अर्थान्तरन्यास

सामान्य अथवा विशेष का उससे अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है।[3]

शिशुपालवध महाकाव्य में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सौन्दर्य अधिकांशत: दृष्टिगोचर होता है। प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद कहते है- "मनुष्य भिन्न तथा अज होते हुए भी रामरूप से मनुकुल में उत्पन्न मानव बने हुए प्रभावयुक्त और भविष्य में अपना नाशक आपको जानते हुए भी जिस रावण ने जानकी जी को नहीं छोड़ा। यह ठीक ही है क्योंकि मानी लोगों का सर्वदा एकमात्र अभिमान ही धन होता है।"[4]

यहाँ कारण से कार्यसमर्थनरूप अर्थान्तरन्यास की अभिव्यञ्जना हुई है।

षष्ठ सर्ग में षड्ऋतुवर्णन प्रसङ्ग में अर्थान्तरन्यास का सौन्दर्य दर्शनीय है- "समय की प्रबलता

---

1. वीतविघ्नमनघेन भाविता सन्निधेस्तव मखेन मेऽधुना।
   को विहन्तुमलमास्थितोदये वासरश्रियमशीतदीधितौ।। शि.व. 14/8
2. प्रतिवाचमदत्त केशव: शपमानाय न चेदिभूभुजे।
   अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी।। शि.व. 16/25
3. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास: साधर्म्येणेतरेण वा।। का.प्र. 10/164
4. अमानवं जातमजं कुले मनो: प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मन:।
   मुमोच जानन्नपि जानकी न य: सदाभिमानैकधना हि मानिन:।। शि.व. 1/67

से शत्रुओं के बढ़ जाने पर बलवान् भी असमर्थ हो जाता है, क्योंकि माघ मास में मन्द किरणोंवाला सूर्य बढ़े हुए हिम को नष्ट नहीं कर सका।"[1]

यहाँ विशेष से सामान्य समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

इसी प्रकार नवम सर्ग में भी विशेष से सामान्य समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का चित्रण हुआ है- "भाग्य के प्रतिकूल होने पर बहुत साधन भी निष्फल ही हो जाते हैं, अतएव शीघ्र ही अस्त होने वाले दिवापति (सूर्य) की सहस्रों किरणें भी अवलम्बन के लिए नहीं हो सके।"[2]

स्वभावोक्ति

बालक आदि की अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एवं अवयवसंस्थान का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार कहलाता है।[3]

स्वभावोक्ति अत्यन्त प्राचीन अलङ्कार है। अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति के समर्थन हेतु सूक्ष्म तथा लेश को भी अलङ्कार न मानने वाले अत्यन्त प्राचीन आचार्य भामह के पूर्ववर्ती आचार्य भी स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते थे। जैसा कि आचार्य भामह के शब्दों से सिद्ध होता है। उन्होंने स्वभावोक्ति का लक्षण करते हुए लिखा है- कुछ (आचार्यों) का कथन है कि वस्तु की अपनी अवस्था (स्वभाव) का वर्णन अर्थात् स्वभावोक्ति भी अलङ्कार है।[4]

आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति और जाति को प्राय: एक ही मानते हुए उसका लक्षण इस प्रकार किया है, जो पदार्थ के विभिन्न अवस्थागत रूपों का यथार्थ विवरण देता है, उसे स्वभावोक्ति या जाति अलङ्कार कहते हैं।[5]

आचार्य रुद्रट ने स्वभावोक्ति का जाति नाम रखा है और उसका लक्षण इस प्रकार

---

1. उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद् बलवानपि।
   तपसि मन्दगभस्तिरभीषुमान्नहि महाहिममहानिकरोऽभवत्।। शि.व. 6/63
2. प्रतिकूलतामुपगतं हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
   अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यत: करसहस्रमपि।। शि.व. 9/6
3. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे: स्वक्रियारूपवर्णनम्।' का.प्र. 10/167
4. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
   अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहित:।। भामहालङ्कार 2/93
5. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
   स्वभावोक्तिश्चजातिश्चैत्याद्या सा अलङ्कृति:।। काव्यादर्श 2/8

किया है, जिस वस्तु की लोक में जैसी चिर-प्रसिद्ध संस्थिति, अवस्थिति या अन्य क्रियादि हो उसको ठीक उसी प्रकार से कहना जाति अलङ्कार कहा जाता है।[1]

शिशुपालवध महाकाव्य में इस स्वभावोक्ति या जाति का मनोरम सौन्दर्य देखने को मिलता है। माघकवि स्वभावोक्ति वर्णन में भी अत्यन्त निपुण सिद्ध हुए हैं। उन्होंने पञ्चम सर्ग में सैनिकों के नैसर्गिक स्वभाव का चित्रण किया है- "रैवतक पर्वत पर पड़ाव पड़ रहा है। कोई सैनिक पहले से पहुँचकर कुछ स्थान ले लेता है। बाद में वहाँ आने वाले दूसरे सैनिकों को वहाँ नहीं ठहरने देता। साथ ही दूसरी ओर जाने वाले अपने आत्मीयजनों को अत्युच्च स्वर से अर्थात् जोर से चिल्लाकर दूर से बुलाया।"[2]

माघकवि ने द्वादश सर्ग में पशुओं की स्वाभाविक चेष्टाओं का भी अतिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। श्रीकृष्ण की चतुरङ्गिणी सेना में सम्मिलित हाथी, घोड़ा, ऊँट, खच्चर, गधा आदि सभी की चेष्टा उनकी सूक्ष्म चितेरी दृष्टि की परिधि में आ गयीं। हाथी की स्वाभाविक चेष्टाओं का चित्रण अत्यन्त मनोहारी है- "शरीर के पूर्वभाग के हिस्से को ऊपर उठाया हुआ तथा भविष्य में आकाश की ओर उठते हुए पर्वतराज का अनुकरण करता हुआ और ऊँचा (विशालकाय) हाथी अपने (हाथी के) संकुचित किये हुए पिछले पैर के निचले सन्धिस्थानपर पैर को रखे हुए महावत को चढ़ा रहा था।"[3]

माघकवि घुड़सवार का स्वाभाविक चित्रण करते हुए कहते हैं- "घुड़सवार लोग पहले धीरे से (घोड़ो की) पीठ को ठोककर शान्त किये गये तथा स्फुरित शरीरवाले घोड़ो पर चढ़ने में शीघ्रता दिखलाते हुए जीन पर बायें हाथ को रखे एवं दाहिने हाथ में घोड़ो के लगाम की रस्सी पकड़े हुए चढ़ गये।"[4]

हाथी के स्वाभाविक चित्रण के समान ऊँट के नैसर्गिक स्वभाव का भी चित्रण हुआ

---

1. संस्थानावस्थानक्रियादियद्यस्य यादृशं भवति।
   लोकेचिरप्रसिद्धं तत्कथनमन्यथाजातिः।। रुद्रट-काव्यालङ्कार 7/30
2. अग्रे गतेन वसतिं परिगृह्य रम्यामापातयसैनिकनिराकरणाकुलेन।
   यान्तोऽन्यतः प्लुतकृतस्वरमाशु दूरादुद्बाहुना जुहुविरे जुहुरात्मवर्ग्याः।। शि.व. 5/15
3. अतिक्षिप्तगात्रः स्म विडम्बयन्नभः समुत्पतिष्यन्तमगेन्द्रमुच्चकैः।
   आकुञ्चितप्रोहनिरूपितक्रमं करेणुरारोहयते निषादिनम्।। शि.व. 12/5
4. स्वैरं कृतास्फालन लालितान्पुरः स्फुरत्तनून्द र्शितलाघवक्रियाः
   वङ्.कावलग्नैकसवल्गापाणयस्तुरङ्गमानारुरुहुस्तुरङ्गिणः।। शि.व. 12/6

है। यथा- "लम्बे मार्ग के लिए जब तक चढ़नेवाले ने अपना आसन अच्छी तरह से नहीं जमाया, तभी शीघ्र उठे हुए एवं दु:सह वेगवाले अर्थात् तीव्रगामी ऊँट बे-रोकटोक के अतिशीघ्र चल दिये।"[1]

इसी प्रकार ऊँट के नैसर्गिक स्वभाव का एक अन्य उदाहरण दर्शनीय है। यथा- "भारयुक्त' गोणी आदि को (पीठ पर) रखने पर उठने की इच्छा करता हुआ, बलपूर्वक पकड़ा गया रवण (बहुत शब्द करने वाला अर्थात् ऊँट), आधे चबाये गये वकायन (नीम) आदि की पत्तियों के खाने से विषम (कर्णकटु) शब्द को करता हुआ अपने नाम को स्पष्ट अर्थवाला कर दिया।"[2]

द्वादश सर्ग में ही भारवाही बैल का अत्यन्त मनोहारी चित्रण हुआ है- "नाथ (नाक में छिद्रकर पहनायी गयी रस्सी) को पकड़ने पर भी दोनों सीगों को हिलाता हुआ तथा सूत्कार पूर्वक (क्रोध से सू-स करने के साथ-साथ) नितम्ब को इधर-उधर घुमाता हुआ बैल, पीठ पर रखने के लिए लोगों से बार-बार उठायी गयी कन्धेली को रखने नहीं देता।"[3]

प्रभातिक प्रस्थान के समय श्रीकृष्ण ने बांये पैर में बांधे गये बछड़ो को स्नेह से चाटती हुई गायों से, दोनों घुटनों से दुहने के बर्तन को दबाकर बढ़ते हुए धारा के शब्द के साथ-साथ दूध को दुहते हुए गाय दुहनेवालों को देर तक अच्छी तरह देखा।[4]

भ्रान्तिमान्

जहाँ अप्रस्तुत पदार्थ के तुल्य किसी प्रस्तुत पदार्थ को देखकर उस अप्रस्तुत का (भ्रान्तिपूर्ण) ज्ञान हो वहाँ भ्रान्तिमान अलङ्कार होता है।[5] इसका एक अत्यन्त मनोरम उदाहरण तृतीय सर्ग के द्वारिका की सुषमा के वर्णन में मिलता है।

1. अह्नाय यावन्न चकार भूयसे निषेदिवानासनबन्धमध्वने।
   तीव्रोत्थितास्तावदसह्यरंहसौ विश्रृंखलं श्रृंखलका: प्रतिस्थिरे।। शि.व. 12/6
2. उत्थातुमिच्छन्विधृत: पुरो बलान्निधीयमाने भरभाजि यन्त्रके।
   अर्धोज्झितोद्गारविझर्झरस्वर: स्वनामनिन्ये रवण: स्फुटार्थताम्।। शि.व. 12/9
3. नस्यागृहीतोऽपि धुवन्विषाणयोर्युगं ससूत्कारविवर्तितत्रिक:।
   गोणीं जनेन स्म निधातुमुद्धृतामनुक्षणं नोक्षतर: प्रतीच्छति।। शि.व. 12/10
4. प्रीत्या नियुक्तांल्लिहती स्तनन्धयान्निगृह्य पारीमुभयेन जानुनो:।
   वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणा: पयश्चिरं निदध्यौ दुहत: स गोदुह:।। शि.व. 12/40
5. भ्रान्तिमान् अन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने।। का.प्र. 10/204

"जिस द्वारिकापुरी में भवनों की कपोतपालियों (कबूतर पालने के दराजों) पर चित्रित पक्षि-समूह पर आक्रमण करने की इच्छा से झुके हुए निश्चल शरीरवाले बिलाव को भी लोगों ने चित्रित ही माना।"[1]

भ्रान्तिमान् का एक अन्य उदाहरण रैवतक पर्वत के वर्णन प्रसङ्ग में मिलता है- "इस (रैवतक पर्वत) पर चन्द्र किरणों के, अनेक प्रकार की रत्न-किरणों से भिन्न (मिश्रित) होकर सहस्रों संख्यावाली हो जाने पर यह निश्चितरूप से सूर्य है ऐसा मानकर कमलिनियाँ रात्रि में भी विकसित कमलोंवाली हो जाती है।"[2]

---

1. चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम्।
   मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने।। शि.व. 3/51
2. भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दोरुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम्।
   दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति व्याकोशकोकनदतां दधतं नलिन्याः।। शि.व. 4/46

सप्तम अध्याय

चित्रकाव्यता

चित्रकाव्यता (अवर काव्य)

काव्य-मर्मज्ञ सहृदय कवि की काव्य-प्रतिभा का द्वितीय स्फुरण अलङ्कारनिबन्धन में दृष्टिगत होता है। अलङ्कार साक्षात् शब्द और अर्थ के धर्म हैं। काव्य के जीवित-संर्वस्व रसभावाभिव्यक्ति में शब्द एवं अर्थ को चारु के साथ समर्थ बनाना ही शब्दार्थलालित्य की सार्थकता है। माघकवि की मान्यता है कि सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों की समानरूप से अपेक्षा रखता है।[1] माघकवि में शब्दयोजना की दक्षता के साथ अर्थकल्पना की अप्रतिम प्रौढ़ि दृष्टिगोचर होती है- शब्दों की वक्रिमा तथा अर्थो की भङ्गिमा, यही वक्रोक्ति है और इसे ही काव्यजीवित कहा गया है। महाकवि कालिदास की कृतियों की उपमा, भारवि की कृति का अर्थगौरव और दण्डी की कृति का पदलालित्य, माघकवि की कृति में उक्त तीनों (उपमा, अर्थगौरव, पदलालित्य) गुण पूर्णतः विद्यमान हैं।[2]

महाकवि कालिदास के समय तक रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार आदि सम्प्रदायों की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यद्यपि भामह, दण्डी, उद्भट के अलङ्कारवाद एवं वामन के रीतिवाद, क्षेत्र निर्धारित हो चुका था, किन्तु काव्य में चमत्कार के लिए वैदुष्य-प्रदर्शन वाले युग में कवियों ने अलङ्कार तथा वक्रोक्ति को अपनाया। रसभाव-मर्मज्ञ कवि सभी शब्द एवं अर्थ के अलङ्कारों और गुणों की साधिकार योजना को अपनी काव्य सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते थे। ध्वनिसिद्धान्त का परिशीलन किये बिना भी महाकवि की सहज प्रतिभा अनादिकाल से रसभावादिरूप श्रेष्ठ व्यङ्ग्य अर्थ का निष्यन्दन करती रही है।[3]

---

1. शब्दार्थौसत्कविरिवद्वयं विद्वानपेक्षते। शि.व. 2/86

   जैसा कि-

   आनन्दवर्धनाचार्य ध्वनिकार ने भी कहा है-

   आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
   तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।। ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत, पृ. 34

2. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
   दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्तित्रयोगुणाः।।

3. ध्वन्यालोक-सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निष्यन्दमानां महतां कवीनाम्।
   अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम।। शि.व. 1/16

महाकवि गुण और अलङ्कार की योजना विभाव तथा अनुभाव के वर्णन में करता है, और रसाभिव्यक्ति स्वयमेव होती चलती है। माघकवि के पूर्व भारवि आदि महाकवियों के द्वारा भी भूयशः अलङ्कार प्रयुक्त हुए है। यद्यपि कालिदास के द्वारा भी अलङ्कारों का साधिकार प्रयोग किया गया है तथापि उनके द्वारा प्रयुक्त अलङ्कार न केवल शब्दार्थरूपी काव्यशरीर के अपितु काव्य जीवित के अलङ्करण के लिए हुआ। महाकवि कालिदास अर्थालङ्कारों के साथ शब्दालङ्कारों का भी प्रदर्शन करने वाले श्रेष्ठ कवि हैं। अर्थालङ्कारों में वे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अर्थान्तरन्यास तथा विरोधाभास के अद्वितीय शास्ता माने जाते हैं। कविवर भारवि ने अपने किरातार्जुनीय महाकाव्य को शब्दार्थ-वैचित्र्य से भूयशः अलंकृत किया। उनके काव्य को जिस प्रकार रसभावनिष्पत्ति और अर्थगम्भीरता के लिए उत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है, उसी प्रकार अलङ्करण शैली के प्रवर्तक एवं निदर्शन काव्य रूप में भी स्वीकृत किया जाता है। भारवि, माघ के पूर्ववर्ती आचार्य थे, इस प्रकार माघ कवि के पूर्व ही भारवि के नियत किये गए मानदण्ड की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। माघकवि में शक्ति तथा व्युत्पत्ति दोनों की अद्‌भुत सन्निधि थी। उन्होंने अपनी कृति शिशुपालवध महाकाव्य को अपनी शक्ति एवं व्युत्पत्ति दोनों से सम्पन्न किया। साथ ही अपनी कृति को जिस प्रकार रसभाव के द्वारा सिक्त किया उसी प्रकार गुणालङ्कारों के द्वारा भी समलंकृत किया। यद्यपि भारवि के समय से ही युद्ध-प्रसङ्ग का शाब्दिक चित्र उपस्थित करने के लिए चित्रालङ्कारों अर्थात् मुरज-सर्वतोभद्रादि-बन्धों का उपयोग किया जाने लगा था, तथापि शिशुपालवध महाकाव्य में उस का प्रयोग प्रौढ़ प्रचुरता से उपलब्ध होता है। हाँ, इन विकटबन्धों के द्वारा महाकाव्य विषम अवश्य हो जाता है, जैसा कि स्वयं माघकवि ने कहा है कि- जैसे सर्वतोभद्र-चक्रगोमूत्रिकादिबन्धों द्वारा महाकाव्य विषम हो जाता है- वैसे ही सेना के विशिष्ट विन्यासों द्वारा वह शिशुपाल-सैन्य विषम हो गया था।[1]

इस चित्रबन्ध-रचना से ज्ञात होता है कि माघकवि इस प्रकार की अलङ्कारयोजना में

---

1. विषमं सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः।
   श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद्बलम्।। शि.व. 19/41

कितने निष्णात् थे। चित्रालङ्कारों में भारवि की ही भाँति एक एकाक्षर श्लोक रचा है, जो उनकी काव्य-प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।[1]

माघकाव्य के सम्पूर्ण उन्नीसवें सर्ग में सर्वतोभद्र-चक्रगोमूत्रिकादिबन्धो की छटा दर्शनीय है। उसमें दस द्वयक्षर श्लोक[2], एक एकाक्षर पाद श्लोक[3], दो अर्धसमश्लोक[4], दो श्लोकों का प्रतिलोम यमक रूप[5], एक श्लोक में श्लोकप्रतिलोमयमक[6], एक असंयुक्त वर्णात्मक श्लोक[7], एक अतालव्याक्षरश्लोक[8], एक निरोष्ठश्लोक[9], दो समुद्गयमक[10], एक व्यर्थकश्लोक[11], एक गूढ़चतुर्थश्लोक, एक गतप्रत्यागतश्लोक[12] रचे हैं।

चित्रबन्धों में माघकवि ने एक सर्वतोभद्र[13], एक मुरजबन्ध[14] एक गोमूत्रिकाबन्ध[15], एक अर्द्धभ्रमक[16] तथा सर्गान्त में एक चक्रबन्धमयी[17] रचना की है। ये चित्रबन्धमयी रचनाएं अतिशय-श्रमसाध्य है। उदाहरणार्थ-मुरजबन्ध में मुरज में आबद्ध रस्सियों की भाँति तिरछे ढंग

---

1. दाददो दुद्ददुद्दादी दादादो दूददीददोः।
   दुद्दादं ददे दुद्दे ददाददददोऽददः।। शि.व. 19/114
2. शि.व. 19/66, 84, 86, 94, 98, 100, 102, 104, 106, 108
3. शि.व. 19/3
4. शि.व. 19/5, 54
5. शि.व. 19/33, 34
6. शि.व. 19/190
7. शि.व. 19/68
8. शि.व. 19/110
9. शि.व. 19/11
10. शि.व. 19/58, 118
11. शि.व. 19/116
12. शि.व. 19/88
13. शि.व. 19/26
14. शि.व. 19/29
15. शि.व. 19/46
16. शि.व. 19/62
17. शि.व. 19/20

से पढ़ने पर भी प्रत्येक चरण का वही रूप होता है।[1]

उन्नीसवें सर्ग के अन्त के शार्दूलविक्रीडित छन्द में कष्ट-साध्य चक्रबन्ध की कल्पना की गयी है। इसके प्रथम तीन पदों के दसवें अक्षर 'र' को केन्द्र की प्रथम परिधि में रखकर उसके चारो ओर नव (9) और परिधियाँ बनायी गयी हैं। प्रथम तीन चरणों को मध्य में विभाजित कर छः पंक्तियो को एक-एक परिधि एक-एक अक्षर रखते हुए, रखा गया है। चतुर्थ चरण को अन्तिम परिधि में रखा गया है। पाँचवी परिधि में पढ़ने पर 'शिशुपालवध' तथा आठवीं परिधि में पढ़ने पर 'माघकाव्यमिदं' निकलता है।[2]

इसी प्रकार चित्रबन्धों में 'सर्वतोभद्र' एक कठिन बन्ध है। सर्वतोभद्र श्लोक के चारों चरणों में 1 और 8, 2 और 7, 3 और 6 तथा 4 और 5 वर्ण समान होते है। प्रत्येक चरण आधे के पश्चात् उलटकर लिखा जाता है और प्रत्येक पंक्ति का प्रथम से चतुर्थ अक्षर तक क्रम से सीधे उल्टे पढ़ने पर श्लोक के प्रथम से चतुर्थपाद बन जाते है तथा इसी प्रकार पञ्चम् से अष्टम् वर्ण तक क्रमशः प्रत्येक पंक्ति के सीधे उलटे पढ़ने पर चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय तथा

---

1. ।। मुरजबन्धः।।

सा	से	ना	ग	म	ना	र	म्भो
र	से	ना	सी	द	ना	र	ता।
ता	र	ना	द	ज	ना	म	त
धी	र	ना	ग	म	ना	म	या।।

,शि.व. 19/29

2. सत्त्वं मानविशिष्टमाजिरभसादालम्ब्य भव्यः पुरो, लब्धाधक्षयशुद्धिरुद्धरतरश्रीवत्सभूमिर्मुदा।
मुक्त्वा कामपास्तभीः परमृगव्याधः स नादं हरे-रेकौघैः समकालमभ्रमुदयी रोपैस्तदा तस्तरे।।
शि.व. 19/120

प्रथम पंक्तियाँ बन जाती है। शिशुपाल वध महाकाव्य में 'सर्वतोभद्र' श्लोक द्रष्टव्य है।[1]

उपर्युक्त सभी चित्रालङ्कार शब्दालङ्कारों के अन्तर्गत परिगणित किये जाते है। एकाक्षर तथा द्वयक्षर तो अनुप्रास अलङ्कार में सङ्गृहीत है।

ये सभी चित्रालङ्कार ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार चित्रकाव्य या अवर काव्य की कोटि में रक्खे जाते है, क्योंकि इनमें व्यङ्ग्यअर्थ जो काव्यात्मा है प्राय: अविद्यमान या उपेक्ष्यमाण रहता है।[2]

माघकवि ने अलङ्कारों का प्रयोग व्यङ्ग्य-पुष्टि के लिए किया है। शब्दालङ्कारों में उनको अनुप्रास और यमक सर्वाधिक प्रिय है। श्लेष अलङ्कार में शब्दश्लेष का प्रयोग उपमादि अन्य अलङ्कारों के साथ तो हुआ ही है, माघकवि ने इसका स्वतन्त्र प्रयोग भी किया है। शब्दालङ्कारों को माघकवि ने प्राय: व्यङ्ग्य में सौन्दर्य बढ़ाने के लिए ही प्रयुक्त किया है। यद्यपि अलङ्कार द्वारा शब्द-सौन्दर्य बढ़ाने के लिए भी उन्होंने प्रयास किया है और इसीलिए यमक, मुरजबन्ध, सर्वतोभद्र आदि चित्रबन्धो का भी समादर किया है।

वस्तुत: शिशुपालवध में प्रति-श्लोक अलङ्कारों की अद्भुत सुषमा है, और अलङ्कारों का विवेचन करने के लिए एक-एक श्लोक को क्रमश: लिया जाय तभी उचित विवेचन हो सकता है। किन्तु इस निबन्ध में उसका इस प्रकार से समावेश करना दुष्कर होगा। अत: दिग्दर्शनमात्र के लिए पृथक्-पृथक् अलङ्कारों के एक-दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

---

1. ।। सर्वतोभद्र: ।।

स	का	र	ना	ना	र	का	स
का	य	सा	द	द	सा	य	का।
र	सा	ह	वा	वा	ह	सा	र
ना	द	वा	द	द	वा	द	ना।। शि.व. 19/26

2. ध्वनिकार ने चित्रकाव्य शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार की दृष्टि से दो प्रकार का कहा है। जहाँ शब्दालंकारों को ही प्रधान्येन प्रदर्शित करना अभीष्ट हो उसे शब्दाचित्र और जहाँ अर्थालंकार को प्राधान्येन चित्रित करना अभीष्ट हो उसे अर्थ चित्रकाव्य कहते है- (अव्यङ्ग्य त्ववरं स्मृतम्) उभयत्र व्यङ्ग्य का स्पर्श नहीं रहता अथवा उपेक्षित रहता है।

शब्दालङ्कार

यद्यपि शब्दालङ्कारों में यदि कवि अधिक प्रयत्नशील होता है तो स्वभावतः उससे व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि सहज रूप से शब्दालङ्कार काव्य में आते जाते है तो व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करते है अन्यथा वे चित्रकाव्य बन जाते है। ऐसे अलङ्कारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि प्रधान होते हैं। उनमें भी अनुप्रास और यमक बदनाम हैं।[1]

अनुप्रास

वर्णो (अक्षरों) की समता (एकरूपता) को अनुप्रास कहते है।[2] शिशुपालवध में अनुप्रास के छेक[3], वृत्ति आदि भेद प्रयुक्त हुए हैं। इसी श्लोकार्ध के द्वितीय समस्त पद में 'सु' द्वारा छेकानुप्रास का तथा अन्तिम चरण में ही 'भ' द्वारा वृत्यनुप्रास का सौन्दर्य दर्शनीय है।[4]

यहाँ प्रथम चरण के अन्तिम पाद में तथा द्वितीय चरण के भी अन्तिम पाद में वृत्यनुप्रास का सौन्दर्य दर्शनीय है। इसी प्रकार पञ्चम सर्ग में भी वृत्यनुप्रास का उदाहरण द्रष्टव्य है।[5]

यमक

जहाँ अर्थ रहते हुए भी भिन्न अर्थवाले वे ही वर्ण वैसे ही सुनायी पड़े, वहाँ यमक अलङ्कार माना जाता है।[6]

---

1. 'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
   अलङ्क.रनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः।।
   रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
   तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः।।
   (ध्व. तृतीय उद्योत पृ. 335)
2. वर्णसाम्यमनुप्रासः। का.प्र. 9/69
3. अनन्यगुर्वास्तिव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमावगम्यते।
   मनुष्यजन्मापि सुरासुरान्गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः।। शि.व. 1/35
4. यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्नसमुन्नमद्भिः।
   वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम्।। शि.व. 4/15
5. स्थगतयन्त्यमूः शमितचातकार्तस्वरा, जलदास्तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः।
   जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकराः सावितः क्वचित् कपिशयन्ति चामी कराः।। शि.व. 4/24
6. अर्थेसत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः-यमकम्।। का.प्र. 9/117

आवृत्ति क्रम की व्यवस्था के अनुसार यमक अलङ्कार अनेक प्रकार का होता है। माघकवि ने यमक का विविध प्रयोग किया है। सम्पूर्ण षष्ठ सर्ग के षड्ऋतु वर्णन प्रसङ्ग. में यमक अलङ्कार का सौन्दर्य दृष्टिगत होता है।[1]

यमक अलङ्कार के कुछ उदाहरण अन्य सर्गों में उपलब्ध होते हैं।[2]

श्लेष

श्लेष दो प्रकार का होता है– 1. शब्दगत, 2. अर्थगत।[3] जहाँ किसी शब्दविशेष के कारण से एक से अधिक अर्थ निकले और सभी वाच्यरूप रहें वहाँ शब्दगत श्लेष होता है।

उस शब्द के हट जाने पर उसके पर्यायवाची अन्य शब्द के रखने से वे अर्थ न निकले वहाँ शब्द श्लेष होता है। इस अलङ्कार में एक ही उच्चारण के विषय होकर शब्द, वाच्य अर्थ के भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी अपने भिन्न स्वरूप को छिपाते हैं। अतएव इसे शब्द श्लेष अलङ्कार कहते हैं।[4] जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ निकले वहाँ अर्थ-श्लेष होता है।[5] श्लिष्ट पदों को रखते समय वहाँ स्वयं कवि को अनेक अर्थ अभीष्ट रहते है। इसीलिए आचार्य दण्डी ने अनेकार्थवाले श्लिष्ट वचन का विशेषण 'इष्ट' रखा है।[6] वे अनेक अर्थ कभी उसी समस्त पद से कभी उसे तोड़-मरोड़कर निकाले जाते है। अत: शब्दश्लेष के अभिन्न पद तथा भिन्नपद दो भेद हो जाते हैं।[7] इन्हीं दो को बाद के आचार्यों ने तीन भेद मान लिया– 1. अभङ्ग., 2. सभङ्ग. तथा 3. उभयात्म।[8]

---

1. नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्क.जम्।।
   मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः।। शि.व. 6/2
2. 1. धूमाकारं दधति पुरः सौवर्णे वर्णेनाग्नेः सादृशि तटे पश्यामि।
   श्यामीभूताः कुसुमसमूहेऽलीनां लीना मालीमिह तरवो बिभ्राणाः।। शि.व. 4/30 दामयमक
   2. विहगाः कदम्बसुरभाविह गाः कलयन्त्यनुक्षणमनेकलयम्।
   भ्रमयन्नुपैति मुहुरभ्रमयं पवनश्च धूतनवनीपवनः।। शि.व. 4/36 श्रृंखला यमक
3. श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु।। रुद्रट - काव्यालङ्क.ार 2/13
4. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।
   का.प्र. 9/118
5. श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्। का.प्र. 10/147
6. श्लिष्टमिष्टनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।। काव्यादर्श 2/310
7. तद्भिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा।। काव्यादर्श 2/310
8. पुनस्त्रिधा सभङ्ग.ोभामङ्ग.स्तदुभयात्मकः।। सा.द. 10/12

शिशुपालवध महाकाव्य में शब्दश्लेष का प्रयोग उपमादि अन्य अलङ्कारों के साथ तो हुआ ही है किन्तु महाकवि माघ ने इसका स्वतन्त्र प्रयोग भी किया है।[1]

---

1. तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।

   सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः।। शि.व. 2/88

अष्टम अध्याय

व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति

कवि के नैसर्गिक प्रतिभा के संस्कार के लिए व्युत्पत्ति की आवश्यकता होती है। नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का चमत्कार व्युत्पत्ति और अभ्यास पर ही निर्भर है।[1] कवि का लोक निरीक्षण, उसका व्यवहार ज्ञान, जितना विस्तृत एवं गम्भीर होगा, उतनी ही प्रतिभा चमत्कारपूर्ण होगी। वस्तुतः कवि इस संसार में प्रतिभा चक्षु द्वारा पदार्थों का निरीक्षण करता रहता है, अनेक प्रकार के अनुभवों को ग्रहण कर, कल्पना शक्ति के द्वारा अनुभूत अनुभवों को 'सुन्दर' के परिधान में प्रकट करता है। कवि की कल्पना शक्ति की स्थिति दृढ़ अनुभव पर ही है। अनुभव-भण्डार, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से ही कल्पना पुष्ट होती है। कवि नवीन सृष्टि का निर्माण नहीं करता अपितु ब्राह्मी सृष्टि में यत्र-तत्र बिखरे हुए सौन्दर्य का संकलन कर एक नवीन आह्लादजनक सृष्टि का निर्माण करता है। कवि की प्रज्ञा अनुभूत अनुभवों को पृथक् करके पुनः उन्हे नवीन रूप से संकलित करती है। इस प्रकार कवि की अनुभूति और कल्पना शक्ति अन्योन्याश्रित है। उसकी अनुभूति जितनी विस्तृत, सम्पन्न, व्यवस्थित और गम्भीर भावनाओं से पूर्ण होगी उतनी ही कल्पना शक्ति तेजस्विनी तथा बलिष्ठ हुए बिना नहीं रहेगी।

यहाँ यह सुस्पष्ट है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में कवि को विभिन्न शास्त्रों और लोकानुभव का ज्ञान होना आवश्यक कहा गया है। कवि को प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ व्युत्पन्न भी होना चाहिए। वास्तव में व्युत्पन्न कवि ही कवि होता है- **कवयः पण्डितकवयः**। राजशेखर ने कविज्ञान के व्यापक क्षेत्र (व्युत्पत्ति) को ध्यान में रखकर ही व्युत्पत्ति को काव्य की जननी कहा है। इसी व्युत्पत्ति को क्षेमेन्द्र ने परिचय कहा है, जिसके ज्ञान के अभाव में केवल पद्य-निर्माता विदग्ध गोष्ठी में उतना ही अज्ञ प्रतीत होता है, जितना कोई नवागन्तुक किसी बड़े नगर की उलझी हुई बीहड़ गली में।[2]

व्युत्पत्ति और प्रतिभा के सर्वोत्कृष्ट मणि-काञ्चन संयोग से ऐसे सहृदयाह्लादक काव्य की रचना होती है, जो सदैव विदग्धजन मण्डित रहता है। विभिन्न आचार्यों ने उपलक्षण के रूप में कुछ प्रधान विभिन्न विद्याओं का उल्लेख कर दिया है। राजशेखर ने काव्यार्थयोनि प्रकरण

---

1. व्युत्पत्याभ्याससंस्कृता 'प्रतिभाभास्य हेतुः। काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय
2. न हि परिचयहीनः केवले काव्यकष्टे कुकविरभिनिविष्टः स्पष्टशब्दप्रविष्टः।
   बिबुधसदसिपृष्टः क्लिष्टधीर्वेत्ति वक्तुं नवइवनगरान्तर्गह्वरे कोप्यधृष्टः।। क्षेमेन्द्र-कविकण्ठाभरण-पञ्चमसन्धि

मे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण विद्या, समय विद्या, राजसिद्धान्तत्रयी लोकविरचना, प्रकीर्णक, योक्तृसंयोग, उत्पन्न संयोग तथा संयोग-विकरण, इन सोलह का उल्लेख किया है।[1] क्षेमेन्द्र ने तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्नपरीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गजतुरग पुरुष लक्षण, ध्यूत, इन्द्रवास तथा विविध विषयों के परिचय को कवि-साम्राज्य का द्योतक बताया है।[2] उसी प्रकार आचार्य मम्मट नें स्थावर-जंगमात्मक लोकवृत्त, छन्द, व्याकरण, अभिधान, कोश, कला चतुर्वर्ग, गज-तुरग-खड्गादिलक्षण, काव्य तथा इतिहास आदि की व्युत्पत्ति को काव्य हेतुभूत निपुणता के अन्तर्गत गिनाया है।[3] इसी प्रकार वाग्भट्ट (15 वी शताब्दी) ने, स्थावर जङ्गम-रूप लोक में, तथा लक्षण प्रमाण साहित्य छन्दोलंकार-श्रुति-स्मृति- पुराणेतिहासागम- नाट्याभिधान कोष कामार्थ-योगादि शास्त्रों में, निपुणता को व्युत्पत्ति माना है। वास्तव में कवि ज्ञान की इयत्ता निर्धारित ही नहीं की जा सकती। जैसा कि एक कवि ने कहा है-कवि का महान भार महान होता है। उसके काव्य का सारा विश्व प्रपञ्च उसके काव्य का अङ्ग. बन सकता है।

माघकवि ने शिशुपालवध की रचना पूर्ण व्युत्पत्ति के साथ की है। अपने समस्त ज्ञान भण्डार का उन्होंने इस ढंग से परिचय दिया है कि शिशुपालवध केवल काव्य ही न रह कर विविध विषयों के ज्ञान का एक वृहद कोश बन गया है। इसके विषय में प्रसिद्ध लोकोक्ति **'नवसर्ग गते माघेऽनवशब्दो न विद्यते'** तथा **'मेघे माघे गतं वयः'** सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। चिरकाल से संस्कृत विपश्चितो से इस महाकाव्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा का यह सबसे बड़ा कारण है कि बृहत्त्रयी में इसकी गणना की जाती है। माघकवि ने स्वयं भी अपने अगाध पाण्डित्य का परिचय दिया है। जैसा कि पूर्व अध्याय में दिखाया जा चुका है।

व्युत्पत्ति- वेद-वेदाङ्ग.

अर्थवेद के अनुसार भी एक ही शक्ति भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न नाम ग्रहण कर इस जगत का कार्य-संचालन करती है।

श्रुति प्रतिपादित उक्त तत्त्व को कवि माघ ने इस प्रकार व्यक्त किया है- "बारह राजाओं के मध्य में उत्साह को नहीं छोड़ता हुआ विजयार्थी अकेला भी राजा बारह सूर्यो के

1. काव्यमीमांसा, अध्याय-8
2. कविकण्ठाभरण, पञ्चम सन्धि।
3. काव्य प्रकाश प्रथम उल्लास

मध्य में उत्साह को नहीं छोड़ते हुए दिनकृत (सूर्य) के समान उदय लेने के लिए समर्थ होता है।[1]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार उन परमपुरुष परमेश्वर के हजारों सिर हजारों आँखे और हजारों पैर है। वे सर्वशक्तिमान परमेश्वर समस्त जगत् को सब ओर से घेरकर सर्वत्र व्याप्त होकर नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदयाकाश में स्थित है।[2]

उक्त श्रुतिवचन की ओर सङ्के.त करते हुए कवि माघ ने रैवतकपर्वत का वर्णन इस प्रकार किया है- 'सहस्त्रों शिखरों से आकाश में तथा सहस्त्रों पाद से पृथ्वी में फैलकर स्थित तथा सूर्य और चन्द्रमा को दोनों नेत्र रूप में धारण करते हुए हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के समान उस रैवतक पर्वत को श्रीकृष्ण ने देखा।[3]

अग्निहोत्रादि में अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए जो मंत्र पढ़े जाते हैं[4] उन्हे सामध ेनी कहते हैं। ये संख्या में बहुत होते हैं[5] तथा एक साथ पढ़े जाते है और इनका एक साथ प्रवचन होता है।[6] इन्ही सामधेनी मंत्रो में कुछ अन्य मन्त्र भी यथावसर जोड़ दिये जाते है, इन्हे धाय्या कहते है, वे भी सामधेनी ही हैं।

शिशुपालवध मे कवि माघ प्रभात वर्णन प्रसङ्ग. में इसकी ओर सङ्केत करते हुए कहते हैं- अग्निहोत्रियों के प्रत्येक गृह में सम्यक् प्रकार से जलती हुई अग्नि, शास्त्रोक्त विधि से एक श्रुत्यादि स्वरो का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ ऋत्विजों के द्वारा सामधेनी (अग्नि को प्रज्वलित करने वाला प्र हो वाजा इत्यादि मन्त्र विशेष) को पढ़कर बड़े-बड़े पापसमूहों के विनाशपूर्वक हवन किये गये हवि विशेष को सम्यक् प्रकार से आस्वादन कर (जला) रहीं है।[7]

---

1. शिशुपालवधम्-2/81 की टीका में-नाना लिङ्ग.त्वाद्वेतूनां नानासूर्यत्वतम्। इति श्रुतैः
   प्रतिभासमादित्यभेदाद द्वादशत्वं तच्चैकस्चैव द्वादशात्मकत्वम द्वादशात्मा दिवाकरः। उद्घृत मल्लिनाथ।
2. सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात-श्वेताश्वतरोपनिषद। 3/14
3. शि.व. 4/4
4. इध्मेनाग्निं तस्मादिध्यो नाम समिन्धे।
   सामन्धेनीभिर्होता तस्मातत्सामभि धेन्यो नाम।।शत.प्रा. 1/35
5. अथसाभिधेन्यः प्रवोवाजा अभिधवो (ऋ.सं. 3/27/1)
   ऽग्नमायाहिवीतये गृणानः (6/16/10)
   ईडेन्यो नमस्य स्तिरो (3/27/13) ग्नि दूतं बृणीमहे (8/12/1)
   सामिध्यमानोध्वरे (3/27/4) समिद्धोअग्नआहुतेनिद्धे (5/18/506) आश्व. श्रौ.
6. ता एक श्रुतिसन्ततमनुब्रूयात् (आश्वलायन श्रौतत्रूत) 1/2/8
7. शि.व. 11/41

कवि माघ ने शिशुपालवध में सेना प्रयाण का वर्णन करते हुए सामवेद की सहस्र शाखाओं की ओर संकेत करते हुए कहा है:- "हाथियों की नानाविध ध्वनियों को प्रकट करने वाला, सहस्त्रों मार्गो से चलता हुआ, घोड़ो की बहुलता से चञ्चल, लोगों के द्वारा कठिनाई से जाने योग्य वह सेना समुद्र, अनेकविध वृहद्रथन्तर आदि स्वरों को प्रकट करने वाले, सहस्त्रों शाखाओं वाले, गान्धर्वगान की बहुलता से अस्थिर बुद्धि वाले व्यक्तियों के द्वारा कठिनाई से पढ़ने योग्य हो गया।"[1]

श्वेताश्वतरोपनिषद में- दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ-इस प्रकार नव द्वार वाले जीव शरीर का उल्लेख मिलता है। जीवात्मा अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियों में शरीर धारण करता है।[2]

माघकवि उक्तवचन को ध्यान में रखकर नये-नये नगर द्वार वाले नगर में युधिष्ठिर आदि पाँच राजकुमारो के साथ श्रीकृष्ण के प्रवेश का वर्णन करते हुए कहते है- पुराणपुरुष श्रीकृष्ण नव-नव द्वारो वाले नगर में पाँडवों के साथ प्रविष्ट हुए, जिस प्रकार अनेक बार जन्म लिया हुआ जीव इन्द्रियरूप नव द्वार गले शरीर में पाँचे इन्द्रियों के साथ प्रवेश करता है।[3]

यजुर्वेद संहिता में धूम को अग्नि की ध्वजा कहा गया है।[4] माघकवि ने इसी ओर संकेत करते हुए यज्ञीय अग्निधूम का वर्णन इस प्रकार किया है-शीघ्र ही ऊपर उठता हुआ, दिशाओं को धूमिल करता हुआ सघनता को धारण करता हुआ एवं मेघ को नीचे किया हुआ अग्नि का धूम अर्थात उसकी ध्वजा मानों देवताओं से प्रिय सन्देश कहता हुआ सा स्वयं को पहुँच गया।[5]

ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त के मन्त्र द्वारा ब्राह्मण को मुखज, क्षत्रिय को बाहुज, वैश्य को ऊरुज तथा शूद्र को पादज कहा गया है।[6]

श्रुति प्रतिपादित उक्त तत्त्व की ओर संकेतकरते हुए यज्ञ में वेदोच्चारण करने वाले ब्राह्मण को कवि माघ ने **"मुखभुवः स्वयम्भुवोः"** कहा है- प्रतापी मन्त्र की शक्ति से

---

1. शि.व. 12/11
2. श्वेताश्वतरोपनिषद 3/18, 5/12
3. शि.व. 3/18, 5/12
4. धूम्रः ध्वजः- यजु सं. अध्याय17, मन्त्र 91
5. शि.व. 14/28
6. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत इति श्रुतेः।।बाहुराजन्यः कृतः। ऋग्वेद मण्डल-10, सूक्त-90/12

आपत्तियों को रोके हुए तथा परलोक को जीतने वाले ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न (ब्राह्मण) तथा राजा लोग तुम्हारे यज्ञ को सब ओर से सुशोभित कर रहे है।[1]

मुण्डकोपनिषद के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् उन पर ब्रह्म परमेश्वर की प्रकाश शक्ति से ही प्रकाशित है।[2]

उक्त औपनिषदिक तत्त्व की ओर सङ्केत करते हुए कवि माघ शिशुपाल पर विजय करने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं- प्रभावयुक्त, विभववाले, नक्षत्र के समान आभावाले, संसार को अतिशय आभायुक्त करते हुए गरुडारूढ़, निर्भय, जीवों के रक्षक, परमपुरुष को शत्रुओं ने देखा।[3]

वेदाङ्ग. (शिक्षा)

वेदाङ्गो में शिक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है। उसे वेद का प्राण कहकर सम्मानित किया गया है।[4] शिक्षा का प्रतिपाद्य विषय है- वर्णो की संख्या, उत्पत्ति, उच्चारण, विधि इत्यादि।[5]

अक्षरों के उच्चारण करने में जो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, इनका शिक्षाग्रन्थों में अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से वर्णन किया गया है। वैदिक पाणिनि व्याकरण का सिद्धान्त है। अक्षरव्यक्ति कि 'उदात्तं पदमेक वर्जम्' उदात्त शेष को अनुदात्त कर देता है।

उक्त सिद्धान्त की ओर माघकवि संकेत करते हुए कहते हैं- उद्धवजी कहते है इस कारण आप चेदिपति (शिशुपाल) का अपमान न करें जो एक (स्थान या व्यवसाय) में शत्रुओं को उस प्रकार मारता है, जिस प्रकार (सुप् तिङन्त) एक पद मे उदात्त स्वर (अनुदात्त स्वरित स्वर को) मारता (बाधित करता) है।[7]

पाणिनि ने अपनी शिक्षा में कहा है कि हस्त सन्चालन के द्वारा स्वरोच्चारण नहीं करने पर उच्चारण करने वाले का वियोनि में जन्म होता है तथा हस्तसन्चालन के द्वारा स्वर, वर्णतथा

1. शि.व. 14/11-56
2. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। मुण्डकोपनिषद-2-2-10
3. शि.व. 19/86
4. शिक्षा घ्राण तु वेदस्य।पा.शि. 3
5. स्वरवर्णाद्युच्चारणं प्रकारों यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।
   सायण ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृ. 49
6. माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
   धैर्य लयसमर्थ च षडेते पाठका गुणाः।। पा.शि. - 33
7. शि.व. 2/95

अर्थ के साथ मन्त्रो का उच्चारण करने वाला ऋग्वेद आदि वेदों से पवित्र होकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है।[1]

उक्त विचार को माघकवि इस प्रकार व्यक्त करते है- सामवेद के ज्ञाता (उद्‌गाता) लोग हाथ के संचालन विशेष से व्यक्त किये गये निषादादि सात स्वरो वाले सामवेद को स्खलन रहित उच्च स्वर से गाने लगे और सत्य तथा प्रिय बोलनेवाले (होता आदि) विद्वान लोग कल्याणकारक ऋग्वेद तथा यजुर्वेद को पढ़ने लगे। (अतएव युधिष्ठिर के यज्ञ में सामवेद के गान करने वाले ऋत्विज लोग हस्त संचालन के द्वारा स्वरों का संकेत करते हुए उच्चारण करते थे।[2]

पाणिनि ने कहा है कि स्वर या वर्ण के शुद्ध उच्चारण नहीं होने पर दोषयुक्त मन्त्र यथार्थ अर्थ को व्यक्त नहीं करता अर्थात मन्त्रोक्त फल को नही देता है, अपितु वह मन्त्रात्मक वाग्वज्र यजमान का ही नाशकरदेता है, जिस प्रकार स्वर जन्य दोष से यज्ञ करने वाला इन्द्र का शत्रु ही मारा गया।[3]

इस सिद्धान्त को कवि माघ नें इस प्रकार कहा है- व्याकरण शास्त्र के ज्ञाता के ऋत्विज लोग सन्देह के लिए समान रूप वाले सन्देहोत्पाद्य किन्तु कार्य के प्रति भिन्न फल देने वाले दो समासों के विग्रह का स्वर के द्वारा निर्णय करते थे।[4]

शिक्षा के अनुसार उच्चारण (मुख) में ऊर्ध्व उच्चारण के आठ स्थान कहे गये हैं।[5] कवि माघ प्रभात वर्णन करते हुए उक्त सिद्धान्तानुसार वर्णनकरते है- जप करते हुए (तपस्वियों) के (उ,ऊ,प,फ,ब,भ,म,व,फ-इन) ओष्ठ अक्षरों से बार-बार तथा दूसरे (उक्त अक्षरों को छोड़कर अन्य) अक्षरों से दिखलायी पड़ता हुआ (अतएव) बाहर निकलती हुई प्रभा से युक्त दाँतों वाला

---

1. हस्तहीनं तु योऽधीतेस्वरवर्णविवर्जितम्।
   ऋग्युजःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति।।
   हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम्।
   ऋग्युजः सामभिः पूतो ब्रहलोके महयते।।पा.शि. 54-55
2. शि.व. 14/21
3. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   सावाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।
4. शि.व. 14/24
5. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठः शिरस्तथा।
   जिव्हामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च।। पा.शि. 13

मुख प्रतिक्षण बन्द होते तथा खुलते हुए सुन्दर मोती के बन्द शुक्ति पुट की समानता को प्राप्त करता है।[1]

प्राचीन काव्य प्रतियों की पुष्पिका में **'इति महावैय्याकरण माघकवि कृतौ'** इत्यादि लिखा मिलता है जिससे स्पष्ट होता है कि माघ कवि व्याकरण के प्रमुख विद्वान थें। शिशुपालवध का एक-एक श्लोक उनके व्याकरण विषयक वैदुष्य का वैय्याकरण (साक्षी) है।

व्याकरण में क्रिया के आधिक्य को या उसकी बार-बार होने वाली आवृत्ति को व्यक्त करने के लिए भूतकाल के अर्थ में लोट् लकार का प्रयोग किया जाता है।[2]

उक्त नियमानुसार कवि माघ नें नारद के शब्दों में रावण के औद्धत्य का वर्णन इस प्रकार किया है- जिस बलवान रावण ने नमुचिशत्रु (इन्द्र) के साथ विरोध कर बार-बार अमरावती पुरी को घेर लिया, नन्दन वन को छिन्न भिन्न कर दिया, रत्नो को चुरा लिया और देवाङ्गनाओं का अपहरण कर लिया, इस प्रकार प्रतिदिन स्वर्ग को पीड़ित किया।[3] (वह रावण नामक राक्षस हुआ) पतंजलि ने अष्टाध्यायी सूत्र के स्वरचित महाभाष्य में रक्षा, ऊह लधुता और असन्देह इन्हे व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन कहा है।[4]

माघकवि ने व्याकरण शास्त्र के महत्त्व का प्रतिपादन श्लेष द्वारा इस प्रकार किया है- जहाँ नीतिशास्त्र के प्रतिकूल एक पैर भी रखने का नियम नहीं है, ऐसी (साधारण सेवक से लेकर वरिष्ठ अमात्य तक के लिए नियत) सुन्दर जीविका (वेतन)वाली (तथा कार्य सम्पादित होने पर) उचित पारितोषक (देने का नियम बतलाने) वाली राजनीति गुप्तचरों (की नियुक्ति) के बिना उसी प्रकार शोभा नहीं देती है, जिस प्रकार पाणिनि-प्रणीत सूत्रों के अविरुद्धपद (कृदन्त, तद्धितान्त समस्त आदि पद) तथा न्यास (काशिका वृत्ति की व्याख्या ग्रन्थ) है, जिसमें ऐसी सुन्दर वृत्ति (काशिका सूत्रों के व्याख्यानात्मक ग्रन्थ)वाली तथा श्रेष्ठ निबन्धन (पतंजलि मुनिप्रणीत महाभाष्य ग्रन्थावली) भी, शब्दविद्या (व्याकरणशास्त्र) पस्पशा (व्याकरण के प्रयोजन को निर्दिष्टकरने वाला महाभाष्य का पस्पशा नामक प्रथम (आह्निक) के बिना शोभा नहीं देती है। अर्थात् 'व्याकरणशास्त्र के प्रयोजनों को न जानने से लोगों की अनुत्सूतपदन्यास, संहति, सन्निबन्धनगुणयुक्त भी व्याकरण के पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं होती, अत: उसके बिना जिस प्रकार

1. शि.व. 11/42
2. 'क्रियासमभिहारे लोट्' 3/4/2 वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी।
3. शि.व. 1/51
4. 'रक्षोहागमलध्वसन्देहा: प्रयोजनम्'-व्याकरणमहाभाष्यम्-प्रथमाह्निकम्।

वह व्याकरण शास्त्र शोभित नहीं होता है, उसी प्रकार जिस राजनीति में पग-पग पर नीतिशास्त्रानुकूल ही चलते है, भृत्यादि कर्म की जीविका यथोचित है तथा कार्य के सिद्ध होने पर कार्यकर्ताओं को उचित (भूमि, सुवर्ण आदि) पारितोषिक देने की व्यवस्था है। किन्तु इन गुणों के युक्त होने पर भी राजनीति गुप्तचरों के बिना शोभा नहीं देती है।[1]

कहा गया है कि उपसर्गों के संयोग से ही धातु भिन्न- भिन्न नवीन-नवीन अर्थों को बताने में समर्थ हो जाता है[2] अर्थात् धातूनामनेकार्थाः धातुओं के अनेक अर्थ हैं। इस वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार भू आदि धातुओं में अनेक अर्थ सदा ही विद्यमान रहते है जो व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होने से अप्रकाशित रहते है और जब उपसर्ग के साथ उन धातुओं का प्रयोग किया जाता है तब वे अप्रकाशित अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं

प्रियाओं के मद्यपान के प्रसंग वर्णन में कवि माघ उपसर्ग की माया को (महत्त्व को) इस प्रकार समझाते है- 'मद्यप्रभाव ने प्रमदाओं के अंगों में चिरकाल से विद्यमान किन्तु संयोग न होने से अप्रकाशित, विलास को उस प्रकार प्रकट कर दिया, जिस प्रकार भू आदि धातुओं में चिरकाल से अन्तर्निहित किन्तु प्रयोग न करने से अप्रकाशित अर्थ को (प्र. परा आदि) उपसर्ग प्रकाशित कर देते है। इस प्रकार रमणियों में पूर्व काल से विद्यमान अनेक कटाक्ष हास-परिहास आदि विलासों को मद्य के नशे नें प्रकट कर दिया।[3]

ऊह अर्थात विभक्तियों का परिवर्तन व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन है। वेद में उल्लिखित मन्त्रों में सभी लिंगों और विभक्तियों का उपयोग नहीं किया गया है। यज्ञस्थल मे गये हुए व्यक्ति के द्वारा उन मन्त्रों में यथोचित लिङ्गो एवं विभक्तियों का परिवर्तन मन्त्रो में यथोचित परिवर्तन नहीं कर सकता। अतः एतदर्थ व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

माघकवि उक्त नियम को राजा युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ वर्णन के प्रसङ्ग. में इस प्रकार व्यक्त करते है- उस यज्ञ क्रिया में 'ऊह' (दूसरे रूप में प्रतिपादित शब्दो

---

1. अनुत्सूत्रपदन्यासा सदवृत्तिःन्निबन्धना। शि.व. 2/1/12
2. उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते। प्रहाराऽऽहार-संहार विहार- परिहारवत्।।
   और भी-धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चितमनुवर्तते। तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा।।
   कभी-कभी उपसर्ग से धातु का अर्थ विपरीत हो जाता है,
   कभी-कभी वह रहता हुआ भी अधिक हो जाता है, कभी ठीक वही रहता है।
3. शि.व. 10/15

का लिङ्ग. वचनादि के भेद से परिवर्तन करने) में निपुण प्रयोक्ता (ऋत्विज) लोग शास्त्र में सब विभक्तियों (लिङ्ग. रूप विभक्तियों, एक वचन, द्विवचन, बहुवचनों और पुल्लिंगादि तीन लिङ्गों) से कहना शक्य नहीं है (अतएव आवश्यकतानुसार उन-उन स्थलों में) मंत्र (के विभक्ति वचनो तथा लिङ्गो) को परिवर्तित कर रहे थे।[1]

सृज, संह, और शास्ते तीनों ही क्रियाएं श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में केवल कर्तृवाच्य में ही प्रयुक्त होती है, कर्मवाच्य में नहीं। किन्तु स्तु धातुका प्रयोग सदा कर्मवाच्य में ही होता है।

अर्थात् श्रीकृष्ण की रचना, संहार या शासन करने वाला संसार में कोई न होने से हरिः सृजति हरिः संहरति और हरिः शास्ति, इत्यादि प्रयोग में हरिः कर्तृवाचक हीरहते है। इसके विपरीत जनः हरि स्तौति इस प्रकार कर्मवाचक प्रत्यय से ही युक्त वाक्य बनता है, हरिः स्तौति कर्तृवाचक प्रत्यय से युक्त नहीं बनता, क्योकि हरि की सब स्तुति करते है, हरि किसी की स्तुति नहीं करते। महाकवि माघ ने व्याकरण सम्बन्धी अपने प्रखर पाण्डित्य का परिचय इस श्लोक में दिया है।

सुहृत स्वामी पितृव्यं भ्रातृव्य और मातुल इन शब्दों को पाणिनि नें इनकी सिद्धि नियति रूप मानी है।[2] माघकवि ने उक्त नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है। जिस युद्धक्षेत्र में मित्र, स्वामी, चाचा, भाई तथा मामा सभी का निपात हुआ है ऐसे उस युद्धक्षेत्र को विद्वानो ने पाणिनीय शास्त्र की तरह जाना।[3]

'दा' धातु के देना या त्यागना दोनों अर्थ होते है। उक्त दोनों अर्थो को कवि माघ ने एक साथ निभाकर व्याकरण शास्त्र का पाण्डित्य प्रदर्शित किया है।

राजसूय महायज्ञ में राजा युधिष्ठिर द्वारा दिये जाने वाले इच्छानुसार दान वर्णन के प्रसङ्ग. मे कवि माघ ने उक्त दा धातु का चमत्कार इस प्रकार प्रदर्शित किया है- (याचकवृन्द राजा युधिष्ठिर का दर्शनकरने के पश्चात् बिना माँगे ही) जब यथेष्टधन प्राप्त कर लेते थे, तब दीयताम अर्थात् मुझे प्रदान कीजिए, यह शब्द याचना में ही नहीं रह जाता था प्रत्युत वह त्याग

---

1. शि.व. 14/23,24
2. सुहृद दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः- 5/4/15 सिद्धान्तकौमुदी स्वाभिन्नैश्वर्यै- 5/2/126, इति मत्वर्थीय निपातः 'पितृव्यमातुलमातामह पितामहाः' - 4/2/36
3. शि.व. 19/75

के अर्थ में (अर्थात इतने अधिक धन का क्या होगा, अन्यों को प्रदान कीजिए याचक गणों में भी ऐसा (भरपूर दान प्राप्त है। जाने के कारण) विचार हो जाता था।[1]

इस प्रकार शिशुपालवध महाकाव्य में स्थान-स्थान पर व्याकरण निष्ठ सिद्धान्तों के उत्कृष्ट प्रयोगों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, यहाँ पर कुछ और उदाहरण संकेतरूप में उपन्यस्त किये जाते हैं-

'पर्यपूपुजत्' (1/14) 'अभिन्यवीविशत' (1/15)

'अचूचुरत्' (1/16) 'पारेजालम्' (3/60)

'मध्ये समुद्रम्' (3/33) पारेमध्ये षष्ठयावा (2/9/18)

सस्मार वारणयतिः परिमीलिताक्षमिच्छाविहारवनवास महोत्सवानाम् (5/50)

ज्योतिषशास्त्र के सर्वमान सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि चन्द्रग्रहण का कारण चन्द्र में पड़ने वाली पृथ्वी की छाया है तथापि परम्परा के अनुसार राहु चन्द्र को ग्रसता है और वह शीघ्र गामी चन्द्र को शीघ्र तथा मन्दगामी सूर्य को विलम्ब से ग्रसता है। चन्द्र तथा सूर्य की शीघ्र एवं मन्द गतियां ही उनके ग्रहणों के कारण है।[2]

उपर्युक्त ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए माघकवि यह कहकर कि जब तक एक भी शत्रु बना रहता है तब तक सुख कहां से हो सकता है ? अतः उसके साथ कड़ाई से व्यवहार करना चाहिए क्योंकि देवों के सामने कोमल चन्द्र को राहु शीघ्र और सूर्य को विलम्ब से ग्रसता है।[3]

ज्योतिष शास्त्रकारों ने तथा पुष्य शास्त्रकारों ने पुष्य नक्षत्र को 'सर्वसिद्धिकर' एवं सर्वदिशा की यात्रा में शुभ माना है।[4]

उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर माघकवि ने शिशुपालवध महाकाव्य में कहा है कि- श्रीकृष्ण इष्ट की सिद्धि करने वाले तथा सब दिशाओं में बिना रोक-टोक जाने वाले 'पुष्य' नामक रथ पर सवार हो, इस प्रकार शोभित हुए जिस प्रकार इष्ट सिद्धि करने वाले, सब दिशाओं की यात्रा में अनिषिद्ध पुष्म नक्षत्र पर गया हुआ चन्द्रमा शोभता है।[5]

---

1. शि.व. 14/48
2. सूर्यसिद्धान्त, परिलेखाधिकार, पृ0 90, हिन्दी अनुवाद-वही
3. शि.व. 2/35, 49
4. 'सर्व सिद्धिकरः पुष्यः' बृहज्जोतिस्सार, पृ0 185, सम्पादक पं0 सूर्यनारायण पुष्यों हस्तो मैत्रमप्याश्विनश्चचत्वार्याहुः सर्व दिग्द्वाराकाणि। सिद्धान्त-शिशुपालवध की टीका में उद्धृत, मल्लिनाथ
5. रराज सम्पादकमिष्टसिद्धेः सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम्।
   महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी क्षिप्र क्षयानाथ इवाधिरूढ़।। शि.व. 3/22

ज्योतिषशास्त्र में प्रतिकूल (पृष्ठवर्ती) चन्द्रमा को अनिष्टकारक कहा गया है।[1]

उक्त सिद्धान्त को कवि माघ ने सूर्यास्त वर्णन प्रसङ्ग. में इस प्रकार व्यक्त किया है- 'भाग्य (चन्द्र) के प्रतिकूल होने पर बहुत साधन भी निष्फल हो जाते हैं, जैसे शीघ्र ही अस्त होने वाले सूर्य की सहस्त्रों किरणें भी अवलम्बन के लिए नहीं हो सकीं।[2] ज्योतिष शास्त्र में मङ्गल ग्रह को अशुभ माना गया है।[3]

उक्त विचार को माघकवि ने शिशुपाल द्वारा धर्मराज के प्रति व्यक्त हुए शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि लोग तुम्हारे नाम को धर्मराज ऐसा असत्य क्यों कहते हैं? अथवा अत्यन्त अशुभ भी पृथ्वीपुत्र (मङ्गलग्रह) को लोग मङ्गल कहते हैं। निश्चित ही नाम से सत्य का ज्ञान नहीं होता है।[4]

ज्योतिषशास्त्रानुसार शनि ग्रह के सूर्य और मङ्गल शत्रु है [5] अत: वे साथ रहने पर भयोत्पादक होते हैं।

कवि माघ भीष्म के वचनों को सुनकर, होने वाले शिशुपाल के पक्षपाती राजाओं के अनुभावों का वर्णन करते हुए ज्योतिषशास्त्र के वचन की ओर संकेत कर कहते हैं- क्रोध से रक्तवर्ण, काली पुतलियों से अनुमित लाल नेत्रवाला बाणसुर का मुख कीलयुक्त-शनि, तथा मङ्गल रूप पाँच ग्रहों से युक्त सूर्य मण्डल के समान संसार के लिए भयेत्पादक हो गया।[6]

आचार्य वराहमिहिर ने दुरुधर योग का लक्षण इस प्रकार बताया है- चन्द्रमा से दूसरे क्या बारहवें दोनों स्थानों में सूर्य को छोड़कर अन्य ग्रहों के रहने पर दुरुधर योग होता है।[7]

ज्योतिष के उपर्युक्त सिद्धान्त का उल्लेख कवि माघ ने इस प्रकार किया है कि- पवनपुत्र (भीमसेन) तथा इन्द्रपुत्र (अर्जुन) के मध्य में स्थित शोभासम्पन्न श्रीकृष्ण सूर्य से भिन्न

---

1. सम्मुखे ह्यर्थलाभाय दक्षिणे सुखसम्पद:।
   वृहज्जोतिस्सार, चन्द्रफलम्, हिन्दी अनुवाद पं0 सूर्यनारायण सिद्धान्ती
2. प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
   अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यत: करसहस्रमपि।। शि.व. 9/6
3. 'उग्रं क्रूरं कुजस्तथा'-मुहूर्त चिन्तामणि नक्षत्र प्रकरण श्लोक-4
4. शि.व. 15/17
5. शनै: रवि शशिक्ष्माजाद्द्विषोन्य: सम:।।2।।
   -बृहज्ज्योतिस्सार, पृ0 150, पं0 सूर्यनाराण सिद्धान्ती
6. शि.व. 15/48
7. 'हित्वाकं सुनफाऽदुरुधरा: स्वान्त्योभयस्थैग्रहै:।
   शीतांशो कथितोऽन्यथा तु बहुभि: केमद्रुमोऽन्यैस्त्वसौ।' वृहज्जातक

किन्ही दो ग्रहों (गुरु तथा शुक्र) के मध्य में स्थित होने से दुरुधर नामक योग को धारण करते हुए सुन्दर चन्द्रमा के सदृश विशेष शोभ रहे थे।[1]

शकुन

शकुन शब्द से सभी प्रकार के भावी शुभ एवं अशुभ के सूचक संकेतों का बोध होता है।[2]

वस्तु के टूटने तथा गिरने से प्राप्त शकुन

शिशुपालवध में रणभूमि में जाने के लिए इच्छुक वीरों ने कठोर वक्षःस्थल से पीन स्तनों को अत्यधिक दबाने से कवच को छिन्न-भिन्न करते हुए आलिङ्गन किया, यहाँ कवच का छिन्न होना कहने से अपशकुन होना सूचित होता है।[3]

हाथ से कंकण का गिरना भी अशुभ माना जाता है।[4] विकलांग व्यक्ति का दर्शन अशुभ माना गया है।[5]

क्षुत (छींक) से प्राप्त शकुन

शिशुपालवध महाकाव्य में शिशुपाल पक्ष का कोई राजा रणभूमि के लिए आ रहा है। उसकी पत्नी के शिथिल हाथों से कंकण भूमि पर गिर जाता है, जिससे छींक जैसा शब्द होता है। राजा इसे अपशकुन समझकर कुछ समय के लिए रुक जाता है।[6] इसी महाकाव्य में अपशकुन के सम्बन्ध में अन्य विश्वासों का भी उल्लेख है। शिशुपाल के पक्ष के वीरों के रणभूमि के लिए प्रस्थान के समय उनकी पत्नियों का रोना[7] पत्नी के द्वारा पति के चरणों को एकटक देखना[8] तथा बालक द्वारा हे पिताजी कहां जा रहे हो? इस प्रकार टोकना[9] भावी अशुभ का सूचक माना गया है।

---

1. शि.व. 14/48
2. शक्नोति शुभाशुभं विज्ञातुमनेनेति शकुनम्-शब्दकल्पद्रुभम् 19621 पंचम काण्ड पृ0 2
3. शि.व. 15/58
4. शि.व. 15/58, 95
5. मुहूर्तपारिजात, यात्राप्रकाण्ड, अपशकुन मनुष्यवर्ग, पत्र 289
6. शि.व. 15/91
7. शि.व. 15/83
8. शि.व. 15/86
9. शि.व. 5/15/87

व्युत्पत्ति-दर्शन

सांख्य दर्शन

सांख्य-दर्शनानुसार बुद्धि ही तत्तद इन्द्रियों के द्वारा पुरुष के उपभोग की सामग्री जुटाती है तथा वही प्रकृति पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्मभेद को भी प्रकट कर देती है, अतः वही प्रधान है।[1]

माघकवि कहते है कि यद्यपि बुद्धि ही बद्ध होती है, मुक्त होती है, सब कुछ अनुभव करती है तथा आत्मा न तो बद्ध होता है न मुक्त होता है, न तो कुछ अनुभव ही करता है, तथापि पुरुष बद्ध हुआ, मुक्त हुआ-आत्मा को सुख या दुःख हो रहा है, इस प्रकार बुद्धि का भोग दृष्टमात्र आत्मा को कहा जाता है। उसी प्रकार आप युद्ध में उपस्थित होकर केवल देखते रहें, सेना ही शत्रुसंहार करेगी, विजय करेगी और आप स्वामी होने के कारण आपको उसका फल प्राप्त होगा। श्रीकृष्ण ने शत्रुसंहार किया उन पर विजय प्राप्त की ऐसा कहा जायेगा। आपको केवल वहां उपस्थित रहना है, कार्य तो सेना करेगी।[2] इस प्रकार कवि माघ का संकेत सांख्य के उक्त वचन की ओर है।

प्रकृति और पुरुष के विवेक का ग्रहण नहीं करने से संसार में आवागमन तथा विवेक का ग्रहण करने से मुक्ति होती है तथा प्रकृति के उपरत होने पर मुक्ति होती है। ऐसा सांख्य का सिद्धान्त है।[3]

उक्त विचार की ओर संकेत करते हुए माघकवि रैवतक पर्वत का वर्णन इस प्रकार करते हैं-इस रैवतक पर्वत पर समाधिधारण करने वाले योगी प्रकृति तथा पुरुष के परस्पर पार्थक्य की ख्याति को प्राप्तकर अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष भिन्न है, यह जानकर स्वयं प्रकाश भाव से स्थित होने के लिए इच्छा करते हैं।[4]

सांख्यशास्त्र का विचार है कि पुरुष के संयोग से ही मूलप्रकृति के साधक हेतु बुद्धि आदि-अचेतन तत्त्व भी चेतन की तरह प्रतीत होते है तथा कर्तव्य के (बुद्धि आदि रूप में

---

1. सर्व प्रत्युपभोगं यस्मांत्पुरुषस्य साधयति बुद्धि।
   सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्।। सा. कारिका 37
2. शि.व. 2/59, 15/7, 15/8
3. सां0 कारिका 63, 68, 65, प्रकृति पुरुषयोर्विवेका ग्रहणात् संसारः
   विवेक ग्रहणन्मुक्ति रिति सांख्या। -टीकाकार मल्लिनाथ द्वारा उद्घृत शिशु0 4/55
4. शि.व. 4/55

परिणत सत्त्व, रज, तम) गुणों में ही निहित रहने पर भी (उसके सन्निधानवश) उदासीन ही पुरुष कर्ता की तरह (सक्रिय) प्रतीत होता है।[1]

माघकवि कहते है कि सांख्यशास्त्र का मत है कि आत्मा स्वयं पुण्य पापादि कर्म नहीं करता किन्तु बुद्धि ही करती है और उसकी प्राप्ति होने से आत्मा ही उन कार्यो को करने वाला माना जाता है, उसी प्रकार युधिष्ठिर यज्ञ में स्वयं हवनादि कार्य नहीं करते थे, ऋत्विज लोग ही करते थे और उसका फल युधिष्ठिर को प्राप्त होने से युधिष्ठिर अपने को उन कर्मों को करने वाला मानते थे।[2]

सांख्यशास्त्रानुसार प्रकृति की विकाररहित अवस्था मूल प्रकृति। महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति एवं विकृति दोनों होते है। केवल विकृतियां सोलह होती हैं तथा जो न किसी से उत्पन्न करता है, वह तत्त्व एक मात्र (पच्चीसवां) पुरुष है।[3]

उक्त विचार को कवि माघ नें श्लेष द्वारा इस प्रकार कहा है- 'ये हरि महत् तत्त्व नहीं है और गुणों की समता से प्रधान भी नहीं है और अहंकार शून्यता को धारण करते हुए ये अपने को संसार में लोगो से पृथग्भूत करते हैं, अतएव ये भगवान् श्रीकृष्ण न तो महत् हैं, न तो प्रधान हैं। न तो भूत है न तो तन्मात्र है और न तो अहङ्कार है किन्तु चौबीस तत्त्वों से बहिर्भूत पच्चीसवां पुरुष है।[4]

सांख्यशास्त्रानुसार त्रिगुण तथा परिणामी होने से बुद्धि आदि में ही कर्तव्य है तथा निर्गुण एवं अपरिणामी होने से पुरुष में कर्तव्य नहीं अपितु द्रष्टृत्व है।[5]

उक्त विचार की ओर संकेत करते हुए कवि माघ कहते हैं कि श्रीकृष्ण न किसी से मारे जाते है न किसी को मारते है, न किसी को सन्तप्त करते है या न किसी से सन्तप्त होते हैं, ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि मारना आदि तो तमोगुण के कार्य है, परमपुरुष निर्गुण (गुणातीत) होने से उनके विषय में उन कार्यो का होना नहीं कहना चाहिए।[6]

---

1. तश्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्ग.म्।
   गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।। सा. करिका 20
2. तस्य सांख्यपुरुषेण। शि0व. 14/19
3. मूलप्रकृतिविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
   षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।। सां.का. 3
4. शि.व. 15/2
5. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्ग.म्।
   गुणकर्तत्वेपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।। सां.का. 20
6. शि.व. 15/14

योग-दर्शन

योग दर्शन के अनुसार-पवित्रता, सन्तोष तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान, ये पांच नियम है।[1]

कवि माघ उक्त योगदर्शन के नियमों की ओर संकेत कर कहते हैं कि- श्रीकृष्ण के दोनों ओर भीमसेन तथा अर्जुन के बैठने के पश्चात् उनकी शोभा ऐसी हुई जैसे यति, यम तथा नियम से होती है।[2]

योगसूत्र में-(अविद्या-अहङ्कार, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पांच) क्लेशों एवं (पुण्य-पापरूप दो) कर्मो के फल को नहीं भोगनेवाले को ईश्वर कहा गया है।[3]

माघकवि उक्त वचन को ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण के विषय में भीष्म के कहे हुए शब्दों को इस प्रकार कहते हैं-'श्रीकृष्ण को सर्वज्ञ आदि रहित, भूभार को दूर करने से शरीर को प्राप्त किये हुए, क्लेशों एवं कर्मो के फल को नहीं भोगने वाले 'ईश्वर' संज्ञक पुरुष विशेष कहते हैं।[4]

मीमांसा-दर्शन

शिशुपालवध महाकाव्य में यज्ञयागादि के वर्णन में मीमांसादर्शन का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। राजसूययज्ञ का जिन श्लोकों में[5] कवि नें चित्र अंकित किया है उसमें मीमांसासम्मत विधिविधान के अतिरिक्त कवि ने उक्त शास्त्र के पारिभाषिक वाक्यलक्षणविदों शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका अर्थ 'मीमांसाशास्त्रज्ञाः' मल्लिनाथ नें किया है। माघकवि कहते हैं कि-'मीमांसाशास्त्र के ज्ञाता ऋत्विज लोगों ने अनुवाक्या (देवता का आह्वान करने वाले मन्त्र विशेष) से उच्चस्वरोच्चारण पूर्वक प्रकाशित (इन्द्रादि) देवता के उद्देश्य से (घृत, पायस आदि हवनीय पदार्थों की याज्या (यज्ञ साधन भूत मंत्र विशेष) से (अग्नि में) छोड़ा अर्थात् वे तत् तत् देवताओं के आह्वान के मन्त्रों का उच्च स्वर से उच्चारण कर उन-उन देवताओं के उद्देश्य से हवन करने लगे।[6]

---

1. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानि नियमाः। योगदर्शन 2/32
2. शि.व. 13/23
3. योगसूत्र-क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। इति-माघ 14/62 की टीका में उद्धृत मल्लिनाथ।
4. शि.व. 14/62
5. शि.व. 14/20, 22 और 25
6. शि.व. 14/20
7. शि.व. 14/22

'कुशाओं की बनी हुई मेखला को पहनी हुई यजमान (युधिष्ठर) की धर्मपत्नी (द्रोपदी) के द्वारा देखे गये हविष्यों को (यज्ञीय धृत आदि पदार्थों) को प्रणयन आदि (परिस्तरण, समिधादान, संमार्जन आदि)

प्रकाशित होती हुई चंचल ज्वालारूपी सैकड़ो जिह्वाओं के प्रभाव से मानों हंसते हुए से अग्नि ने मलिनतारहित अर्थात् शुद्ध और वषट् शब्दोच्चारणपूर्वक छोड़े गये प्रचुर घी का अनेक बार आस्वादन किया।[1]

गीता - दर्शन

गीता का वचन है कि वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूप से भूतों को धारण पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला है।[2]

कवि माघ गीता के उक्त वचन को भीष्म के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं-ये श्रीकृष्ण भगवान् रजोगुण का आश्रय लेकर संसार की रचना करते हुए, ब्रह्मा, सत्त्वगुण का आश्रयकर संसार को स्थिति पर रखते हुए विष्णु और तमोगुण का आश्रय कर संसार का संहार करते हुए हर कहलाते हैं।[3]

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ। इसलिए यह अज्ञानी मनुष्य मुझ अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता है।[4] किन्तु जो मेरे को अजन्मा, अनादि तथा लोकों का महान् ईश्वर तत्त्व से जानता है, वह पापों से मुक्त हो जाता है।[5]

भीष्म कहते है कि श्रीकृष्ण को लोग सत्य आचरणयुक्त होने पर भी मायावी संसार में वृद्ध, अज होने पर भी जन्म को धारण करने वाले और नवीन होने पर भी पुराण पुरुष कहतें हैं, यहाँ कवि माघ ने गीता के उपर्युक्त वचन को ही भीष्म द्वारा कहलाया है।[6]

---

1. शि.व. 14/25
2. गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
   प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। गीता 9/98
   अविभक्तं च भूतेषू विभक्तमिव च स्थितम्।
   भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।। गीता 13/16
3. शि.व. 14/61
4. नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
   मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। गीता 6/22
5. गीता 10/3
6. शि.व. 14/70

गीता के अनुसार श्रीकृष्ण निर्गुण हैं।[1]

शिशुपाल नें श्रीकृष्ण की निन्दा करते हुए उन्हें प्रकारान्तर से गुणत्रयातीत ही कहा है।[2]

गीता के अनुसार श्रीकृष्ण ही क्षेत्रज्ञ हैं[3] और इसीलिए (देह से वाह्य होने से) इन्हें आग नहीं जला सकती।[4]

शिशुपाल श्रीकृष्ण की निन्दा करते हुए उपर्युक्त गीता के वचन को ही प्रकारान्तर से कहता है-लोग इनको क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सब कलाओं से रहित (अवयवरहित) पदार्थ संवेदन में अनुराग-रहित (चिद्रूप) देह से वाह्य (विलक्षण) और उदास कहते हैं।[5]

गीता में श्रीकृष्ण नें कहा है कि 'हे अर्जुन! न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मै देखा जाने वाला शक्य हूँ।[6] शिशुपाल श्रीकृष्ण की निन्दा करते हुए प्रकारान्तर से उनकी स्तुति करता है- भक्ति से शुद्ध बुद्धि वाले उनके उपचार में सदा संलग्न एवं आग्रहशील लोग इनका ग्रहण कर ही लेते हैं।[7] माघकवि नें गीता के उपर्युक्त वचन को ही उक्त शब्दों में व्यक्त किया है।

गीता में श्रीकृष्ण का वचन है कि- सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके योगधारणा में स्थित मेरा चिन्तन करता हुआ जो शरीर को त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है।[8]

शिशुपाल श्रीकृष्ण के विषय में कहता है- परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण की सेवा करने वाले योगी आदि मरकर मुक्त होने से पुनः इस संसार में नही आते हैं। शिशुपाल के शब्दों में माघकवि का उक्त गीता के वचनों की ओर ही संकेत जान पड़ता है।[9]

---

1. अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। गीता 13/31
2. शि.व. 15/32 तथा प्रक्षिप्त 15/6
3. क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। गीता 13/2
4. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। गीता 2/23
5. शि.व. (प्रक्षिप्त 15/3 तथा 5)
6. गीता 15/53
7. शि.व. (प्रक्षिप्त 15/4)
8. गीता 8/12, 13 तथा 16
9. शि.व. (प्रक्षिप्त 15/19)

गीता में श्रीकृष्ण का वचन है कि अनन्य भक्ति करके इस प्रकार चतुर्भुजरूप वाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए और तत्त्व से जानने के लिए भी शक्य हूँ।[1]

शिशुपाल के निन्दात्मक शब्दों में गीता के उपर्युक्त वचन का स्तुतिपरकअर्थ अभिव्यक्त होता है- 'बहुत समय से योगाभ्यास करने के कारण खिन्न और पुण्यात्मा किसी-किसी सेवक जन को एक बार ही श्रीकृष्ण दर्शन देते हैं।[2]

गीता का वचन है कि जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नही जानते हैं, क्योकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है।[3]

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो विभूतियुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु हैं, उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान।[4]

माघकवि शिशुपाल के शब्दों में गीता के उपर्युक्त वचनों को इस प्रकार कहते हैं कि ये श्रीकृष्ण ही रावणारि है- कहना चाहिए क्योंकि जो-जो ऐश्वर्यवान श्रीमान् एवं बलवान जीव हैं वे सब इनके अंश से उत्पन्न हुए हैं।[5]

व्युत्पति-पुराणेतिहास

आलोच्य विषय के कवियों में माघकवि और श्रीहर्ष का पौराणिक ज्ञान उल्लेखनीय है। शिशुपालवध महाकाव्य के क्रम से कोई पौराणिक कथा निश्चित रूप से मिल जाती है। उदाहरणार्थ शिशुपालवध महाकाव्य का प्रथम श्लोक ही द्रष्टव्य है- इसमें कई पद पौराणिक सन्दर्भो से ग्रथित है। श्री. कौन? रूक्मिणी- जो कृष्ण जन्म में रुक्मिणी के रूप में भू-तल पर अवतीर्ण हुई है।[6] चिरन्तन मुनि कौन थे? प्राचीनकाल में विष्णु ने नारायण रूप में बदरिकाश्रम में तपस्या की थी। हिरण्यगर्भ कौन? ब्रह्मा। क्योंकि **सोऽभिधाय शरीरात्स्वसत्सिसृक्षुर्विविधा प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासुबीजभवासृजत्।। तदण्डममद्वैमं**

---

1. गीता 11/54
2. प्रक्षिप्त माघ 15/11
3. गीता 2/19
4. गीता 10/41
5. शि.व. प्रक्षिप्त 15/21
6. राघवत्वे भवेत्सीता रूक्मिणी कृष्णजन्मनि। इति विष्णुपुराणात्
   टीकाकार-मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

सहस्रांशुसमद्रभं, तस्मिन्यते स्वयं ब्रह्मा. सर्वलोक पितामहः। उनके अंगभूत कौन? नारद। क्यो? क्योंकि- उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयं भुवः।[1]

इसके पश्चात् कमलनाभि (विष्णु भगवान्) के अंक से प्रजाओं के समान, शंकरजी के जटासमूह से (गंगा के) जल के समान तथा ब्रह्मा के मुख से वेदों के समान द्वारिकापुरी से श्रीकृष्ण भगवान् की सेनाएं बाहर निकलीं।

यहाँ केवल प्रसिद्ध कथानको का ही संक्षिप्त रूप में उल्लेख कर माघकवि की पुराणेतिहास विषयक व्युत्पत्ति को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

मैनाक पर्वत का जन्म तथा उसका सागर में वास

मैनाक मैना के गर्भ से उत्पन्न हिमालय का पुत्र कहा जाता है। प्राचीन समय में कृतयुग में पर्वतों के भी पंख थे, जिससे वे विशाल गरुड़ की भाँति सर्वत्र उड़ा करते थे। उनके उड़ने से देव, ऋषि तथा अन्य सभी प्राणी भय से आतंकित रहते थे। इस पर इन्द्र क्रुद्ध होकर बज्र से उनके पंख काटने लगे। जब उन्होने मैनाक पर्वत के पंखो को काटने के लिए अपना बज्र उठाया तो वायुदेव नें उसे बचाकर सागर में पटक दिया। परिणामस्वरूप उसके पंख बच गए। वह अपने पंखों को छिपाकर आज भी वहीं स्थित है।

माघकवि नें उक्त कथा की ओर इस प्रकार संकेत किया है- (मैनाक आदि) जो (पर्वत) पंखयुक्त थे, वे (इन्द्र के द्वारा पंखों के काटे जाने के) पहले समुद्र में चले गये और इन्द्र के हाथ में स्थित बज्रायुध से काटे गये पंखों वाले जो-जो पर्वत थे, वे पृथक् किये (उतारे) गये पताका तथा झुण्ड वाले सेना के हाथियों के कपट से स्नान करने के लिए नदियों को प्राप्त किये।[2]

पृथ्वी का उद्धार[3]

प्रलयकाल के पश्चात् भगवान् के नाभिसरोवर से उत्पन्न ब्रह्माजी नें सृष्टिरचंना के लिए भगवान् की स्तुति की। प्रसन्न होकर भगवान् नें ब्रह्माजी से कहा- तुम आलस्य न करो, सृष्टि रचना के उद्यम में तत्पर हो जाओ। इसके पश्चात जब भगवान् की शक्ति से सम्पन्न ब्रह्माजी

---

1. भागवतात्- टीकाकार मल्लिनाथ, उद्घृत।
2. शि.व. 5/31
3. भागवत 3/12/30-33
   महाभारत सभा, 38/29 के पश्चात्।

ने सृष्टि के लिए संकल्प किया, तब उनके दस पुत्र और उत्पन्न हुए। उनसे लोक की वृद्धि हुई। एक बार ब्रह्माजी ने अपने पुत्रों से कहा कि तुम अपने ही समान गुणवती सन्तान उत्पन्न करके पृथ्वी का पालन करो। यह सुनकर मनु ने कहा सब जीवो का निवास-स्थान पृथ्वी इस समय जल में डूबी हुई है। आप इसके उद्धार का प्रयत्न कीजिए। यह सुनकर ब्रह्माजीउसके उद्धार का विचार कर ही रहे थे कि उनके नासाछिद्र से अकस्मात् अंगूठे के बराबर आकार का एक वराह-शिशु निकल पड़ा। वह वराह शिशु देखते ही देखते बड़ा होकर क्षणभर में हाथी के बराबर हो गया। उसे देखकर सभी मुनिगण तरह-तरह के विचार करने लगे। वह वराह-भगवान् यज्ञपुरुष गरजने लगा। वह वराह भगवान् गजराज की सी लीला करते हुए जल में प्रविष्ट हो गये। उनका शरीर बड़ा कठोर था, दाढ़े सफेद थी। वे सूघ-सूंघकर पृथ्वी का पता लगा रहे थे। उन्होने जल को चीरते हुए रसातल में पृथ्वी को देखा और जल में डूबी हुई पृथ्वी को अपनी दाढ़ पर उठाकर ऊपर लाये।

माघकवि ने उक्त पौराणिक कथा को एकाधिक बार इस प्रकार स्मरण किया है- युधिष्ठिर को विश्वजित् नामक यज्ञ करने का अधिकार है यह बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा कि पृथ्वी का उद्धार करने में श्री वराह भगवान् को छोड़कर अन्य किसी की योग्यता नहीं थी।[1] माघकवि उक्त कथा का पुनः उल्लेख इस प्रकार करते है- भगवान् ने वराहावतार धारण कर पृथ्वी को सृष्टि के आरम्भ में उद्धृत किया था किन्तु बाद में हिरण्याक्ष आदि असुर उसे कम्पित किया करते थे स्थिर नही रहने देते थे, और युधिष्ठिर ने राजाओं को पराजित कर पुनः देशो की सीमा विभाजित कर पृथ्वी को इस प्रकार राजाओं में बाँट दिया कि फिर वह सदा के लिए स्थिर ही रही।[2]

त्रिपुर-दाह

महाभारत के अनुसार तारकासुर के तारकाक्ष, कमलाक्षा तथा विद्युन्माली नाम के तीन पुत्र थे। मय दानव ने ब्रह्मा के वरदान से लोहे, रजत तथा सुवर्ण के तीन पुर निर्मित किये।

1. शि.व. 14/14
2. लिङ्गपुराण के अनुसार
   कांचनं दिवि तत्रासीदन्तरीक्षे च राजतम्।
   आयसंचाभवद भूमौ पुरं तेषां महात्मनाम्।।लिङ्गपुराण अध्याय 71, श्लोक11 पूर्णांक
   (क). शिवपुराण अध्याय-53 सनत्कुमारसंहिता।

इन तीनों पुरों में तारक विद्युन्माली तथा स्वयं मय रहते थे। उन्हे भगवान् शंकर के सिवा कोई किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकता था। शंकर भी उन्हें तभी केवल एक बाण से भस्म कर सकते थे, जब पुष्य नक्षत्र में ये तीनो पुर परस्पर मिलते थे। वहाँ रहने वाले दैत्य जब तक पुरी के भीतर रहते तब तक अवध्य थे। इन त्रिपुर निवासी असुरों से त्रस्त देवों द्वारा प्रार्थना करने पर शिव ने पृथ्वी का दिव्यरथ निर्मित किया, संवत्सर का धनुष बनाया तथा अम्बिका को प्रत्यंचा बनाया। विष्णु, चन्द्रमा एवं अग्निबाण बने, ब्रह्मा सारथि बने। इस प्रकार दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर भगवान् शंकर ने उक्त दिव्यबाण से त्रिपुर को भस्म करने के लिए प्रस्थान किया।[1]

हस्तिनापुर जाने के लिए जब श्रीकृष्ण रथारूढ़ हुए और धर्मराज सारथि बने तब माघकवि ने इस कथा को इस प्रकार स्मरण किया है- रथ पर चढ़े हुए इन्द्रप्रस्थ नगर की ओर जाने वाले श्रीकृष्ण के धर्ममूर्ति युधिष्ठिर ने अनुराग से व्याप्त होते हुए उस प्रकार रथ को स्वयं ग्रहण किया अर्थात उनके सारथि का कार्य किया, जिस प्रकार रथ पर चढ़े हुए त्रिपुरासुर के सामने (उसे मारने के लिए) जाने वाले त्रिपुरारी शिवजी के अनुराग से व्याप्त होते हुए धर्ममूर्ति ब्रह्मा नें देवकार्य संपादनार्थ तत्पर शिवजी को देखकर स्वयं सारथि का कार्य किया था।[2]

अगस्त्य का दक्षिण-दिशावास[3]
या
अगस्त्य द्वारा विन्ध्यपर्वतको झुकाना

विन्ध्य एक प्रसिद्ध पर्वत-श्रेणी है, यह आर्यावर्त देश की दक्षिण सीमा पर है।महाभारत के अनुसार एक बार सूर्य के अस्वीकार करने पर यह आकाश की ओर ऊपर बढ़ने लगा और सूर्य का मार्ग रोककर खड़ा हो गया। फलतः सम्पूर्ण विश्व में अशान्ति हो गयी। देवगण घबराकर ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा ने उन्हें अगस्त्य के पास जाने को कहा। देवों ने उनसे विन्ध्य पर्वत की बाढ़ रोकने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। अगस्त्य को देखकर विन्ध्य इतना छोटा हो गया मानों पृथ्वी में समाना चाहता हो।[4] मुनि अगस्त्य ने पर्वत को आदेश दिया कि जब तक मैं यहाँ पुनः लौटकर

---

1. मत्स्यपुराण अध्याय 129/140
2. शि.व. 13/19
3. स्कन्दपुराण काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, अध्याय 1से 5
4. गिरिः खर्वतरो भूत्वा विविक्षुरवनीमिव-स्कन्दपुराण काशी पूर्वार्द्ध 5/56

न आऊँ, तब तक तुम इसी प्रकार लघुरूप स्थित रहो।[1] अगस्त्य दक्षिण दिशा की ओर चले गये और विन्ध्यांचल आज भी अगस्त्य की प्रतीक्षा में जैसा का तैसा खड़ा है।[2]

माघकवि ने उक्त कथा को इस प्रकार स्मरण किया है - "बड़े बड़े चट्टानों के ऊपर चारों ओर से उठते हुए मेघसमूहों से सूर्य के मार्ग को रोकने के लिए पुनः तत्पर विन्ध्यपर्वत के समान आंचरण करते हुए रैवतक पर्वत को श्रीकृष्ण ने देखा।

गरुण पर इन्द्र के द्वारा वज्र प्रहार एवं शेषनाग के साथ गरुड़ की मित्रता

एक समय विनता और माता कद्रू में शर्त लगी, जिसके अनुसार विनता ने कहा कि यदि बात सत्य निकली तो वह कद्रू की दासी बनकर रहेगी।[3] तदनुसार विनता कद्रू की दासी बनी। अपनी माता विनता को सर्पो की माता कद्रू की दासता से मुक्त करने के लिए गरुड़ अमृत लाने चले क्योंकि वह अमृत की प्राप्ति होने पर ही कद्रू की दासता से मुक्त हो सकती थी।[4] अमृत लाने के लिए जाते हुए गरुड़ ने माता से पूँछा कि "माता, मार्ग में मैं क्या खाऊँगा?" माता ने कहा - मार्ग में निषादों का ग्राम है, तुम उन्हें ही खाना, किन्तु ब्राह्मण को मत खाना। जिसके खाने पर तुम्हारा कण्ठ गर्मी से जलने लगे उसे तुम ब्राह्मण जानना। जाते हुए गरुड़ ने मार्ग में निषादों के ग्राम को देखा और भूखे होने के कारण गरुड़ उन्हें खाने लगे। निषादों को खाते हुए गरुड़ ने एक ब्राह्मण को भी खा लिया किन्तु मुख में डालते ही गरुड़ का कण्ठ जलने लगा और उन्होंने उसे ब्राह्मण जानकर तत्काल उगल दिया। अमृत प्राप्त करने के पूर्व गरुड़ को इन्द्रादि देवों के साथ भयानक युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में देवताओं की पराजय हुई। गरुड़ ने सुरक्षित स्थान से अमृत को प्राप्त किया और वह बड़ी तेजी के साथ वहाँ से चले। मार्ग में भगवान् विष्णु से भेंट हो गयी। विष्णु से उनके ध्वज में रहने का उसने वर प्राप्त किया। गरुड़ ने भी विष्णु को वाहन बनाना स्वीकार किया।

---

1. विन्ध्य साधुरसि प्राज्ञमां च जानासि तत्त्वतः।
   पुनरागमनं चेन्मे तावत् खर्वतरोभव।। वही 5/57
2. महाभारत, वन 104,6,13-14,106 में भी विन्ध्यविनयन कथा है।
3. एहि सार्धमया दीव्य दासीभावाय भामिनि। म.भा. आ.प. 20/4
4. श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतमोजसा।
   ततो दास्याद् विप्र मोक्षो भविता तव खेचर।। म.भा. आदिपर्व 27/16

तत्पश्चात् गरुड़ वायु से होड़ लगाते चल रहे थे। अमृत का अपहरण करने के लिए जाते देख इन्द्र ने रोष में भरकर उनके ऊपर वज्र से आघात किया। किन्तु इस आघात से गरुड़ को कुछ भी पीड़ा नहीं हुई। केवल वज्र के सम्मान में उन्होंने अपना केवल एक पंख गिरा दिया। इस प्रकार इन्द्र आदि को परास्त करके गरुड़ अमृत ले आए और उन्होंने अपनी माता को दासता के बन्धन से मुक्त किया। एक बार शेषनाग की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने शेषनाग को पृथ्वी धारण करने का आदेश दिया। आदेश का पालन करने पर पितामह नें शेषनाग के लिए गरुड़ को सहायक बनाया।[1] तभी से गरुड़ की और शेषनाग की मित्रता हो गयी।

माघकवि रैवतक पर्वत पर सेना के पड़ाव वर्णन प्रसङ्ग. में उक्त कथा की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं- (सदा खाये जाने से) अभ्यस्त नीम के पत्तों के साथ में किसी प्रकार मुख के भीतर गये हुए कोमल आप के पत्ते को ऊँट नें तत्काल उस प्रकार उगल दिया जिस प्रकार (कई बार खाये जाने से) अभ्यस्त निषादों के साथ किसी प्रकार मुख के भीतर गये हुए ब्राह्मण को पहले गरुड़ नें उगल दिया था।[2]

रावण की तपस्या और वर प्राप्ति[3]

दशमुख रावण नें दस हजार वर्षों तक लगातार तपस्या की। प्रत्येक सहस्र वर्ष के पूर्ण होने पर वह अपना एक मस्तक काटकर अग्नि में होम देता था। इस तरह एक-एक करके उसके नौ हजार वर्ष बीत गये। और नौ मस्तक भी अग्निदेव के भेंट हो गये। जब दसवाँ सहस्र पूरा हुआ और दशग्रीव अपना दशवां मस्तक काटने के लिए उद्यत हुआ इसी समय पितामह ब्रह्माजी वहाँ आ पहुँचे और बोले दशग्रीवा मै तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ - वर माँगो। रावण नें कहा मैं गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य दानव, राक्षस तथा देवताओं के लिए अवध्य हो जाऊँ। मुझे अन्य प्राणियों से तनिक भी चिन्ता नहीं है। मनुष्य आदि अन्य जीवों को तो मैं तिनके के समान समझता हूँ। उन्होंने इसे इच्छानुसार वरदान दिया।

इन्द्र का सन्देश सुनाने के प्रसङ्ग. में नारदजी श्रीकृष्ण से कहतें हैं- 'तीनों लोकों का

---

1. सुपर्णं च सहायं वै भगवानमरोत्तमः।
   प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामह।। महाभारत आदिपर्व 36/25
2. शि.व. 5/66
3. वा.' रामायण, उत्तरकाण्ड 10

स्वामी होने की इच्छा करने वाले (अतएव शिवजी की प्रसन्नता के लिए) अधिक भक्ति से दशवें सिर को काटने के इच्छुक तथा साहसी रावण नें इच्छानुकूल शिवजी की वरदान रूप प्रसन्नता को विघ्न के समान समझा था।[1]

नारद नें श्रीकृष्ण को शिशुपाल के पूर्वजन्म में किये अर्थात् रावण के कार्यों का स्मरण कराया जब रावण नें सीता का हरण किया था फलस्वरूप आपने (रामरूप) में उसका वध किया।[2]

गौतम पत्नी अहिल्या का अल्पसमय के लिए इन्द्र की पत्नी बनना[3]
या
गौतम का इन्द्र और अहिल्या को शाप

मिथिला के उपवन में महर्षि गौतम का आश्रम था। यहाँ गौतम अपनी पत्नी अहिल्या के साथ रहकर तपस्या करते थे। एक दिन जब गौतम आश्रम पर नहीं थे उपयुक्त अवसर समझकर इन्द्र गौतम मुनि का वेष धारण कर वहाँ आये और अहिल्या से बोले- सुन्दरी! रति की इच्छा रखने वाले प्रार्थी पुरुष ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं करते। मैं तुम्हारे साथ समागम करना चाहता हूँ। अहिल्या मुनिवेश में इन्द्र समझकर भी कौतूहल वश प्रमाद कर बैठी।[4] रति के पश्चात् ज्यों ही इन्द्र आश्रम से बाहर निकल रहे थे, त्योंहि महर्षि गौतम वहाँ आ पहुँचे। गौतम नें इन्द्र को पहचानकर क्रोध में कहा- दुर्मते ! तूने मेरा रूप धारण कर यह न करनें योग्य पापकर्म किया है। इसलिए तू विफल-अण्डकोषों से रहित-हो जायेगा। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि गौतम ने इन्द्र को शाप देकर उसके शरीर भर में योनि के हजारों आकार बना दिये। बड़ी प्रार्थना के पश्चात् ऋषि नें योनि आकार का नेत्र बना दिया। शरीर भर में नेत्र ही नेत्र होने के कारण इन्द्र का यह (सहस्राक्ष) नाम पड़ा।[5] इसके पश्चात् उन्होंने अपनी पत्नी को भी शाप दिया- 'दुराचारिणी ! तू भी यहाँ कई हजार वर्षो तक केवल हवा पीकर या

---

1. शि.व. 1/49
2. शि.व. 1/67-68
3. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 48-49
4. मुनिवेशं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन।
   मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्।। वही 48/17
5. पौराणिक कोश-राणा प्रासाद शर्मा, पृ0 516

उपवास करके कष्ट उठाती हुई राख में पड़ी रहेगी। समस्त प्राणियों के अदृश्य रहकर इस आश्रम में निवास करेगी और जब दशरथ नन्दन राम इस वन में पदार्पण करेंगे तभी उनका आतिथ्य करने से तेरा शाप छूटेगा।'

माघकवि नें रैवतक पर्वत पर यादव नायकों के रमणियों के पास आने तथा मधुपान में प्रवृत्त होने के प्रसङ्ग. में उक्त कथा का इस प्रकार उल्लेख किया है- 'अपनी सपत्नी का नाम लेकर पति के द्वारा बुलाई गयी, कोई रमणी पति से उलाहना देती है- हे प्रियतम, ब्रह्मा नें तुम्हें सहस्र नेत्रों वाला नहीं किया, यह अनुचित ही किया, मेरे विषय में सामनें ही गोत्रभेदी तुमने संसार में आज इन्द्रत्व को प्रकट ही कर दिया है।[1]

गजासुर-वध[2]

गजासुर महिषासुर का पुत्र था। जब उसनें सुना कि देवताओं से प्रेरित होकर देवों नें मेरे पिता का वध कर दिया था, तब प्रतिशोध की भावना से उसनें घोर तप किया। तब ब्रह्मा नें प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि वह काम के वश में होने वाले किसी भी स्त्री या पुरुष से नहीं मरेगा। वर पाकर वह अजेय हो गया। अन्त में देवों की प्रार्थना पर शंकर ने उसे युद्ध में हराकर त्रिशूल में पिरो लिया। तब उसनें शंकर की प्रार्थना की। शंकर नें प्रसन्न होकर इच्छित वर मांगने को कहा। गजासुर नें कहा- शंकर ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न है तो अपने त्रिशूल की अग्नि से पवित्र हुए मेरे इस चर्म को आप सदा धारण किये रहें। भक्तवत्सल शंकर ने गजासुर से- 'तथास्तु' कहा और शंकर कृत्तिवासेश्वर कहलाने लगे।

माघकवि नें शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में नारद का वर्णन करते हुए उक्त कथा का स्मरण किया है।[3]

समुद्र-मन्थन[4]

देवासुर-संग्राम में जब देवता असुरों को हरा न सके तब विष्णु नें देव और असुरों को साथ लेकर क्षीरसागर मथा था, जिसमें से सोम, लक्ष्मी, कौस्तुभ, उच्चैःश्रवा घोड़ा ऐरावत, अमृत धन्वन्तरि आदि 14 रत्न निकले थे। वासुकि नाग को मन्दराचल में लपेटकर समुद्र में छोड़ा गया था। पर्वत नीचे न डूबने पाये, इस लिए भगवान् नें स्वयं कच्छप का रूप धारण

1. शि.व. 9/80
2. शिवपुराण, रुद्रसंहिता, अध्याय 57
3. क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना शि.व. 1/4
4. मत्स्यपुराण 1,9,249,14 से अन्त तक। वायु 23,90,52,37,92,9 विष्णु. 1,9,80-111 भागवत-8/6,7

कर पर्वत को ऊपर उठा दिया था।

माघकवि पौराणिक कथा की ओर दो बार इस प्रकार संकेत करते हैं- श्रीकृष्ण ने देवताओं को भी (सौन्दर्यातिशयश्वे) विस्मयजनक, कमल से सुशोभित हाथवाली समुद्र मन्थन काल में समुद्र से निकलती हुई लक्ष्मी के समान जलाशय से निकलती हुई किसी परमसुन्दरी रमणी को देखकर समुद्र मन्थन का स्मरण किया अर्थात् हाथों में कमल लेकर पानी से निकलती हुई लक्ष्मी के समान परमसुन्दरी रमणी को देखकर भगवान् को समुद्रमन्थन का स्मरण हो गया।[1]

हाथ को अतिशीघ्र चलानें मे गोप लोग मथनीरूपी (मन्दराचल) पर्वत जिसमें छोड़ा गया है, ऐसे, गम्भीर ध्वनि करते हुए दही से मक्खन निकालने के लिए समुद्रवत् बड़े बर्तन में इस प्रकार अलोडितकर मथ रहे है जिस प्रकार शीघ्रतापूर्वक हाथ चलाने में निपुण देवता लोग मन्दराचल पर्वत डाले हुए अतएव गम्भीर ध्वनियुक्त समुद्रजल में से चन्द्रमा को निकालने के लिए समुद्र को अलोकित किये थे।[2]

नारायण का क्षीरसागर में शेषशैय्या पर शयन

पुराणानुसार सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व जल में डूबा रहता है। एक मात्र नारायण क्षीरसागर में शेषशैय्या पर योगनिद्रा का आश्रय ले 'नेत्र बन्द कर शयन करते है। जिस प्रकार अग्नि अपनी ज्वनलनशील शक्तियों को छिपाये हुए काष्ठ में व्याप्त रहता है उसी प्रकार नारायण सम्पूर्ण प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को अपने शरीर में लीन करके अपने आधारभूत उस जल में शयन करते हैं। उन्हें जगाने के लिए केवल कालशक्ति ही जागृत रहती है। यही जीवों में कर्मो की प्रवृत्ति के लिए नारायण को प्रेरित करती है।[3]

शिशुपालवध महाकाव्य में माघकवि नारदागमन के प्रसङ्ग. में उक्त पौराणिक कथांश की ओर संकेत कर कहते हैं- 'युगो के अन्त प्रलय काल में जीवों का उपसंहार करने वाले

1. दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारूहस्ताम्।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव कांचिदुत्तरन्तीम स्मार्षीज्जलनिधि मन्थनस्य शौरिः।। शि.व. 8/64

2. शि.व. 11/8

3. भागवत 3/8, 10-15 'सोऽन्तः शीरीरेऽर्पित भूतसूक्ष्मः कलात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिले पदेस्वे यथानलो दारूणि रुद्धवीर्य।।। 11 भागवत्

कैटभारि (श्रीकृष्ण) के जिस शरीर में चौदहो भुवन विस्तार के साथ रहते थे, उसी शरीर में तपोधन (नारद) के आने से उत्पन्न हर्ष नहीं समा सका।[1]

मार्कण्डेय पुराणानुसार विष्णु के कान के मल से उत्पन्न मधु और कैटभ ने ब्रह्मा को कम्पित किया तब ब्रह्मा ने विष्णु की स्तुति की, अन्त में विष्णु नें उनके साथ युद्ध कर उनका वध किया।[2]

माघकवि नें उक्त कथा को इस प्रकार उल्लिखित किया है- पूर्वकाल में चंचल मधु तथा कैटभ नाम के दो राक्षस चंचल खटमल के समान, समुद्र में सोये हुए श्रीकृष्ण के क्षणमात्र निद्रासम्बन्धी सुख में विघ्न करने वाले बने।[3]

हिरण्यकशिपु

एक दिन ब्रह्मा के मानसपुत्र सनकादि ऋषि स्वच्छन्द विचरण करते हुए बैकुण्ठ में जा पहुंचे। उन्हें साधारण बालक समझकर द्वारपालों नें उनको भीतर जाने से रोक दिया। इस पर वे क्रोधित हुए और उन्होंने द्वारपालों को यह शाप दिया कि 'तुम यहां से पापमयी असुर योनि में जाओ। जब वे बैकुण्ठ से नीचे गिरने लगे तब उन कृपालु महात्माओं ने कहा- अच्छा, तीन जन्मों में इस शाप को भोगकर तुम लोग पुनः इस बैकुण्ठ में आ जाना। वे ही दोनों दिति के पुत्र हुए। उनमें बड़े का नाम हिरण्यकशिपु था और उससे छोटे का नाम हिरण्याक्ष। विष्णु भगवान् ने नृसिंह का रूप धारण करके हिरण्यकशिपु को और पृथ्वी का उद्धार करने के समय वराहवतार ग्रहण करके हिरण्याक्ष का वध किया।

वे ही दोनों विश्रवामुनि के द्वारा केशिनी के गर्भ से राक्षसों के रूप में पैदा हुए। उनका नाम था रावण और कुम्भवर्ण विष्णु ने राम का रूप धारण कर उनका वध किया। वे ही दोनों जय-विजय इस जन्म में श्रीकृष्ण की मौसी के लड़के शिशुपाल और दन्तवक्त्र रूप में क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए थे।[4]

---

1. युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
   तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः।। शि.व. 1/23
2. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय 1, 103-104
3. शि.व. 14/68
4. भागवत 7,2/35-45

माघकवि के शिशुपालवध महाकाव्य में नारद इन्द्र का सन्देश सुनाते हुए श्रीकृष्ण से कहते हैं- आप शिशुपाल का वध करें। वह दूसरे से अवध्य है। वह शत्रु से सदा निर्भय सूर्य के समान तेजस्वी दिति का पुत्र है। यही पहले (पूर्वजन्म में) हिरण्यकशिपु था।[1]

रुक्मिणी हरण

रुक्मिणी विदर्भ नरेश भीष्मक की पुत्री थी।[2] हरिवंश पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण रुक्मिणी पर तथा रुक्मिणी श्रीकृष्ण पर आसक्त थी। परन्तु श्रीकृष्ण ने कंस की हत्या की थी इसलिए रुक्मिणी का भाई रुक्मी उनसे रुष्ट था। रुक्मिणी का विवाह जरासंध की प्रेरणा तथा रुक्मी की सहमति से शिशुपाल के साथ करने का निश्चय हो गया। विवाह के पूर्व जब एक दिन रुक्मिणी इन्द्राणी की पूजा करने मन्दिर में गयी तभी श्रीकृष्ण भी बलराम के साथ रथ लिए वहीं उपस्थित थे। उसके मन्दिर से बाहर आते ही रुक्मिणी को रथ पर बैठा कर श्रीकृष्ण चल दिये। यह ज्ञात होने पर शिशुपाल आदि श्रीकृष्ण से युद्ध करने लगे परन्तु सभी परास्त हुए। तदनन्तर श्रीकृष्ण द्वारिका पहुचे जहाँ रुक्मिणी के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ।[3]

माघकवि नें उक्त कथा की ओर इस प्रकार संकेत किया है- 'बलरामजी शिशुपाल को पराभूत किया है, अत: शिशुपाल के साथ आपका बैर कोई नया नहीं है।'[4]

भूमिपुत्र नरकासुर[5]

भागवत के अनुसार नरकासुर पृथ्वी का पुत्र था। वराहावतार के समय इसका जन्म होने से इसे विष्णुपुत्र भी कहते है। इसने हयग्रीव, सुंद आदि की सहायता से इन्द्र को जीता वरुण का छत्र और अदिति के कुण्डल ले लिये थे ~~का~~ तथा घोर अत्याचार करने लगा था अन्त में श्रीकृष्ण ने जन्म लिया और विष्णु के चक्र से नरक चतुर्दशी को यह मारा गया।

1. अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
   यमिन्द्र शब्दार्थनिसूदनं हरे हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।। शि.व. 1/42 नृसिंहावतार शि.व. 14/72
2. भाग 3, 3, 3 विष्णु 5, 26, 1
3. विष्णु 5, 28, 1-2 भागवत- 10, 52, 16, 21-22, 53, 7-35
4. त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणी हरता हरे।
   बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः।। शि.व. 2/38
5. भागवत- 10, 59, 14-30, 8, 17, 33

इसके भण्डार में कुबेर की सम्पत्ति से भी अधिक सम्पत्ति थी। इसके बन्दीगृह में अनेक राजकुमारियाँ थी; जिन्हें श्रीकृष्ण द्वारिका ले आये थे।

शिशुपाल पर आक्रमण-विचार के प्रसङ्ग. में बलराम नें श्रीकृष्ण को कहा- 'भौमासुर को जीतने के लिए आपके जाने पर शिशुपाल ने द्वारिकापुरी को उस प्रकार घेर लिया, जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर मेरु के प्रान्तीय भाग को अन्धकार घेर लेता है।[1] यहाँ माघकवि का उक्त पौराणिक कथा की ओर ही संकेत प्रतीत होता है।

बलराम ने कहा कि उस शिशुपाल ने जो यादवों की स्त्रियों का अपहरण किया, उसे करना नहीं चाहिए।[2] यहाँ माघकवि ने महाभारत के सभापर्व में वर्णित उस घटना की ओर संकेत किया है जिसमें शिशुपाल ने वभ्रु यदुवंशी राजा की पत्नी का कामासक्त होकर बलात्कार से अपहरण कर लिया था।[3]

मोहिनीरूप में विष्णु द्वारा राहु का शिरच्छेद

समुद्र मन्थन के समय निकले हुए अमृत-कलश के लिए देवों और असुरों में संघर्ष होने पर विष्णु भगवान् ने मोहिनी रूप धारण किया। उनके मोहिनी रूप को देखकर देव-असुर दोनों मोहित होकर उनके कहनें में आ गये। इसके अनन्तर दोनों को अमृत-पान के लिए पृथक-पृथक पंक्ति में बिठा दिया। इसी बीच राहु-दैत्य देवताओं का वेष बनाकर उनके बीच में बैठा और देवताओं के साथ उसनें भी अमृत पी लिया। परन्तु तत्क्षण चन्द्रमा और सूर्य नें रहस्योद्घाटन कर दिया। इस पर भगवान् नें चक्र से उसका शिरच्छेद कर दिया। अमृत का संसर्ग न होने से उसका धड़ नीचे गिर गया परन्तु सिर अमर हो गया, ब्रह्माजी नें उसे 'ग्रह' बना दिया। वही राहु पर्व के दिन वैरभाव से बदला लेने के लिए चन्द्रमा तथा सूर्य पर आक्रमण किया करता है।[4]

---

1. त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम्।
   प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तरीमिव।। शि.व. 2/39, 12/3
2. आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्।
   कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।। शि.व. 2/40
3. महाभारत, सभापर्व 28-36
4. चक्रेण क्षुरधारेण जहारपिबतः शिरः। भागवत 8, 9, 23-26

बलरामजी नें कहा कि समान अपराध होने पर भी राहु सूर्य को विलम्ब से तथा चन्द्रमा को शीघ्रग्रसता है। यह कोमल होने का स्पष्ट फल है। यहाँ कवि माघ का उक्त पौराणिक कथांश की ओर ही संकेत है।[1]

जरासन्धोत्पत्ति[2] तथा भीम द्वारा उसका वध[3]

मगधराज वृहद्रथ की दो पत्नियाँ थी किन्तु दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसके कोई सन्तान न हुई। एक बार राजा अपनी पत्नियों के साथ चण्डकौशिक मुनि के पास पहुंचे और अपना दु:ख सुनाया। मुनि ने राजा को आम का एक फल दिया। राजा ने उस फल को अपनी रानियों को दे दिया। दोनों ने उसे आधा-आधा खाया। फलत: समयपूर्ण होने पर दोनों रानियों से आधे-आधे अंगो वाले सजीव टुकड़े पैदा हुए। रानियों ने भय से उन टुकड़ो को चौराहे पर फेंकवा दिया। इसी समय जरा नाम की राक्षसी नें मांस भोजन के लोभ से उन टुकड़ों को उठा लिया, उसनें उन टुकड़ों को संयुक्त कर दिया जिससे एक सुन्दर जीवित बालक बन गया। राक्षसी यह देखकर चकित हो गयी। उसनें राजा को उनका पुत्र देकर सम्पूर्ण वृत्तान्त कह दिया। राजा नें पुत्र का नाम जरासंध रखा।[4]

जब युधिष्ठिर यज्ञ आरम्भ करने वाले थे तब मगध देश के राजा जरासंध को जीतना शेष था। श्रीकृष्ण जरासंध को जीतने के लिए भीमसेन तथा अर्जुन को साथ में लेकर मगध देश गये। आतिथ्य सत्कार स्वीकार करने पर, उसके पूँछने पर कहा कि हम क्षत्रिय है तथा तुमसे युद्ध करना चाहते है। तुम हम तीनों में से चाहे किसी एक के साथ मल्लयुद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ। ऐसा कहने पर जरासन्ध ने भीम के साथ मल्लयुद्ध करना पसन्द किया और विभिन्न प्रकार के दांव-पेच करते हुए 13 दिन तक युद्ध हुआ। जरासन्ध को श्रान्त देखकर श्रीकृष्ण ने भीम से संकेत करते हुए कहा- वीर, पाण्डुनन्दन, थके हुए शत्रु को

---

1. तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुं चिरेण यत्।
   हिमांशुमांशुं ग्रसते तन्म्रदिम्न: स्फुटं फलम्।। शि.व. 2/49
   मोहिनी रूप में अवतार, शि.व. 14-78
2. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 17, 18
3. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 23-24
4. जरया सिन्धितो यस्माज्जरासन्धोभवत्वयम्।। महा. स.प. 18/11

अधिक दबाना अनुचित है, ऐसा करने पर तो वह शीघ्र ही मर जायेगा।[1] भीमसेन उनका संकेत समझ गये और उसे सौ बार घुमाकर पृथ्वी पर पटक दिया। दूसरी बार श्रीकृष्ण ने एक घास का तिनका लेकर, उसे बीच में से चीर कर दोनों भागों में एक दूसरे को विपरीत दिशा में फेक दिया। यह दूसरा संकेत था। भीम ने ऐसा ही किया। इस प्रकार जरासंध मारा गया।[2]

माघकवि नें शिशुपाल के विपत्ति का उल्लेख करते हुए उक्त पौराणिक कथा का उल्लेख इस प्रकार किया है- 'भीम के द्वारा युद्ध में जरासन्ध के मारे जारे पर मित्र की मृत्यु से सदा दुःखी शिशुपाल को सुखपूर्वक जीता जा सकता है।[3]

श्रीकृष्ण के साथ बाणासुर का युद्ध[4]

अनिरुद्ध रुक्मवती के गर्भ से उत्पन्न प्रद्युम्न के पुत्र और श्रीकृष्ण के पौत्र थे। राजा बलि के ज्येष्ठ पुत्र बाणासुर की पुत्री ऊषा उन्हें ब्याही थी। ऊषा अनिरुद्ध को स्वप्न में देखकर उस पर मुग्ध हो गयी। उसकी सखी चित्रलेखा अनिरुद्ध को ऊषा के पास ले गयी थी। इसका पता चलने पर बाणासुर ने इसे बन्दी बना लिया।[5] नारद ने अनिरुद्ध के बन्दी होने की सूचना श्रीकृष्ण को दी। इस पर श्रीकृष्ण के साथ बाणासुर का घोर युद्ध हुआ। भगवान् शंकर अपने पुत्र तथा गणों के साथ बाणासुर की सहायता के लिए उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण ने जृम्भणास्त्र का प्रयोग किया। महादेव मोहित हो गये। बाणासुर की सेना का संहार हुआ। श्रीकृष्ण ने बाणासुर की भुजाएं काट दीं। यह देखकर महादेव ने श्रीकृष्ण की स्तुति की। प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने कहा कि मै जानता हूँ कि बाणासुर बलि का पुत्र है। अतः मैं इसका बध नहीं कर सकता। इसका मद चूर करने के लिए ही मैंने इसकी भुजाएं काट दी है। अब

---

1. क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे।
   पीड्यमानो हि कार्त्स्येन जह्याज्जीवितमात्मनः।। महाभारत स.प.अ. 23/32
2. पुनः कृष्णस्तमिरिणं द्विधा विच्छियमाधवः।
   व्यत्यस्य प्राक्षिपत् तत् तु जरासंधवधेप्सया।। महाभारत स.प.अ. 23/32
3. हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि।
   चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः।। शि.व. 2/60
4. भागवत 10,63
5. भागवत 10, 62, 12, 20-26, 35

इसकी चार भुजाएं शेष हैं। श्रीकृष्ण से अभयदान प्राप्त करके बाणासुर ने उन्हे नमस्कार किया और अनिरुद्ध जी को अपनी पुत्री ऊषा के साथ रथ पर बैठाकर भगवान् के पास ले आया। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने महादेव की सम्मति से वस्त्रालंकार विभूषित ऊषा और अनिरुद्ध की सेना के साथ लेकर द्वारिका के लिए प्रस्थान किया।

शिशुपाल पर आक्रमण करनें की चर्चा के प्रसङ्ग. में उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं- 'पहले शिशुपाल नें बाणासुर को अश्व-गजादि देकर उपकृत किया है, अत: वह शिशुपाल का पक्षपाती हो गया है। ऐसा शत्रुनाशक बाणासुर गुणी शिशुपाल के साथ मेल कर लेगा। यहाँ पर माघकवि की उक्त पौराणिक कथा की ओर संकेत है।[1]

गोवर्धन पूजा[2]

ब्रजनिवासी गोप वृष्टि होने के लिए प्रतिवर्ष इन्द्र की पूजा किया करते थे। यह बात नन्दजी से ज्ञातकर श्रीकृष्ण ने नन्दसहित ग्रामवासियों को समझाकर गिरिराज गोवर्धन की पूजा करने के लिए सबको राजी कर लिया। तदनुसार दूसरे दिन बहुविध पकवान बनाकर श्रीकृष्ण सहित नन्दजी एवं नगरवासी गिरिराज गोवर्धन जाकर उनकी षोडशोपचार पूजा करके समस्त पकवानों का अर्पण कर दिया और श्रीकृष्ण स्वयं दूसरा विशाल रूप धारण कर गोवर्धन पर्वत पर बैठकर समस्त भोज्य सामग्री का भोग लगाने लगे। उस समय श्रीकृष्ण ने नागरिकों को यह समझाया कि स्वयं गिरिराज प्रकट होकर भोग लगा रहे हैं। इस प्रकार उनके कहने पर श्रद्धा भक्ति से युक्त नागरिकों तथा नन्दजी के साथ श्रीकृष्ण ने भी गिरिराज पर बैठे हुए अपने दूसरे रूप को प्रणाम कर पूजन समाप्त किया और सब लोग आनन्दमग्न हो अपने-अपने घर को चले गये। जब इन्द्र को यह पता चला कि श्रीकृष्ण ने मेरी पूजा को बन्द कर दिया है तब वे बहुत क्रुद्ध हुए तथा चतुर्विध मेघों को आदेश दिया कि तुम लोग मूसलाधार पानी

---

1. सम्पादित फलस्तेन सपक्षः पर भेदनः।
   कामुकेणेव गुणिनाबाणः संधानमेष्यति।। शि.व. 2/97
   उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि।
   आशु दीपयिताल्पोऽपि साग्नीनेधा निवानिलः।। शि.व. 2/19
2. भागवत 10, 15

बरसाकर ब्रज को बहा डालो। उनके आदेशानुसार मेघ झंझावात के साथ मूसलाधार पानी बरसाने लगे जिससे वहाँ निवास करने वाली जनता इन्द्रकोप में ऐसी घनघोर प्रलयंकारी बृष्टि होते हुए जानकर श्रीकृष्ण की शरण में गयी, यह देखकर श्रीकृष्ण ने आश्वासन देकर गोवर्धन पर्वत को जड़ से उखाड़ा और उसे अपनें बायें हाथ की कनिष्ठा अंगुली पर उठाकर नागरिकों को अपने-अपने परिवारों एवं गायों तथा बछड़ों के साथ उसी के नीचे आकर आत्मरक्षा करनें के लिए कहा। उनके वैसा ही करने पर अनेक दिन निरन्तर मूसलाधार बरसते हुए मेघों से जब ब्रजवासियों की लेशमात्र भी हानि नहीं हुई तब इन्द्र का दर्प चूर्ण हो गया और उनके आदेश से वृष्टि भी बन्द हो गयी।

रैवतक पर्वत पर सेना का पड़ाव डालने के प्रसङ्ग. में माघकवि शिशुपालवध महाकाव्य में उक्त पौराणिक कथा का इस प्रकार स्मरण करते हैं- 'सेनाओं से आक्रान्त यह पर्वतराज (रैवतक) क्रीडा करते हुए हाथियों से तोड़े गये वृक्षों के शब्दों से लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण को उच्चस्वर से उलाहना दे रहा था कि 'सम्पूर्ण संसार में आप पर्वत का उद्धार (ऊपर उठाने) करने वाले प्रसिद्ध है, तब (अपनी सेना तथा कुक्षि में त्रिलोक का भार ग्रहण कर मुझ पर निवास करनें से) अत्यन्त भारयुक्त मुझको क्यों नीचे धंसाना चाहते हैं।'[1]

सन्ध्या

भविष्यपुराण में यह कथा मिलती है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने पितरों की रचना करके अपनी उस मूर्ति का त्याग कर दिया, वही सन्ध्या रूप से प्रात: तथा सायंकाल में आकर जनता द्वारा पूजित होती है।[2]

माघकवि सन्ध्या के प्रादुर्भाव वर्णन प्रसङ्ग. में उक्त पौराणिक कथा की ओर संकेत इस प्रकार करते हैं- 'जनसमूह से नमस्कृत (राजसी प्रेकृति होने से) विकसित होते हुए कुसुम्भपुष्प के समान लालिमा को धारण करती हुई पितरो की जननी इस सन्ध्यारूपिणी ब्रह्मा की मूर्ति ने चिरकाल से छोड़ी गयी होने पर भी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ा।[3]

---

1. शि.व. 5/69
2. पितामहा पितॄन्सृष्ट्वा मूर्तिं तामुत्ससर्ज ह।
   सा प्रातः सायमागत्य सन्ध्यारूपेण पूज्यते।। इति भविष्यपुराणमत्र प्रमाणम्।
3. शि.व. 9/14, टीका, मल्लिनाथ।

शकट भंजन[1]

श्रीकृष्ण के अंगपरिवर्तनोत्सव के दिन यशोदा ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्त्ययन एवं मंगलाभिषेकादि कर्म समाप्त कर उन्हें सुला दिया और स्वयं वहाँ पर आयी हुई गोपियों के साथ ब्राह्मण भोजनादि की सामग्री बनाने में संलग्न हो गयी। बालक श्रीकृष्ण एक छकड़े के नीचे सोये थे। वह छकड़ा दूध, दही, मक्खन के भाण्डों से लदा हुआ था। स्तनपान के लिए रोते हुए श्रीकृष्णजी का रोना गृहकार्य में व्यस्त यशोदाजी ने जब नहीं सुना तब वे रोते हुए पैर उछालने लगे और उनके पैर की ठोकर से वह छकड़ा उलट गया उस पर रखे हुए दूध आदि के बर्तन फूट गये। उनका शब्द सुनकर गोपियों के साथ यशोदा जी आयी और वहां खेलते हुए गोप बालकों से उन बालकृष्ण के पैर की ठोकर द्वारा छकड़े के उलटने पर विश्वास न करके उसे ग्रहोपद्रव समझकर उन्होंने ब्राह्मणों से शान्तिस्वस्त्ययनादि करवाया। कहा जाता है कि हिरण्याक्ष के पुत्र को ऋषि लोमश का शाप था उन्होंने कहा था कि वैवस्वत मन्वन्तर में श्रीकृष्ण के चरण स्पर्श से तेरी मुक्ति हो जायेगी। वही असुर छकड़े में आकर बैठ गया था और श्रीकृष्ण के चरणस्पर्श से मुक्त हो गया।

माघकवि प्रभात वर्णन प्रसङ्ग. में उक्त कथा का उल्लेख इस प्रकार करते हैं- दूरवर्ती होने से सूक्ष्म आकारवाली तारा के ऊपर स्पष्ट चमकता हुआ एवं फैला हुआ यह सप्तर्षि मण्डल बाल्यावस्था में श्रीकृष्ण के चपलचरण द्वारा मारने से ऊपर उठे हुए अग्रभाग वाले विशाल शकट (शकटासुर) के समान शोभता है।[2]

दधीचि का अस्थिदान[3]

वृत्तासुर से त्रस्त इन्द्रादि देवों ने भगवान् विष्णु की शरण ली। विष्णु ने उन्हें दधीचि ऋषि से उनकी अस्थि मांगने के लिए कहा। दधीचि ने देवों की प्रार्थना स्वीकार की और योगसाधना से अपने शरीर का त्यागकर अस्थिदान किया। विश्वकर्मा ने उन अस्थियों से बज्र निर्मित किया जिससे इन्द्र ने वृत्तासुर का वध किया।

---

1. भागवत 10, 7 (अध्याय)
2. शि.व. 11/3
3. भागवत 6, अध्याय 9/10, महाभारत वनपर्व, अध्याय 100 में दधीचि का चरित वर्णित है।

पाणिनि ने शिक्षा में वृत्रासुर द्वारा किये जाने वाले यज्ञ का उल्लेख करते हुए कहा है इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर उन्हें मारने के लिए यज्ञ करने लगा, उस यज्ञ में ऋत्विजो को **'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व स्वाहा'** के मन्त्र से 'इन्द्रस्य शत्रुः = इन्द्रशत्रुः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास विगहकर पूर्व पद प्रकृति स्वर का प्रयोग करना समुचित था, किन्तु उन ऋत्विजों ने 'इन्द्रश्चासौ शत्रुः = इन्द्रशत्रुः' ऐसा कर्मधारय समास-परक विग्रह कर इन्द्रशत्रु शब्द में अन्तोदात्त का प्रयोग कर दिया, उसका परिणाम यह हुआ कि इन्द्र की रक्षा हो और यज्ञकर्ता वृत्तासुर ही मारा गया।

माघकवि धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ का वर्णन करते हुए उपर्युक्त घटना का स्मरण इस प्रकार करते हैं- 'व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता ऋत्विज लोग, सन्देह के लिए समान रूप वाले अर्थात् समान रूप होने से सन्देहोत्पादक किन्तु कार्य के प्रति भिन्न फल देने वाले दो समासों के विग्रह का स्वर के द्वारा निर्णय करते थे।[1] यहां माघकवि का संकेत उपर्युक्त वृत्तासुर के यज्ञ घटना की ओर ही प्रतीत होता है।

दत्तात्रेय अवतार[2]

साधारणतया विष्णु के दस प्रसिद्ध अवतारों में दत्तात्रेय की गणना नहीं है। मत्स्य पुराण के अध्याय चार में एक स्थान पर विष्णु के दस अवतारों की गणना में दत्तात्रेय का भी नाम रखा गया है किन्तु ये दस अन्य प्रसिद्ध दसों मे पृथक है- धर्म, नारायण, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम, व्यास बुद्ध तथा कल्कि, इनमें प्रथम तीन अवतार तो जो दिव्य उत्पत्तियां कही जाती हैं- विभिन्न मन्वन्तरों में हुए थे, तथा शेष सात शुक्र के शाप के कारण विभिन्न त्रेता, द्वापर तथा कलियुगों में हुए थे। प्रथम त्रेता में धर्म, एक चतुर्थांश नष्ट होने पर दत्तात्रेय अवतार हुआ। इसी प्रकार पन्द्रहवें त्रेता में मान्धाता, उन्नीसवें में परशुराम तथा चौबीसवें में राम हुए। अट्ठाइसवें द्वापर में व्यास अवतार हुआ, जो आठवां अवतार था। नवां बुद्ध तथा दसवां कल्कि अवतार होगा। हिरवंश पुराण[3] में विष्णु के वाराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास तथा कल्कि अवतारों का वर्णन है। वेदों तथा वैदिक

---

1. संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयो क्रियां प्रति।
   शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते।। शि.व. 14/24
2. हरिवंश 1/41
3. तेन नष्टेषु वेदेषु प्रक्रियासु मखेषु च।
   चातुर्वर्णे च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते।।
   अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टेऽनृते स्थिते।
   प्रजासु शीर्यमाणासु धर्मे चाकुलतां गते।। हरिवंश पुराण 1/41/5-6

यज्ञों के नष्ट होने पर वर्ण, धर्म के अव्यवस्थित हो जाने पर, धर्म के शिथिल होने एवं अधर्म आदि के बढ़ने पर विष्णु का दत्तात्रेय अवतार हुआ। उन्होंने सारी वैदिक व्यवस्थाएं ठीक की तथा हैयराज को वरदान दिया।

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार देवताओं से अनुसूया को उसके इच्छानुसार वर मिला कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों उसके गर्भ से जन्म ग्रहण करेंगे। तदनुसार ब्रह्मा ने सोम बनकर विष्णु ने दत्तात्रेय बन और शिव ने दुर्वासा के रूप में अनुसूया के घर जन्म लिया।[1] भागवत के अनुसार इन्होने 24 पदार्थों से शिक्षा ग्रहण की थी, जिन्हे यह अपना गुरु मानते थे। वे 24 पदार्थ ये है- पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य कबूतर, अजगर, सागर, पतंग, मधुकर, हाथी, मदुहारी, हरिन, मछली, विंगला, वेश्या, गिद्ध, बालक, कुमारी, कन्या, बाण बनाने वाला, साप, मकड़ी और तितली।[2] लक्ष्मी दत्तात्रेय की पत्नी के रूप में मानी गयी हैं। विष्णु रूप दत्तात्रेय योगस्थ रहकर विषयों का अनुभव करते थे।[3] इनके उपदेश से देवगण दैत्यो का वध कर सके।[4] इन्होने कार्तवीर्य को अनेक वरदान दिया तथा अलर्क को योग का उपदेश दिया।[5] स्कन्द-पुराण के काशी खण्ड में[6] एक दत्तात्रेय तीर्थ का वर्णन है, जिसमें स्नान करने वाले को पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति होती है, बताया गया है। अद्वैतवादी अवधूत गीता के भी प्रतिपादक दत्तात्रेय ही माने जाते हैं।

शिशुपालवध महाकाव्य में भीष्म विष्णु के दत्तात्रेय रूप का इस प्रकार उल्लेख करते हैं- 'नाशरहित शरीरवाले अतएव अविनष्ट स्मरण शक्ति वाले ये श्रीकृष्ण उपदेश परम्परा के अभाव होने से नष्ट हुए वेदों को स्मरण करने के लिए अत्रिगोत्र में उत्पन्न दत्त अर्थात् दत्तात्रेय हुए।[7]

---

1. सोमो ब्रह्माभवद्विष्णुर्दत्तात्रेयोभ्य जायत।
   दुर्वासाः शंकरो जज्ञे वरदानाद दिवौकसाम्।। मार्कण्डेय पु0 17, 11
2. विष्णु- 1,10,8, भाग- 2,7,4,4,1,15-33,11,4,17, ब्रहत- 3,8,22,4,28,89, वायु-70,76,8
3. दत्तात्रेयोपि विषयान् योगस्थो बुभुजे हरिः।। मार्कण्डेयपुराण 17/15
4. मार्कण्डेयपुराण अध्याय 18
5. मार्कण्डेयपुराण अध्याय 39-43
6. स्कन्दपुराण-काशीखण्ड 84/18
7. सम्प्रदायविगमादुपेयुषीरेष नाशमविनाशिविग्रहः।
   स्मर्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुतीर्दत्त इत्यभवदत्रिगोत्रजः।। शि.व. 14/79

राम–अवतार

राम त्रेतायुग में कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न हुए। राम अयोध्या के राजा दशरथ के बड़े पुत्र थे जो विष्णु के मुख्य अवतारों में माने जाते हैं। इन्होने वशिष्ठ मुनि की देखरेख में शिक्षा ग्रहण किया। बाल्यकाल में ही विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करते समय इन्होने अनेक राक्षसों को मारा था। इसके पश्चात् यह विश्वामित्र तथा अनुज लक्ष्मण के साथ जनकपुर गये, जहां शिवजी का धनुष तोड़कर सीता से विवाह किया। विवाहोपरान्त राजा दशरथ इन्हें राजगद्दी देना चाहते थे किन्तु कैकेयी के कहने पर इन्हे 14 वर्षो का वनवास दिया। पिता की आज्ञानुसार यह वन गये और जानकी तथा लक्ष्मण इनके साथ ही गये। इस शोक से इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। भरत ने राजगद्दी पर बैठना अस्वीकार कर दिया। चित्रकूट से राम के न लौटने पर भरतजी ने राम की खड़ाऊँ राजसिंहासन पर स्थापित कर राजव्यवस्था देखा। तत्पश्चात् राम गोदावरी तट पर स्थित पंचवटी नामक स्थान बनाकर रहने लगे। यही से रावण द्वारा सीता का हरण हुआ। तदनन्तर राम–रावण का युद्ध हुआ। रावण अपने साथियो सहित मारा गया। रावण के अनुज विभीषण को लंका का राज्य देकर सीता को लेकर राम अयोध्या लौट आये। तत्पश्चात् प्रजा को पूर्णतया सन्तुष्ट रख यह सुख से राज्य करने लगे।[1]

शिशुपालवध महाकाव्य में भीष्म–राम अवतार का उल्लेख इस प्रकार करते हैं- 'प्रजा पालन करने वाले इन्होने (श्रीकृष्ण) मारे गये उद्धत रावणवाली राक्षसों की लंका को अपने तेज से अत्यन्त भयानक राज्याभिषिक्त होने से श्रेष्ठ विभीषण से युक्त, कर दिया।[2]

कृष्ण–अवतार

भागवत के अनुसार दैत्यों के भार से पृथ्वी आक्रान्त होकर ब्रह्माजी के शरण में गयी।[3] ब्रह्मा ने सभी देवों के साथ क्षीर सागर के तट पर जाकर भगवान् विष्णु की स्तुति की। ब्रह्मा ने आकाशवाणी को सुनकर देवों से कहा कि शीघ्र ही वासुदेव के घर में पुरुषोत्तम भगवान प्रकट होगें।[4]

---

1. वाल्मीकि रामायण। रामचरित मानस।
2. शि.व. 14/81
3. भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीक शतायुतैः।
   आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ।। भागवत 10,1
4. वासुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः। भागवत 22

देवकी के विवाह के समय आकाश वाणी हुई थी कि देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न पुत्र कंस को मारेगा। इसी से वासुदेव और देवकी कंस के आदेशानुसार कारागार में बन्द कर दिये गये। देवकी के आठवें गर्भ से भाद्रपक्ष कृष्ण अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र तथा विजय मुहूर्त्त पर जयंती रात्रि की आधीरात में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।

शिशुपालवध महाकाव्य में भगवान के अवतारों का वर्णन करते हुए भीष्म ने कहा कि देवशत्रु (शिशुपाल आदि) को मारने के लिए ब्रह्मा के द्वारा स्वयं प्रार्थित ये श्रीकृष्ण इस समय वसुदेवरूपी कश्यप के पुत्र (श्रीकृष्ण नामक) बने हुए हैं।[1] यहां माघकवि का उक्त कथा की ओर ही संकेत है।

पारिजात हरण[2]

देवराज इन्द्र के नन्दनवन में पारिजात नामक एक देववृक्ष है। इसके पुष्प मनचाही गन्ध देते हैं तथा इसकी शाखाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के रत्न लगते हैं। यह समस्त कामनाओं को देने वाला एक दिव्य वृक्ष है। सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए श्रीकृष्ण इन्द्र से बलपूर्वक इसे ले आये थे और पुनः इसे लौटा दिया था। यह समुद्रमन्थन से निकले 14 रत्नों में से एक रत्न है। जो देवताओं की सम्मति से इन्द्र को दिया गया था।

भीष्म अवतारों के वर्णन प्रसंग में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए पूर्वोक्त भागवत की कथा की ओर संकेत कर कहते हैं कि- जो श्रीकृष्ण शत्रुओं के द्वारा अभिभूत होकर नहीं सूंघे गये (नही पराजित किये गये) छाया (पालन) से देवों के श्रम को दूर करने वाले इन्द्र के अभिमान के समान 'पारिजात' नामक देववृक्ष को उखाड़ लाये।[3]

शिशुपालवध

महाभारत के अनुसार शिशुपाल चेदि देश का एक प्रसिद्ध राजा था, जो श्रीकृष्ण का मौसेरा भाई था। इसके तीन नेत्र और चार हाथ थे। इसके रूप से डरकर माता-पिता नें इसे

---

1. शि.व. 14/82
2. भागवत- 3,15,19,4,6,14,30,32,8,2,10,10,36,16
3. नात्तगन्धमवधूय शत्रुभिश्छायया च शमितामरश्रमम्।
   योऽभिमानमिव वृत्रविद्विषः पारिजातमुदमूलयद्दिवः।। शि.व. 14/84

त्यागना चाहा पर आकाशवाणी हुई कि इसका पालन करो। अतः इसका नाम शिशुपाल रखा गया। आकाशवाणी से यह भी ज्ञात हुआ था कि जिसकी गोद में जाने से इसकी एक (तीसरी) आँख और दो भुजाएं विलीन हो जायेंगी उसी के हाथ इसकी मृत्यु होगी। श्रीकृष्ण की गोद में जाने पर उसकी एक आंख और दो भुजाएं विलीन हो गयी। अतः शिशुपाल की माता को ज्ञात हुआ था कि श्रीकृष्ण के हाथ से उसके पुत्र की मृत्यु होगी। इससे उसनें शिशुपाल के सब अपराध क्षमा करने के लिए श्रीकृष्ण से अनुरोध किया था किन्तु श्रीकृष्ण नें केवल 100 अपराध क्षमा करने का वचन दिया था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय भीष्म की आज्ञा से जब यज्ञ का अर्घ्य श्रीकृष्ण को देना तय हुआ तब शिशुपाल बहुत क्रुद्ध हुआ और सबके समक्ष ही श्रीकृष्ण की निन्दा कर गालियाँ देने लगा। श्रीकृष्ण चुपचाप गालियाँ सुनते रहे और अपनी प्रतिज्ञानुसार 100 गालियों तक तो शान्त रहे पर 101 होते ही उन्होने अपने सुदर्शन चक्र से उसका शिरश्छेद कर दिया।[1] विष्णुपुराणानुसार पूर्व जन्म में यह हिरण्यकशिपु था। विष्णु ने नृसिंहावतार लेकर इसका वध किया। पुनः यह रावण हुआ। इस बार विष्णु ने राम अवतार लेकर इसका वध किया। तीसरी बार यह शिशुपाल के रूप में पुनः प्रकट हुआ और विष्णु के ही हाथों कृष्णावतार में मारा गया।

शिशुपालवध महाकाव्य में विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन करते हुए भीष्म ने कहा कि-ललाटरूपी रेखा से शिवजी के भ्रम को धारण करते हुए चेदिनरेश शिशुपाल का तृतीय नेत्र जिन (श्रीकृष्ण) को प्राप्त कर (सामने देखकर) आंधी को प्राप्तकर दीपक के समान शीघ्र ही बुझ गया।[2] यहां माघकवि का संकेत उपर्युक्त पौराणिक कथा की ओर ही है।

यमलार्जुनभंग[3]

भागवत के अनुसार यमलार्जुन कुबेर के नलकूबर और मणिग्रीव नामक दो पुत्र थे। एक बार ये मद्यपानकर निर्वस्त्र हो स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। जिससे रुष्ट होकर नारद ने

---

1. महाभारत, सभा, 38,1,29 अध्याय 43 पूरा।
2. ये समेत्य च ललाऽलेखया विभ्रतः सपदि शंभुविभ्रमम्।
   चण्डरुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवाद्विलोचनम्।। शि.व. 14/85
3. भागवत 10,10,227

शाप दिया और ये गोकुल में दो वृक्ष हो गये। नन्दपत्नी यशोदा ने एक बार श्रीकृष्ण को दण्ड देने के निमित्त ऊखल से बांध दिया था। इधर श्रीकृष्ण घुटने के बल चलते एवं ओखली को घसीटते आंगन में परस्पर सटे दो वृक्षों के बीच से पार हो गये और ओखली उन वृक्षों के बीच में अटक गयी। श्रीकृष्ण ने एक ओखली को बल लगाकर खींचा तो वे दोनों वृक्ष गिर गये। चेदिनरेश, श्रीकृष्ण द्वारा किये गये शकटासुरवध यमलार्जुन भंग और गोवर्धन आदि की लघुता बतलाते हुए कहता है कि इस चपल कृष्ण ने शकटासुर का वध, यमलार्जुन का उखाड़ना और गोवर्धन पर्वत को उठाकर धारण करना आदि कार्य किया है, स्थिर चित्त वालों को इन कार्यों से कौन सा आश्चर्य होता है ? यहां माघकवि का उक्त भागवत कथा की ओर संकेत है।[1]

भगवान् बुद्ध द्वारा मार विजय[2]

जिस समय बोधिवृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर गौतम बुद्ध बोधि प्राप्ति केलिए अपराजित आसन लगाकर बैठे, उस समय मारदेव पुत्र ने सोचा 'सिद्धार्थ कुमार' मेरे अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, इसे नहीं जाने दूंगा और अपनी सेना के पास जा, यह बात कह घोषणा करवाकर अपनी अत्यन्त विशाल सेना के साथ निकल पड़ा। स्वयं मार डेढ़ सौ योजन के गिरि-मेखल नाम हाथी पर चढ़ा था। उसके भयानक सैनिक नाना प्रकार के रंग तथा मुखवाले बनकर बोधिसत्त्व को डराते हुए आये। मारसेना में देवगण भी थे किन्तु बोधिमण्डप तक पहुंचते-पहुंचते उस सेना में एक भी खड़ा न रह सका। सभी सामने आते ही भाग गये। बुद्ध ने अपनी दस पारमिताओं के द्वारा ही मार को पराजित करने का निश्चय किया। मार ने बात, वर्षा, पाषाण, अस्त्र, धधकती राख, बालू, कीचड़, अन्धकार द्वारा घोर उत्पात किया किन्तु उससे बोधिसत्त्व विचलित न हुए। मार अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर हार गया और अन्त में जब पृथ्वी ने साक्षी रूप में बोधिसत्त्व द्वारा वेस्सन्तर जन्म के समय सात सप्ताह तक दिये गये दानों का प्रमाण दिया तो मार का गिरिमेखल हाथी बुद्ध के सामने घुटने टेककर बैठ गया

---

1. शकटव्युदासतरूभङ्ग.धरणिधरधारणादिकम्।
   कर्म यदयमकरोत्तरलः स्थिरचेतसां क इव तेन विस्मयः।। शि.व. 15/37
2. जातक अविदूरेनिदान पृ0 71

और मार की सारी सेना भाग निकली फिर नाग, गरुड़, देवगण तथा ब्रह्मा उस बोधि-आसन के समीप पहुंचकर बोधिसत्त्व की जयकार करने लगे।[1]

शिशुपालवध महाकाव्य में मार विजय की कथा का उल्लेख हुआ है। शिशुपाल के द्वारा श्रीकृष्ण की निन्दा करने के पश्चात् क्षुब्ध भीष्म द्वारा दिये जाने वाले ऊपर के प्रसङ्ग. में माघकवि कहते है- बुद्धदेव ने जिस प्रकार भयंकर कामदेव की सेना को नष्ट कर दिया, उसी प्रकार शिशुपाल की वह सेना भी भयंकर हो गयी किन्तु श्रीकृष्ण ने भी बुद्धदेव के समान उसे नष्ट कर देंगे, यह सूचित किया गया है।[2]

व्युत्पत्ति-धर्मशास्त्र तथा अन्य विविध विषय

धर्मशास्त्र में पात्र को दान देना चाहिए, साथ ही पात्र के द्वारा दिया हुआ दान भी ग्रहण करना चाहिए। मनु ने कहा कि जो लोभी तथा शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वाले राजा से दान लेता है, वह नरक में जाता है।[3]

उक्त स्मृति आदेश का उल्लेख माघकवि धर्मराज द्वारा यज्ञ के अवसर पर दिये गये दान में इस प्रकार किया है- युधिष्ठिर यज्ञवेदी पर ब्राह्मण समूह को हर्षित करते हुए स्वयं पवित्र हो गये, इसमें क्या आश्चर्य है ? वे ब्राह्मण भी दोषरहित राजा युधिष्ठिर से दोषरहित दान प्राप्त कर पवित्र हो गये।[4]

याज्ञवल्क्य स्मृति का आदेश है कि बढ़े हुए धनादि को (धर्म, अर्थ और काम) सत्पात्रों में लगाना चाहिए।[5]

---

1. जयोंहिबुद्धस्स सिरीमतो अयं। मारस्य च पापिमतो पराजयो। इत्यादि
2. इति तत्तदा विकृतरूपमभजत्तदविभिन्नचेतसम्।
   मारबलमिव भयंकरतां हरिवोधिसत्त्वमभि राजमण्डलम्।। शि.व. 15-58
3 दातंव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः।
   याचितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं स्वशक्तितः।।
   याज्ञ. स्मृति-आचाराध्याय - 203, मनु. 4/87, 235
4. किं नु चित्रमधिवेदि भूपतिर्दक्ष यन्द्विजगणानपूयत्।
   राजतः पुपुविरे निरेनसः प्राप्यतेऽपि विमलं प्रतिग्रहम्।।
5. पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषुनिक्षिपेत्। शि.व. 14/35
   याज्ञवल्क्यस्मृति, अपाराध्यायः 317

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से बोले मैनें जिस धन को धर्मपूर्वक पाकर उसकी रक्षा की तथा उसे बढ़ाया उस धन को विधिपूर्वक मै सत्पात्रों में दान करूँगा, आप उसे स्वीकार करें तथा मै अग्नि में हवन करूंगा।[1] पूर्वोक्त स्मृति सन्देश को माघकवि द्वारा धर्मराज के शब्दों में व्यक्त किया गया है।

मनु का कथन है कि चारो वेद और वेदाङ्गों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ और जिस वंश में 10 पीढ़ियों तक श्रेष्ठि हुए हो, उनमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पंक्ति पावन जानना चाहिए।[2] माघकवि युधिष्ठिरकृत राजसूय यज्ञ के वर्णन में उक्त निर्देश की ओर संकेत करते हुए कहते है- राजा युधिष्ठिर ने दक्षिणा के योग्य और पंक्तिपावन ब्राह्मणसमूह को पंक्ति के क्रम से प्राप्त कर सभा में राजसूय यज्ञ की दक्षिणा को दे दिया।[3] दान देने के पूर्व संकल्प के जल को भी देना शास्त्रीय विधि है।[4] माघकवि ने उक्त विधि का संकेत यज्ञ के अवसर पर धर्मराज के दानवर्ण में दिया है।

मनुस्मृति में भूमिदान भूस्वामित्व को देने वाला कहा गया है।[5] माघकवि नें धर्मराज युधिष्ठिर के भूदान का उल्लेख किया है।[6] स्मृति में आलस्य छोड़कर सन्तुष्ट भाव से याचित दान देने के लिए कहा गया है।[7]

---

1. स्वापतेर्यमधिगम्य धर्मतः पर्यपालयमवीवृधं च यत्।
   तीर्थगामि करवै विधानतस्तज्जुषस्व जुहवानि चानले।। शि.व. 14/9
2. अग्रेयाः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
   श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः।। मनु 3/184
3. दक्षिणीयमवगम्य पङ्क्तिशः पङ्क्तिपावनमथ द्विजव्रजम्।
   दक्षिणः क्षिति पतिर्व्यशिश्रणद्दक्षिणाः सदसि राजसूयकीः।। शि.व. 14/33
4. वारिपूर्वम खिलासु सत्क्रियालब्धशुद्धिषु धनानि बीजवत्।
   भावि विभ्रति फलम् महद्द्विज क्षेत्रभूमिषु नराधिपोऽवपत्।। शि.व. 14/34
5. भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
   ग्रहदोग्रयाणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्।। मनु. 4/230
6. सस्वहस्तकृत चिन्ह शासनः पाकशासनसमानशासनः।
   आ शशाङ्कतपनार्णवस्थितेर्विप्रसादकृत भूयसीर्भुवः।। शि.व. 14/36
7. श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
   श्रद्धाकृते ह्यक्षते भवतः स्वागतैर्धनैः।। मनु. 4/226
   दानधर्मं निषेवेत नित्यमैठिकपार्तिकम।
   परितुष्टेन भावेन पात्रमासाध शक्तितः।। मनु. 4/227

माघकवि ने उक्त आदेश का उल्लेख इस प्रकार किया है- राजा युधिष्ठिर ने किसी याचक को अनादर से नहीं देखा, और याचना करने पर समय यापन नहीं किया, थोड़ा नहीं दिया तथा अपनी प्रशंसा भी नहीं की और याचक की इच्छानुसार देकर भी पश्चात्ताप नहीं किया।[1]

मनु ने कहा है कि उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की सृष्टि की इच्छा से ध्यानकर सर्वप्रथम जल की ही सृष्टि की ओर उसमें शक्तिरूपी बीज को छोड़ा वह बीज सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाश वाला, सुवर्ण के समान शुद्ध अण्डा हो गया, उसमें सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं।[2]

माघकवि भीष्म के इस कथन द्वारा पूर्वोक्त स्मृति वचन का उल्लेख करते हुए कहते हैं- इन्होंने (श्रीकृष्ण) पहले से जल की सृष्टि की फिर उस जल में अमोघ वीर्य को छोड़ा, हिरण्यमय वीर्य से ब्रह्मा उत्पन्न हुए।[3]

शास्त्र में षड् ईतियों, अतिवृष्टि, अनावृष्टि मूषक, शुक और राजाओं का अत्यन्त समीप में आने का उल्लेख मिलता है।[4] माघ ने उक्त ईतियों का उल्लेख शिशुपाल के द्वारा प्रेषित दूत के श्लिष्टवचन में इस प्रकार किया है- उदार एवं धीर चित्तवाले आपका शत्रु सब लोगों से तिरस्कृत स्वपुरुषार्थ वाला, अवश्यम्भाविनी बड़ी आपत्ति वाला, रुकी हुई उन्नति वाला सर्वदा रोगी और नीतिहीन होवे।[5] मनुस्मृति में विविध सुरा का उल्लेख किया

---

1. नैक्षतार्थिनमवज्ञया मुहुर्याचितस्तु न च कालमाक्षिपत्।
   नादिताल्पमथ न व्यकत्थयद्दत्तमिष्टपपि नान्वशेत सः।। शि.व. 14/45
2. सोऽमिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
   अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्।। मनु. 1/8
   तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
   तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह।। मनु. 1/9
3. पूर्वमेषकिल सृष्टवानपस्तासु वीर्यमनिवार्यमादधौ।
   तच्चकारणमभूद्धिरण्मयं ब्रह्मणोऽसृजदसाविदं जगत्।। शि.व. 14/67
4. अतिवृष्टिः रनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः अत्यासन्नाश्च राजानः।
   षडेता ईतयाः स्मृतः। इति कामन्दकः टीका मल्लिनाथ।। 16/11
5. सकलापिहितस्वपौरुषो नियतव्यापदवर्धितोदयः।
   रिपुरुन्नतधीरचेतसः सततव्याधिरनीतिरस्तु ते।। शि.व. 16/11

गया है।[1] माघकवि नें शिशुपाल द्वारा प्रेषित दूत के श्लिष्ट सन्देश में उक्त सुरा का संकेत किया है- हे यदुश्रेष्ठ ! आपके साथ दृढ़ मैत्री होने पर शिशुपाल आपके यहां सुरा सहित नारियल आदि के आसव को पियेगा।[2]

कामन्दकीय नीतिसार में कहा गया है कि जिस स्थान में स्तम्भों की आड़ न हो, झरोखे न हो, कोई आ न सकता हो, दुर्भेद्य हो, अन्तर में कोई वस्तु न हो, ऐसे स्थान में महल के ऊपर या निर्जन वन में व्याकुलता रहित चित्त से मन्त्र का विचार करे।[3]

उक्त निर्देश की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए माघकवि कहते हैं कि- मन्त्रणा के लिए एकत्र.हुए श्रीकृष्ण, बलराम तथा उद्धव तीनों रत्नजटित स्तम्भों में प्रतिबिम्बित होने के कारण अकेले रहते हुए भी पुरुष समुदाय से घिरे हुए के समान सुशोभित हो रहे थे।[4] यद्यपि स्तम्भों तथा खिड़कियों से रहित तथा बिना दीवाल के भीतर स्थित छत के ऊपर या वन में मन्त्रणा के लिए कामन्दक तथा अन्य शास्त्रकारों के कहने से और शिशुपालवध के उक्त वर्णन में रत्नजटित स्तम्भों का उल्लेख होने से यह स्थान मन्त्रणा के लिए अयोग्य सूचित होता है, तथा उक्त वचन एकान्त स्थान का उपलक्षण होने से यहां भी एकान्त स्थान होने से कोई दोष परिलक्षित नही होता।

कौटिल्य का मत है कि चाहे कितना ही क्षय-व्यय क्यों न हो, हर हालत में शत्रु का नाश करना ही उद्देश्य होना चाहिए।[5] आगे अपने सूत्र में पुनः कहा है कि- 'ऋण, शत्रु और रोग को सर्वथा समाप्त कर देना चाहिए।'[6]

1. गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
   यथैवैका तथा सर्वान पातव्या द्विजोत्तमैः।। मनु. 11/94
2. विकचोत्पलैः चारुलोचनस्तव चैद्येन घटामुपेयुषः।
   यदुपुङ्गव बन्धुसौहृदात्वयिपाता ससुरौ नवासवः।। शि.व. 16/12
3. निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्मेधेऽन्तरसंश्रये।
   प्रासादोपर्यरण्ये वा मन्त्रयेताविभावितः।। कामन्दकनीतिसार 11/66
4. रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे।
   एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव।। शि.व. 2/4
5. सुमहतापि क्षय व्ययेन शत्रु विनाशोऽभ्युपगन्तव्यः। अधिकरण-7, प्रकरण-117, अध्याय-13
6. ऋणशत्रु व्याधिष्वशेषः कर्तव्यः। चाणक्यप्रणीतसूत्र 435

उक्त निर्देशानुसार माघकवि ने श्रीकृष्ण से यह कहलवाया है- हिताभिलाषी व्यक्ति बढ़ने वाले रोग तथा शत्रु को शिष्टों ने, राजनीतिज्ञों ने समान घातक कहा है।[1] अतः शिशुपाल का वध करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने छः गुणों को इस प्रकार कहा है- दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना सन्धि, शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह, दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है, यही छः गुण है।[2] शक्तियां तीन हैं- प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति तथा वृद्धि, क्षय और स्थान ये तीन उदय हैं।[3]

उक्त राजनीतिशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग कर माघकवि ने उक्त शास्त्र का ज्ञान इस प्रकार व्यक्त किया है- छः गुण, तीन शक्तियां तथा तीन उदय का व्याख्यान ग्रन्थ को पढ़कर मन्दबुद्धि भी कर सकता है। किन्तु किस अवसर पर क्या करना चाहिए, यह तो कार्य-कुशल राजनीतिज्ञ ही जान सकते हैं।[4]

कामन्दक ने अपने ग्रन्थ में पांच अंगो का वर्णन इस प्रकार दिया है- 1. कार्यो के आरम्भ करने के उपाय, 2. कार्यो की सिद्धि में उपयोगी वस्तुओं का संग्रह, 3. देश तथा काल का यथायोग्य विभाजन, 4. विपत्तियों को दूर करने के उपाय और 5. कार्यो की सिद्धि- ये पांचो अंग ही राजाओं के मन्त्र हैं।[5] माघकवि ने उक्त वचन में उपमालंकार का सहारा लेते हुए बलराम जी के द्वारा इस प्रकार कहलवाया है- 'बलरामजी ने कहा- समस्त कार्यो में

---

1. उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्य पथ्यमिच्छता।
   समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः सच।। शि.व. 2/10
2. तत्र पणबन्धः सन्धिः अपकारो विग्रहः उपेक्षणमासनम् अभ्युच्चयो।
   यानं परार्पणं संश्रयः सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणः।।
   कौटिल्य का अर्थशास्त्र-प्रकरण 98-99, अध्याय एक शक्तयस्तीस्त्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः।। मनु. 7/160
3. क्षयस्थानं वृद्धि रिप्युदयास्तस्य। कौ. अर्थ.शा. प्रकरण 97, अध्याय 2
4. षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः।
   ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम्।। शि.व. 2/26
5. सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
   विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पंचागमिष्यते।। कामन्दकनीतिसार 11/56

सहायादि पांच अंगो के अतिरिक्त राजाओं का उस प्रकार दूसरा कोई मन्त्री नहीं है, जिस प्रकार इस शरीर में पांच स्कन्धों के अतिरिक्त बौद्धों के मत से दूसरा कोई आत्मा नहीं है।[1]

चाणक्य ने अपने सूत्र में कहा है कि किसी भी कार्य में क्षणभर का विलम्ब न करें।[2] अन्यथा मन्त्र का भेद खुल जाने पर कार्य की हानि होती है।

उक्त वचनों को ध्यान में रखकर माघकवि बलरामजी के शब्दों में कहते है कि- मन्त्रणा करने के पश्चात् विलम्ब करना अहितकर भी है, जिस प्रकार कातर योद्धा सम्पूर्ण अंगो के कवचादि से सुरक्षित रहने पर भी शत्रु के भेदन करने् के भय से युद्ध में बहुत समय तक नहीं ठहरता, उसी प्रकार सहायादि सम्पूर्ण अंगो से सुरक्षित भी मंत्र शत्रु के गुप्तचरों के द्वारा ज्ञात होने के भय से बहुत समय तक नही ठहर सकता।

इसी वचन को माघकवि इस प्रकार व्यक्त करते है- बलरामजी के शब्दों में कवि का कथन है कि- अपनी उन्नति तथा शत्रु की हानि करना ही युद्ध करने का लक्ष्य है, बस इतनी ही राजनीति है। अतः राजाओं को सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए।

मित्र तथा शत्रु के 3-3 भेद है- सहज, प्राकृत और कृत्रिम, इनमें से सहज मित्र मामा तथा बुआ के पुत्र और सहज शत्रु चाचा तथा उसके पुत्र होते हैं, प्राकृत मित्र अपने राज्य के बाद जो राज्य है, उस पड़ोसी राज्य के पड़ोस में रहने वाला राजा और प्राकृतशत्रु अपने पड़ोस के राज्य का राजा होता है तथा कृत्रिम मित्र साम, दान आदि के द्वारा बनाया गया और कृत्रिम शत्रु हानि करने वाला तथा जिसको हानि की गयी है वह होता है।

उक्त शत्रुओं में या मित्रों में कृत्रिम या शत्रु ही मुख्य है क्योंकि कार्यवश भलाई या बुराई करने से क्रमशः मित्र शत्रु बने है, इतना ही नहीं, जो सहज तथा प्राकृत मित्र है, वे भी कार्यवश मित्र तथा शत्रु बन जाते है, अतएव सहज प्राकृत तथा कृत्रिम तीनों प्रकार के मित्र तथा शत्रुओं में कृत्रिम मित्र ही तथा शत्रु प्रधान होते हैं।[3]

---

1. सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्ग.स्कन्धपञ्चकम्।
   सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्।। शि.व. 2/28
2. क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु। चाणक्य सूत्र 109
3. मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
   उदासीन प्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः।। मनु. 7/155
   एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
   अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तुताः स्मृता।। मनु. 7/156

उक्त कथन की ओर संकेत करते हुए माघकवि कहते है कि कृत्रिम मित्र तथा बलवान शत्रु मुख्य है, क्योंकि वे कार्यवश होते है एवं सहज तथा प्राकृत मित्र भी कार्यवश मित्र तथा शत्रु होते है।[1] कामन्दकीय नीतिसार में कहा गया है कि यदि अपना हित करते हों तो शत्रु को भी मित्र बना लें और यदि मित्र अहित कार्य करते हों तो उनको भी त्याग दें।[2]

बलराम उक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए कहते है कि उपकार करने वाले शत्रु के साथ मेल करना चाहिए किन्तु अपकार करने वाले मित्र के साथ नहीं। अतः अपकारकर्ता मित्र भी शत्रु सिद्ध होता है, अतएव बुआ का पुत्र होने के कारण सहज मित्र होने पर भी उसके साथ सन्धि करना उचित नहीं है।[3]

कौटिल्य ने कहा है कि तेज से ही कार्यसिद्धि होती है। उनके मत में भाग्य भी पुरुषार्थ का अनुगमन करता है।[4] नीतिवाक्यामृत में कहा गया है कि राजा यदि पराक्रम का प्रदर्शन नहीं करता तो उसका राज्य बनिये की तलवार के समान है।[5]

कामन्दकीय नीतिसार में कहा गया है कि सम्पूर्ण गुणों से हीन होने पर भी जो प्रतापी है, वही राजा है, प्रतापवान् राजा ही शत्रुओं को नष्ट कर सकता है, जैसे सिंह मृगों को प्रताप सिद्ध राजा महालक्ष्मी को प्राप्त होता है, इससे चढ़ाई करने की इच्छा वाला प्रथम शत्रु को प्रताप दिखलावे।[6]

---

1. सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः।
   स्यातामभित्रो मित्रे च सहज प्रकृतावपि।। शि.व. 2/36
2. अमित्राण्यपि कुर्वीत मित्राण्युपचयावहान्।
   अहिते वर्तमानानि मित्राण्यपि परित्यजेत्।। कामन्दकीय नीतिसार 8/73
3. उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।
   उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः।। शि.व. 2/36
4. तेजो हि सन्धान हेतुस्तदर्थानाम्। चाणक्यप्रणीत सूत्र 53
   पुरुषकारमनुवर्तते दैवम्। चाणक्यप्रणीत सूत्र 98
5. अविक्रमतो राज्यं वणिक खड्गयष्टिरिव। नीतिवाक्यामृतम्। 10/60
6. सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि स राजा यः प्रतापवान्।
   प्रतापयुक्ता त्रस्यन्ति परान्सिंहा मृगानिव।। 8/12 कामन्दक
   प्रतापसिद्धोः नृपतिः प्राप्नोति महतीं श्रियम।
   तस्मादुत्थानयोगेन प्रताप जनयेत्परम।। 8/13 कामन्दक 8/120

माघकवि उक्त सिद्धान्तो को ध्यान में रखकर ही बलराम जी से पुरुषार्थ शून्य होने की निन्दा कराकर पुरुषार्थी होने का आग्रह कराते है। बलरामजी एक स्थान पर कहते हैं कि शत्रुओं के उन्नत मस्तक पर बिना पैर को रखे आलम्बन रहित कीर्ति किस प्रकार स्वर्ग को जायेगी?[1]

आचार्य भारद्वाज का कथन है कि अमात्यो के व्यसनी या विपरीत हो जाने पर राजाओं के प्राण खतरे में पड़ जाते है, क्योंकि अमात्य राजाओं के प्राण के समान होते हैं।

आचार्य कौटिल्य का कथन है कि यदि एक प्रकृति व्यसन के कारण शेष प्रकृतियों का भी नाश होता हो तो व्यसन भले ही प्रधान अप्रधान किसी भी प्रकृति से सम्बद्ध क्यों न हो, पहले उसी व्यसन का प्रतीकार करना चाहिए।[2]

उक्त सिद्धान्त की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बहुश्रुत माघकवि कहते हैं कि गुणों, सन्धि विग्रहादि कार्यो के यथायोग्य न करने से जो लोग राजकार्य को बिगाड़ते हैं कपट, मंत्रीवेश धारण किए हुए परन्तु वास्तव में शत्रु तुल्य उनका त्याग कर देना चाहिए।[3]

कामन्दकीय नीतिसार में नित्य व्यसन में फंसे हुए शत्रु तथा शत्रु पक्ष पर आक्रमण करने के लिए कहा गया है।[4] मनु ने कहा है कि जब शत्रु को अमात्य आदि के विरोध या कठोर दण्ड आदि से व्यसन में पड़ा हुआ समझे तब शत्रु पर चढ़ाई करे।[5]

कौटिल्य का भी अभिमत है कि जब भी शत्रु पर आपत्ति आई जान पड़े तभी आक्रमण कर देना चाहिए।[6]

1. अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
   कथङ्क.ार मनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति।। शि.व. 2/52
2. शेषप्रकृतिनाशस्तु यत्रैकव्यसनादभवेत्।
   व्यसनं तग्दरीयः स्यात्प्रधानस्यंतरस्यवा।। कौ. अर्थशास्त्र, अधिकरण-8, प्रकरण 127, अध्याय-1
3. गुणानामायथातथ्यादर्थ विप्लावयन्तिये।
   अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिताः।। शि.व. 2/56
4. प्रायेणसन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति।
   तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी क्षयो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयान्।। का.नीतिसार 15/2
5. तदा यायाद्विग्रह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः। मनु 7/183
6. कौटिल्य पृ0 728 (4,5)

माघकवि उपर्युक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए बलराम के शब्दों में कहते है कि कोई राजनीतिज्ञ अपने प्रभुदण्डलक्षणशक्ति के बढ़े रहने पर शत्रु पर चढ़ाई करना उचित कहते है तथा कोई राजनीतिज्ञ शत्रु विपत्ति में पड़ने पर उस पर चढ़ाई करना उचित कहते हैं, वे दोनों ही अपनी शक्ति की वृद्धि तथा शत्रु की विपत्ति आलस में बैठे हुए आपको युद्ध के लिए उत्साहित कर रहे है। अतः शिशुपाल पर चढ़ाई करने का यही उपयुक्त अवसर है।[1]

कामन्दक के अनुसार पराक्रम से उन्नत शत्रु को भी नष्ट करने में समर्थ जब हों तभी शत्रु का अहित करता हुआ तथा उसे कर्षण एवं पीड़ित करता हुआ उस पर आक्रमण कर देना चाहिए।[2]

उक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर माघकवि बलराम के शब्दों में कहते है कि-यद्यपि आपत्ति में फंसे हुए शत्रु पर चढ़ाई करनी चाहिए, यह जो नीति है, वह मानी पुरुष के लिए लज्जाजनक है, जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा पर राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार समृद्धि से पूर्ण शत्रु पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार समृद्धि से पूर्ण शत्रु पर आक्रमण करना मानी पुरुष के हर्ष के लिए होता है।[3]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहते है कि जिस समय शत्रु पक्ष का धान्य मित्रसेना और लकड़ी, घास आदि को किसी तंग रास्ते से ले जाया जा रहा हो उस समय उसे नष्ट कर दिया जाए।[4]

माघकवि उपर्युक्त सिद्धान्त को बलराम के शब्दो में इस प्रकार कहते हैं- भोज्य पदार्थ, मित्रों की सहायक सेना तथा घास-भूसा, ईधन आदि को रोकनेवाले यादव महिष्मती नाम की नगरी में शत्रु को उस प्रकार घेर ले, जिस प्रकार बंहगियो में दूध आदि ढोनेवाले के आने-जाने को रोकने वाले गोपाल व्रज में गायों को घेरते है।[5]

1. स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे।
   यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थपयति द्वयम्।। शि.व. 2/57
2. यदा समस्तं प्रसभं निहन्तुं पराक्रमादुर्जितमप्यमित्रम्।
   तदाभियायादहितानि कुर्वन्नुपान्ततः कर्षण पीडनानि।। कामन्दकीय नीतिसार 15/2
3. हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि।
   चिरस्य मित्र व्यसनी सुदमो दमघोषजः।। शि.व. 2/60
   नीतिरापदि यद्‌ग परस्तन्मानिनो ह्रिये।
   विधुर्विधुन्तदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः।। शि.व. 2/60-61
4. कौ. अर्थशास्त्र, अधिकरण 12, प्रकरण 166-67, अध्याय 4, पृ0 85
5. निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम्।
   उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः।। शि.व. 2/64

कौटिल्य का अभिमत है कि प्रभावशक्ति की अपेक्षा मन्त्रशक्ति ही श्रेष्ठ है, क्योंकि जिस राजा के पास बुद्धि तथा शास्त्ररूपी नेत्र हैं, वह थोड़ा प्रयत्न करने पर ही मन्त्र का भलीभांति अनुष्ठान कर सकता है और उत्साह, प्रभाव, साम तथा औपनिषदिक उपायों द्वारा शत्रुओं को वश में कर सकता है और इस प्रकार प्रभाव और मन्त्र तीनों शक्तियां उत्तरोत्तर बलवान हैं।[1]

माघकवि उक्त सिद्धान्त को उद्धव के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं- विजयाभिलाषी राजा को अपने में बुद्धि तथा उत्साह दोनों को रखने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि बुद्धि तथा उत्साह विजयाभिलाषी राजा के भविष्य आने वाली प्रभुशक्ति की जड़ है।[2]

नीतिवाक्यामृत में कहा गया है कि प्रमादी निश्चय ही शत्रु के वश में आ जाता है, फिर वह बृहस्पति के समान बुद्धिमान ही क्यों न हो, अतः आत्मरक्षा के कार्यों में कभी भी असावधानी न करे।[3]

उपर्युक्त वचनों को उद्धवजी श्रीकृष्ण के सामने यह कहकर प्रस्तुत करते है कि उपाय से ही कार्य करते हुए भी प्रमादी पुरुष के कार्य नष्ट हो जाते हैं।[4]

नीतिवाक्यामृतम् में कोशबल और सैन्यबल को प्रभुशक्ति तथा पराक्रम और बल को उत्साहशक्ति कहा गया है।[5] नीतिवाक्यामृतकार ने, बुद्धिबल, प्रभुशक्ति तथा उत्साहशक्ति से अर्थात् शक्तित्रय से युक्त राजा को श्रेष्ठ कहा गया है।[6] बारह प्रकार के राजाओं के मध्य

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ0 724
2. प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
   तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः।। शि.व. 2/76 तथा 2/77, 78, 79
3. प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः। नीतिवाक्यामृतम् 10/144
   आत्मरक्षायां कदापि न प्रमाद्येत। नीतिवाक्यामृतम् 25/72 तथा 26/2
4. उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
   हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्।। शि.व. 2/80
5. कोशदण्डबलं चोत्साह शक्तिः। नीतिवाक्यामृतम्। 19/38
   विक्रमोबलं चोत्साह शक्तिः। नीतिवाक्यामृतम् 29/41
6. शक्तित्रयोपचितो ज्यायान्। नीतिवाक्यामृतम् 29/41

में उत्साह (प्रभुशक्ति) सम्पन्न तथा विजयार्थी एक ही राजा उन्नति करने के लिए समर्थ होता है अन्य ग्यारह राजा नहीं। अतएव उत्साह अर्थात् प्रभुशक्ति को भी ग्रहण करना आवश्यक है। प्रथम उद्धवजी ने मन्त्रशक्ति (बुद्धिबल) की मुख्यता कहकर इस श्लोक में उत्साह शक्ति को भी रखना आवश्यक बतलाया है।[1]

कामन्दक के अनुसार- स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, किला, कोष, सेना और मित्र- ये राजा के सात अंग हैं। मनु आदि सभी नीतिकारों ने मन्त्र को गुप्त रखने के लिए कहा है।[2] गुप्तचर को राजा का नेत्र कहा गया है।[3] दूत को राजा का मुख कहा गया है।[4]

माघकवि ने उक्त विचारों को रूपक के द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है- उद्धव कहते है कि बुद्धि रूप शस्त्रवाला, प्रकृतिरूप अङ्गोवाला, मन्त्र अत्यन्त गोपरूप कवचवाला, गुप्तचररूप नेत्रोंवाला और दूतरूपी मुखवाला लोकविलक्षण राजा होता।[5] अर्थात् उपर्युक्त अंगो से युक्त राजा ही कुशल शासक होता है।

मनु ने भी कहा है कि राजा को कार्य देखकर कठोर या मृदु होना चाहिए।[6]

उक्त विचार को काव्यशास्त्र के सिद्धान्त के द्वारा माघकवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है- कालज्ञ राजा को केवल तेज या क्षमा (मृदुता) धारण करनेका नियम नही है, क्योकि रसभाव के ज्ञाता कविके लिए ओजगुणयुक्त या प्रसादगुणयुक्त ही प्रबन्ध की रचना करने का नियम नही है। वह तो रस के अनुसार ओज या प्रसाद गुणयुक्त प्रबन्ध की रचना करता है।[7]

---

1. उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि।
   जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते।। शि.व. 2/81
2. यस्य मंत्र न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
   स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः।। मनु. 7/148
3. चाराश्चक्षुषि क्षितिपतीनाम्। नीतिवाक्यामृतम् 14/1
4. दूतमुखाः वे राजानः। नीतिवाक्यामृतम् 13/18
5. बुद्धिशस्त्र प्रकृत्यङ्ग. धनसंवृत्तिकन्चुकः।
   चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः।। शि.व. 2/82
6. तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चस्यात्कार्य वीक्ष्यमहीपतिः। मनु. 7/140
7. तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
   नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।। शि.व. 2/83

राजनीति के आचार्यों का विचार है कि जब तक समय विपरीत (प्रतिकूल) है तब तक शत्रु को कन्धे पर भी धारण करना चाहिए अर्थात् उसका सम्मान करना चाहिए किन्तु समय अनुकूल होने पर उसे वैसे ही पटककर नष्टकर देना चाहिए, जैसे घड़े को पत्थर से नष्ट कर दिया जाता है।

माघकवि ने उक्त विचार को उद्धव के शब्दो में इस प्रकार व्यक्त किया है- पहले शत्रु के बुराई करने पर भी अपने हार्दिक विरोधों को दबाकर रखने वाला राजा असाध्य शत्रु को उस प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार रोगी को अपथ्य सेवन करने पर भी विकार नहीं करने वाला असाध्य बना हुआ रोग रोगी की शक्ति क्षीण होने पर कुपित हो उसे (रोगी को) मार डालता है।[1]

याज्ञवल्क्य मुनि ने राजधर्मप्रकरण में कहा है कि जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार पौरुष के बिना भी भाग्य या दैव की सिद्धि नही होती है।[2]

माघकवि उक्त विचार को काव्य का आश्रय लेकर उद्धव के शब्दों में इस प्रकार कहते हैं- बुद्धिमान केवल भाग्य का ही अवलम्बन नहीं करता अथवा पुरुषार्थ पर ही निर्भर नही रहता, किन्तु जिस प्रकार श्रेष्ठ कवि शब्द तथा अर्थ दोनो की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार विद्वान भी भाग्य और पुरुषार्थ दोनों का अवलम्बन करता है।[3] अपने राष्ट्र के चिन्तन को 'तन्त्र' कहा गया है।[4] दूसरे के राष्ट्र का चिन्तन 'अवाप' है।

उपर्युक्त दोनों को (अर्थात् तन्त्र तथा अवाप को) जानने वाला तथा योगों (सामादि उपायों या गुप्तचरों) से[5] अपने तथा दूसरे के राष्ट्र को[6] वशीभूत करता हुआ राजा अनायास ही शत्रुओं का दमन कर सकता है।

---

1. कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः।
   असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा।। शि.व. 2/84
2. दैव पुरुष कारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता। 349
   यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्यन गतिर्भवेत्।
   एवं पुरुष कारेण बिना दैवं न सिध्यति। 351-राजधर्म प्रकरण आचाराध्याय याज्ञवल्क्य स्मृति
3. नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
   शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।। शि.व. 2/86
4. तन्त्रं स्वराष्ट्र चिन्तायमावापः परचिन्तने तन्त्रम। इति वैजन्ती
5. समाद्युपायैः इत्यमरः।
6. मण्डलानि स्वपरराष्ट्राणि, अधितिष्ठता तिक्रमता। शि.व. के 2/88 की टीका में उद्धृत मल्लिनाथ।

उपर्युक्त राजनीति के सिद्धान्त को माघकवि ने एक मन्त्रशास्त्र के रूपक द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है- तन्त्र तथा अवाप इन दोनो को जाननेवाला तथा साम आदि उपायों तथा गुप्तचरों की सहायता से अपने तथा परराष्ट्र को वशीभूत करता हुआ राजा सरलता से शत्रुओं का दमन उस प्रकार करता है, जिस प्रकार तन्त्र गारूडिकादि शास्त्र तथा अवाप-औषध प्रयोग या सरसों आदि फेंककर सर्प के आकर्षण को जाननेवाला और योगों, देवता आदि ध्यानों से मण्डलों माहेन्द्र वायव्य आदि देवतायतनों को आक्रान्त करता हुआ सपेरा सर्पो को सरलता से वशीभूत कर लेता है।[1] माघकवि पुनः सर्ग दो श्लोक 76 में व्यक्त विचार बुद्धि तथा उत्साह दोनों की आवश्यकता को ही श्लोक 89 में व्यक्त करते है।

आचार्य कौटिल्य ने कहा है कि जिस राजा के पास बुद्धि तथा शास्त्ररूपी नेत्र है वह थोड़ा प्रयत्न करने पर ही मन्त्र का भलीभांति अनुष्ठान कर सकता है।[2]

मनु ने कहा है कि राजा आठ प्रकार के सब कर्म, पंचवर्ग, अनुराग, अपराग और राजमण्डल के प्रचार का वास्तविक रूप से चिन्तन करें।[3] इस प्रकार प्रज्ञा, उत्साह सम्पन्न और मण्डलाभिज्ञ राजा के अन्य राजा लोग उसके परिचारता को प्राप्त होते है।

माघकवि उपर्युक्त राजनीतिविषयक सिद्धान्त की ओर सङ्गीतशास्त्र के सिद्धान्त द्वारा संकेत करते हुए कहते है कि- प्रज्ञा तथा उत्साह के अधिक होने से तथा मण्डलाभिज्ञ होने से विजयार्थी राजा के अन्य लोग उस प्रकार परिवारता को पाते हैं, जिस प्रकार अधिक उच्चस्वर तथा मुख्य स्वर होने से अन्य स्वर (वीणा गानादि शब्द-स्वर) के परिवारत्व को प्राप्त होते है।[4]

---

1. तन्त्रावापविदा यौगैर्मण्डलान्यतिष्ठिता।
   सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शात्रवः।। शि.व. 2/88
2. मन्त्रशक्तिः श्रेयसी प्रज्ञाशास्त्रचक्षुर्हि राजा अल्पेनापि प्रयत्नेन।
   मन्त्रमाधातुं शक्त.........।। कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण 9, प्रकारण 135-36, अध्याय 1
3. कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्वतः।
   अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च।। मनु 7/154
4. अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः।
   विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम्।। शि.व. 2/90

प्राचीन आचार्यों का मन्तव्य है कि शक्ति, देश और काल इन तीनों में शक्ति ही सर्वोच्च है।[1]

माघकवि न्यायशास्त्र के तर्कसम्मत सिद्धान्त के द्वारा उपर्युक्त राजनीतिक सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार करते है- समर्थ राजा स्वयं निष्क्रिय होकर भी दूसरों से साधित कार्य को वैसा अपना गुण बना लेता है, जैसे व्यापक आकाश स्वयं निष्क्रिय होता हुआ भी दूसरे नगाड़े आदि से उत्पन्न शब्दों को अपना गुण बना लेता है। अतः राजा का शक्तिमान होना आवश्यक है।[2]

मनु ने कहा है कि राजा सन्धि, विग्रह या द्वैधीभाव और संश्रय इन छः गुणों का सर्वदा चिन्तन करे।[3]

कवि माघ उपर्युक्त भाव को श्लिष्टरूप के द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं- शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति) को चाहने वाले (राजा सर्वसाधारण मनुष्य) को षड्गुण (सन्धिविग्रहादि षड्गुण) रूपी रसायन (पृथ्वी को प्राप्त कराने वाला मार्ग, चन्द्रोदय, स्वर्ण, सिन्दूरादि रसायन औषध) का सेवन करना चाहिए इस प्रकार करने से इस (राजा, औषध सेवन करने वाले) के अंग (स्वामी, अमात्य आदि सात अङ्ग. शरीर के अवयवादि) स्थिर (दूसरे समय के लिए समर्थ, अविचल) तथा बलवान (शत्रु पीड़न में समर्थ) होते हैं।[4]

मनु का आदेश है कि राजा अपनी हानि एवं लाभ को विचार कर आसन, यान, सन्धि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे।[5] उक्त सिद्धान्त को ही कविवर माघ इस प्रकार कहते

---

1. शक्तिदेशकालानां तु शक्तिः श्रेयसीत्याचार्यः। कौटिल्यअर्थशास्त्र पृ0 726-चौरवम्भा प्रकाशन
2. अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः।
   व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः।। शि.व. 2/93
3. सन्धि च विग्रह चैव यानमासनमेव च।
   द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा।। मनु. 7/160
4. षाड्गुण्यमुपयुन्जीत शक्त्यपेक्षी रसायनम्।
   भवन्त्यस्यैवमङ्ग.ानि स्थास्नूनि बलवन्ति च।। शि.व. 2/93
5. आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
   कार्यं वीक्ष्य प्रयुन्जीत द्वैधं संश्रयमेव च।। मनु. 7/161

है- षड्गुण रूपी रसायन का पान करने पर भी राजा को अपनी शक्ति का विचार करके ही कार्य करना चाहिए, अन्यथा शक्ति से अधिक कार्यारम्भ करने पर हानि (राजशक्ति की क्षय) होती है।[1]

श्रीकृष्ण से उद्धव पुनः कहते हैं कि 'शिशुपाल अकेला नहीं है, वह तो राजाओं का समूह है। इस तथ्य को माघकवि नें आयुर्वेदिक सिद्धान्त के द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है- 'वह शिशुपाल अकेला है, ऐसा न समझें क्योंकि जिस प्रकार यक्ष्मा रोगों का समूह है, उसी प्रकार वह राजाओं का समूह है।[2]

पञ्चतन्त्रकार विष्णु शर्मा नें कहा है कि परस्पर मिले हुए निर्बल राजा बलवान शत्रु के द्वारा भी पराजित नहीं किये जा सकते, जैसे एक स्थान पर लगे अनेक वृक्ष तेज आंधी के द्वारा भी उखाड़े नहीं जा सकते है।[3]

उपर्युक्त सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं कि - 'सहायकयुक्त' शिशुपाल को जीतना सरल नहीं है क्योंकि, बड़े-बड़े सहायको वाला अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति भी कार्य के अन्त तक पहुंच जाता है, कार्य को सिद्ध कर लेता है, जैसे पहाड़ी नदियां गङ्गा आदि महानदियों में मिलकर उनकी सहायता से समुद्र में पहुंच जाती है। अतः इस समय शिशुपाल के मित्र आपके शत्रु राजा शिशुपाल की सहायता करेंगे।[4]

अर्थशास्त्र गुप्तचरों का शत्रु देश में निवास नामक प्रकरण में कौटिल्य नें कहा है- विजिगीषु राजा चतुर गुप्तचरों को शत्रु पक्ष (ये गुप्तचर) विजिगीषु राजा के पक्ष के है, यह

1. स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामेवृद्धिरङ्गिनाम्।
   अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः।। शि.व. 2/94
2. मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति।
   राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्।। शि.व. 2/96
3. बलिनापि न बध्यन्ते लघवोप्येक संश्रयाः।
   विपक्षेणापि मरुता यथैक स्थानवीरुधः।। पंचतन्त्र 3/51
4. वृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
   सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।।
   तस्यमित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपाः।
   अभियुक्तं त्वयैनं ते गन्तारस्त्वामतः परे।। शि.व. 2/100-101

न जानता हो तथा जो उभयवेतन श्रेणी भोगी हो, ऐसे गुप्तचर कपटलेखा को प्रकटकर शत्रुपक्ष के मंत्री, सेनापति आदि डोड् डाले।[1]

उक्त राजनीतिविषयक सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए उद्धव कहते है कि- जिनके दोषों को दूसरा नहीं जानता तथा जो दूसरों के दोषो को स्वयं जानते है, ऐसे दोनों ओर से वेतन लेने वाले गुप्तचरों द्वारा कपट लेखादिकों को दिखलाकर शत्रु के मन्त्री, नौकर आदि समूहों का भेदन करना चाहिए।[2]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि जो सन्धि सत्यनिष्ठ होकर शपथ पूर्वक की जाती है, वह परम विश्वसनीय तथा स्थायी होती है।[3]

उपर्युक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए उद्धव श्रीकृष्ण को कहते है कि तुमने, तुम्हारे पुत्र के सौ अपराधों को सहूंगा अर्थात् क्षमा करुंगा ऐसा जो श्रुतश्रवा नाम की अपनी बुआ के लिए प्रतिवचन (आश्वासन) दिया है, पूज्य उसके लिए उस (सौ अपराध) की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अतः शिशुपाल का वध करना उचित नहीं है, क्योंकि सज्जन पुरुष जो एक बार कह देते है, उसका अन्त तक पालन करते हैं।[4]

राजनीति में गुप्तचरों का विशेष महत्त्व है। कवि माघ राजनीति में गुप्तचरों के महत्त्व को बतलाते है- जहां नीतिशास्त्र के प्रतिकूल एक पैर रखने का विधान नहीं है, ऐसी

1. तौ चेन्नऽभिधेयातां प्रकाशमेवन्योन्यस्य भूम्या पणेत, ततः परस्परं मित्रव्यन्जनोभयवेतना वा दूतान् प्रेषयेयुः शत्रुमितसन्दध्युः कौटिल्य का अर्थशास्त्र-अधिकरण-13, प्रकरण-173, अध्याय-3
   पृ0 880-81, व्याख्याकार गैरोला चौ0 प्रकाशन
2. अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः।
   भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः।। शि.व. 2/113
   उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम्।
   राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव।। शि.व. 2/114
3. सत्यं शपथो वा परत्रेह च स्थावरः सन्धिः। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्रकरण 112-113, अध्याय-17
4. सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया। प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्त्रै: प्रतिश्रुतम्।।
   तीक्ष्णानारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत्। नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः।।
   शि.व. 2/108-109

साधारण भृत्य से लेकर श्रेष्ठतम अमात्य तक के लिए सुन्दर जीविका वाली तथा कार्य की समाप्ति पर पारितोषिक[1] वाली राजनीति गुप्तचरों के नियुक्ति के बिना शोभा नहीं देती।[2]

नाट्यशास्त्र

अमरकोष के अनुसार नृत्य, गीत और वाद्य इन तीनों का ही नाम नाट्य है।[3] किन्तु यहां नाट्य से अभिप्राय केवल नाट्यशास्त्र से ही है। प्रमुख आचार्यो नें व्युत्पत्ति विषयों में इसे भरतशास्त्र ही कहा है।[4] नाट्यशास्त्र[5] में आङ्गि.क अभिनय के प्रसङ्ग. में भिन्न-भिन्न रसभावों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न कटाक्षपातों का उल्लेख किया गया है। इनमें व्यभिचारी भावों में परिगणित एक 'आकेकरा' कटाक्षपात है, जिसमें नेत्रों के प्रान्तभाग और पलके आकुंचित होती है। ऊपर और नीचे की पलकें एक-दूसरे के समीप आ जाने के कारण अर्द्धनिमीलित दृष्टि परिलक्षित होती है किन्तु नेत्रों के गोलक निरन्तर चलते रहते हैं।[6]

माघकवि ने सुरतावसान के दृश्य का वर्णन करते हुए प्रेक्षणीयकमिव कहकर उसे आहार्यक वस्तु की उपमा दी है। लज्जा से स्खलित दृष्टिपातवाले तथा सम्भ्रम से शीघ्र ग्रहण किये गये वस्त्र से आवृत किये जा रहे है। जिस प्रकार नाटक के अन्त में सहसा पर्दा गिराकर दृश्य पदार्थ को आच्छादित कर दिया जाता है, उसी प्रकार इस सुरतान्त में रमणियों ने शीघ्रता से वस्त्र को गिराकर उससे अपने शरीर को आच्छादित कर लिया।[7]

---

1. मनु. 7/96-201
2. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
   शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा।। शि.व. 2/112
3. तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्। अमरकोष 1/7/11
4. नाट्यशास्त्र के प्रत्येक अध्याय के अन्त में इस प्रकार लिखा रहता है।
   इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे.......।
5. भरत नाट्यशास्त्र 8/62-90
6. नृत्यविलास में आकेकर दृष्टिपात का लक्षण इस प्रकार दिया है-
   दृष्टिराकेकरा किंचित्स्फुटापांगे प्रसारिता।
   मीलितार्घपुटा लोके ताराव्यावर्तनोत्तरा।। किरात 8/53 की टीका में उद्धृत मल्लिनाथ
7. प्रेक्षणीयकमिव क्षणमासन् ह्रीविभंगुरवि लोचनपाताः।
   संभ्रमद्रुतगृहीतदुकूलच्छाद्यमानवपुषः सुरतान्ताः।। शि.व. 10/82

भरतमुनि का आदेश है कि नाटक की रचना गोपुच्छाग्र के समान होनी चाहिए।[1]

उक्त आदेश की ओर संकेत करते हुए माघकवि ने नाटक की मुख आदि सन्धि व अंक के विषय में इस प्रकार कहा है– 'शिशुपाल के द्वारा नागास्त्र का प्रयोग होने पर वे नागमुख में मोटे (मुखसन्धि) विस्तृत और क्रमशः मुख के अतिरिक्त मध्य भाग में, पूंछ में पतलापन धारण करते (प्रतिमुख आदि सन्धियों में गोपुच्छ के समान संक्षिप्त होते हुए) नाट्यशास्त्र के जाननेवाले कवियों से रचे गये काव्य में ग्रथित अंकोवाले नाटकों के विस्तार के समान प्रतीत हुए।[2]

धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के वर्णन प्रसङ्ग. में माघकवि नाटक में दर्शको को अनुभूत होने वाले रस की ओर संकेत करते हुए कहते है कि– जिस प्रकार दर्शक गण नाटक को देखते समय श्रृङ्गार आदि नवों रसों का अनुभव करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित लोग भोजन करते समय मधुर, अम्ल आदि छः रसों के व्यञ्जनों का आस्वादन कर आनन्द प्राप्त कर रहे थे। जिस प्रकार नाटक में संस्कृत, प्राकृत अनेक भाषाओं का व्यवहार होता है, उसी प्रकार उस यज्ञ के भोज्य पदार्थों में बहुत पदार्थ संस्कृत अर्थात् पकाये गये थे और कुछ प्राकृत अर्थात् वैसे ही रखे गये थे। नाटक में जिस प्रकार एक पात्र से दूसरा पात्र नहीं मिलता तथा जैसे नाटक में स्थायी भाव रहता है, वैसे यज्ञ के भोज्य पदार्थों में भी स्वाभाविक शुद्धि थी।[3]

उपर्युक्त श्लोक के अर्थ से माघकवि की नाट्यविषयक बहुज्ञता परिलक्षित होती है।

दशरूपक में पूर्वरङ्. शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है– पूर्णं रज्यतेऽस्मिन् इति पूर्वरङ्. नाट्यशाला, तत्स्थं कर्माणि पूर्वरङ्. इति। जिसमें सामाजिकों को पहले आनन्द मिले। इस प्रकार पूर्वरङ्. का तात्पर्य नाट्यशाला से है।[4]

---

1. कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य।
   ये चोदात्ताः भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः।। नाट्यशास्त्र 20-46
2. दधतस्तनिमानपूर्व्या बभुरक्षिश्रवसो मुखे विशालाः।
   भरतज्ञकविप्रणीतकाव्यग्रथितांका इव नाटक प्रपञ्चाः।। शि.व. 20/44
3. स्वादयन्रसमनेकसंस्कृत प्राकृतैरकृत पात्रसंकरैः।
   भावशुद्धि सिहितैर्मुदंजनो नाटकैरिव बभार भोजनैः।। शि.व. 14/50
4. दशरूमकम्, तृतीय प्रकाश, कारिका, 2 की टीका

उपर्युक्त निर्देशानुसार माघकवि कहते हैं- श्रीकृष्ण ने उद्धव व बलराम से कहा आप लोगों के वचनों को अवसर देने के लिए हमारे (युधिष्ठर के यहां यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए हस्तिनापुर को जाना तथा इन्द्र-कार्यार्थ शिशुपाल को मारने के लिए चेदिनरेश को जाना) ये वचन है; क्योंकि नाटक सम्बन्धी कार्य के प्रसङ्ग. के लिए पूर्वरङ्ग. होता है।[1]

जिस प्रकार नाटक की पूरी तैयारी कराने के लिए सर्वप्रथम देवस्तुति गाना, बजाना आदि किये जाते है, वस्तुतः वे नाटक के विषय नहीं होते, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने कहा कि हम जो कह रहे हैं, वह वस्तुतः निर्णीत सिद्धान्त नहीं है, किंन्तु आप लोगों को कहने का अवसर देने के लिए नाटकीय पूर्वरङ्ग. के समान यत् किञ्चिन्मात्र है।

नाट्यशास्त्र नें नायक को चार भेदों में विभक्त किया है। 1. ललित, 2. शान्त, 3. उदात्त, 4. उद्धत।[2] नायक का एक दूसरे प्रकार से भी वर्गीकरण किया जाता है। यह वर्गीकरण उसके व्यापार एवं तत्सम्बन्धी व्यवहार के अनुरूप होता है। प्रेम की अवस्था में नायक के दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल ये चार रूप देखे जा सकते है।[3]

यहां यह उल्लेखनीय है कि एक ही नायक में उक्त तीनों रूप देखे जा सकते है। जैसे-एक ही नायक पहले ज्येष्ठा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, अतः दक्षिण नायक रहता है। वही कभी छिप-छिपकर कनिष्ठा से श्रृङ्गार चेष्टा करता है, अतः शठ हो जाता है। बाद में जब उसकी चालाकी ज्येष्ठा के द्वारा पकड़ ली जाती है, तो धृष्ट नायक की कोटि में आ जाता है। अनुकूल नायक सदा एक नायिका के प्रति आसक्त रहता है।

माघकवि ने अनुकूल नायक का चित्र इस प्रकारः अंकित किया है- ऊँचाई पर स्थित फूलों को (आप इन फूलों को तोड़कर दीजिए) मांगती हुई अत्यधिक बड़े-बड़े स्तनोवाली मुग्धाङ्ग.ना को तुम स्वयं ही इन फूलो.की ग्रहण करो, ऐसा कहकर आलिङ्ग.न का लोभी किसी चतुर नायक ने दोनो हाथों से ऊपर उठा लिया।[4]

---

1. भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः।
   पूर्वरङ्ग. प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः।। शि.व. 2/8
2. भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्। दशरूपक 2/3
3. स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः।
   ऽनुकूलस्त्वेक नायकः।।7।। दशरूपक 2/6,7
4. अयच्चैकायत्तस्वादनुकूल नायकः। मल्लिनाथ, शिशुपालबध 7/49

उक्त नायक दक्षिण होता हुआ भी, ज्येष्ठा नायिका के द्वारा पकड़े जाने के कारण धृष्ट कोटि में आता है।

नायिकाएं

शिशुपालवध महाकाव्य नायक प्रधान है। इसमें नायिकाओं का चारित्रिक विकास नगण्य हुआ है। फिर भी कामशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के प्रभाव के कारण इस महाकाव्य की प्रमुख नायिकाओं एवं उनकी श्रृङ्गारी सहायक स्त्री पात्रों को नाट्यशास्त्रोक्त एवं कामशास्त्रोक्त रीति से विभाजित किया जा सकता है। दशरूपककार ने नायिका को तीन प्रकार का माना है। 1. स्वीया नायक की स्वयं परिणीता पत्नी। 2. अन्या और 3. साधारण स्त्री।[1]

स्वीया नायिका शील, लज्जा आदि से युक्त होती है। वह सच्चरित, पतिव्रता, अकुटिल, लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में अत्यन्त निपुण होती है।

यह स्वीया मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा या प्रगल्भा तीन प्रकार की होती है।

मुग्धा नायिका सम्प्राप्त यौवना होती है, वह भोली, प्रेमक्रीडा कलाओं से अज्ञात तथा प्रेमक्रीडा से भयभीत सी रहती है। वह नायक के समीप अकेली रहनें में डरती है तथा नायक के प्रतिकूलाचरण पर क्रोध नहीं करती अपितु स्वयं रोती है।

मध्या नायिका सम्प्राप्त तारुण्यकामा होती है, उसमें कामवासना उद्भूत हो जाती है। नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर वह क्रुद्ध होती है। ऐसी दशा में उसके तीन रूप होते है– 1. धीरा, 2. अधीरा, 3. धीराधीरा।

1. धीरमध्या प्रतिकूल आचरण करने वाले नायक को श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपालम्भ देती है। 2. अधीरा कटु शब्दों का प्रयोग करती है। 3. धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, दूसरी ओर नायक को व्यङ्ग्य भी सुनाती है।

इस प्रकार मध्या नायिका तीन प्रकार की होती है। प्रौढ़ा या प्रगल्भा नायिका प्रेमकला में दक्ष होती है, प्रेम क्रीडा में वह विविध प्रकार के अनुभव रखती है। कृतापराध प्रिय के प्रति उसका आचरण मध्या की भांति ही तीन तरह का हो सकता है। अतः वह भी तीन प्रकार की होती है– 1. धीरा, 2. अधीरा, 3. धीराधीरा।

---

1. स्वान्या साधारणस्त्रीति द्गुणा नायिका त्रिधा।
   मुग्धा, मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।। दशरूपक 2/15

1. धीरा प्रौढ़ा या प्रगल्भा प्रिय को कुछ नहीं कहती, वह केवल उदासीन वृत्ति धारण कर लेती है। इस प्रकार वह नायक की कामक्रीडा में सहायता नहीं करती और उसमें बाधक होकर अपने क्रोध को व्यक्त करती है।

2. अधीरा प्रौढ़ा या प्रगल्भा नायक को डराती है, धमकाती है, यहां तक कि वह नायक को मारती-पीटती भी है।

3. धीराधीरा प्रौढ़ा या प्रगल्भा मध्या धीरा-धीरा की भांति ही व्यङ्ग.योक्ति का प्रयोग करती है।[1]

इसके साथ ही मध्या तथा प्रौढ़ा के तीन-तीन भेदों को पुनः ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के रूप में वर्गीकरण किया जाता है। इस प्रकार नायिका के इन विविध प्रकार के भेदों का वर्णन माघकवि ने अपने महाकाव्य में सहायिका श्रृङ्गारी नायिकाओं के रूप में किया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

शिशुपालवध महाकाव्य के सप्तम सर्ग से मध्याधीरा का उदाहरण इस प्रकार है- यहाँ माघकवि ने उक्त लक्षण को साकार कर दिया है- किसी नायक के अन्य नायिका से प्रेम करके तथा उसके पास रात्रियापन करके अपराध किया है। वहाँ ये लौटने पर ज्येष्ठा नायिका के पास आकर, वह प्रसन्न करने के लिए नायिका को पल्लव देना चाहता है। नायिका उसे उलाहना देती हुई कहती है- क्षमा कीजिए, हम इस पल्लव दान के उपयुक्त पात्र नहीं है, जो कोई तुम्हारी प्रिया हो, जो एकान्त में तुम्हारा पान (चुम्बन) करती हो, तथा (प्रेम करके) तुम्हारी रक्षा करती हो, जाइए, उसे ही यह पल्लव अथवा यह श्रृङ्गारी रसिक जो विटों की रक्षा करता हो, सौंपिये। ताकि कम से कम दोनों समान गुण वालों का योग सदा के लिए हो जाय। वह तुम्हारी प्रिया तुम जैसे विटों का पान करती है तथा रक्षा करती है।[2]

माघकवि ने प्रौढ़ा नायिका का वर्णन इस प्रकार किया है- सामने वृक्ष से लिपटी लता का अनुकरण करती हुई किसी अङ्गना ने सरलता से चपलतारूपी दोष का विचार छोड़कर

1. दशरूपक 2/15, 16, 17, 18, 19
2. न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ हरस्त्वाम्।
   व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः।। शिशुपाल वध 7/53

सखियों के सामने ही प्रियतम का आलिङ्गन कर लिया।[1]

नायिकाएं अवस्थाभेद से आठ प्रकार की होती है- 1. स्वाधीन-पतिका, 2. वासकसज्जा, 3. विरहोत्कण्ठिता, 4. खण्डिता, 5. कलहान्तरिता, 6. विप्रलब्धा, 7. प्रोषितप्रिया तथा 8. अभिसारिका। माघकवि ने उक्त भेदों के चित्र अपने काव्य में अंकित किया है।

उक्त भेदों में से कुछ नायिकाओं के चित्र यहाँ प्रस्तुत किये जाते है- वासक सज्जा वह नायिका है, जो प्रिय के आने के समय हर्ष से अपने आपको सजाती है।[2]

उक्त निर्देशानुसार माघकवि वासक सज्जा नायिका का चित्र इस प्रकार अंकित करते हैं- भविष्य में प्रियतम आने वाले हैं, ऐसा सोचकर कोई नायिका अपने हाथरूपी पल्लव के किनारे से स्खलित होने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उड़े हुए मुखकमल के मुखश्वास के द्वारा धीरे से अपने मुख की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रफुल्लित हो रही थी।[3]

नायिका को जब किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध पता हो जाए तथा इस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे, साथ ही वह रो पड़े, तो वह खण्डिता नायिका कहलाती हैं।[4]

माघकवि खण्डिता नायिका का चित्रण इस प्रकार करते है-कोई नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है। वह अन्य नायिका दत्त अपने नखक्षत व दन्तक्षत को उत्तरीय आदि से छिपा रहा है। नायिका यह सब समझती हुई कहती है तुम अपने उत्तरीय से नवीन नखक्षत चिन्ह से युक्त अंग छिपा रहे हो। अन्य स्त्री के दांतो से काटे हुए अधरोष्ठ को हाथ से ढंक रहे हो, लेकिन चारो दिशाओं में फैलता हुआ, अन्य स्त्री के सम्भोग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमलगन्ध किसके द्वारा छिपाया जा सकता है ? तुम नखक्षत व दन्तक्षत लाख

---

1. विलसितमनुकुर्वती पुरस्ताद्धरणिरूहाधिरूढो वधूर्लतायाः।
   रमणमृजुतया पुरः सखीनामकलित चापलदोषमालिलिङ्ग.।। शि.व. 7/46
2. मुदा वासकसज्जा एवं मण्डयत्येष्यति प्रिये। दशरूपक 2/24
3. निजपाणिपल्लव तलस्खलनादभिनासिका विवरमुत्पतितैः।
   अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः।। शि.व. 9/52
4. ज्ञातेऽन्यासंग विकृते खण्डितेर्ष्या कषायिता। दशरूपक 2/25
   अधीराश्रु विमुंचन्ती विज्ञेया चात्रनायिका, इति दशरूपके।

छिपाने की कोशिश करो किन्तु तुम्हारी देह से आनेवाली यह नवीन सुगन्ध ही किसी अन्य के साथ की हुई रतिक्रीड़ा की सूचना दे रही है।[1]

जो नायिका काम पीड़ित होकर या तो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे, या नायक को अपने पास बुलावे, वह अभिसारिका कहलाती है।[2]

उक्त लक्षणों से युक्त अभिसारिका का चित्र माघकवि इस प्रकार चित्रित करते है- कोई नायिका अपनी दूती को इस प्रकार सन्देश दे रही थी। हे सखी! तुम उसके समीप जाकर इस कुशलता से बातचीत करना कि वह मेरी लघुता का अनुभव न करे तथा मेरे प्रति दया का भाव ही बरते।[3]

कश्मीरी पण्डित कोक[4] ने रतिरहस्य नाम की पुस्तक में पद्मिनि, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी- चार प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। इनमें से पद्मिनी सर्वश्रेष्ठ नायिका है, इसके पश्चात् उत्तरोत्तर निकृष्ट है। पद्मिनी नायिका कमल के समान कोमलाङ्गी रहती है। उसके शरीर से कमलपुष्प की सी गन्ध निकलती है। चकित हिरनी के समान आंखे, आंखों के कोर सुर्ख और निर्दोष तथा स्तन श्रीफल की शोभा को भी विलज्जित करने वाले होते है। उसकी नासिका तिल के फूल के समान होती है। वह श्रद्धालु तथा आस्तिक विचारों की होती है।

चम्पा के फूल की तरह गोरा शरीर, खिले हुए कमल-पुष्प के समान जिसका मनोज मन्दिर, पतला छरहरा शरीर और जिसकी राजहंसिनी की सी मन्दमन्द चाल होती है। उसकी वाणी में हंस की सी कोमलता होती है। उसके पतले उदर में त्रिवली पड़ी होती है। वह अल्पभोजन करती है, लज्जा व शील सम्पन्न होती है। स्वाभिमानी तथा सुन्दर वस्त्र और श्वेत पुष्पों से वह अधिक रुचि रखने वाली होती है।

---

1. नवनखपदमगं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
   प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्पन्नवपरिमलगंधः केन शक्यो वरीतुम।। शि.व. 11/34
2. कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका। दशरूपक 2/27
3. न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि।
   निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे।। शि.व. 9/56
4. रतिरहस्य, जात्यधिकार, श्लोक 10-19

पद्मिनी नायिका की विशेषता की ओर इंगित करते हुए माघकवि कहते हैं कि कद्द्या कन्या (रेवती) के मुख में रहने से सुवासित मदिरा से संसृष्ट मुखसौरभ को उगलते (सभाभवन में फैलाते) हुए बलराम बोले।[1] रेवती पद्मिनी संज्ञक नायिका थी, उसने जिस मदिरा का पान किया, वह मदिरा स्वभावतः उसके मुख से सर्ग से सुवासित हो गयी और उस (उच्छिष्ट) मदिरा का बलराम ने भी पान किया, जिससे उनका मुख भी उसके संसर्ग से सुवासित हो गया था।

माघकवि नें प्रौढ़ा सामान्य नायिकाओं की चेष्टाओं का वर्णन करते हुए एक कामिनी नायिका का चित्र इस प्रकार अंकित किया है- कोई रमणी, अपने सौरभ से भ्रमरों के चञ्चल किये गये पक्षमूलरूप पंखे की हवा से सुखाये गये पसीनें वाले तथा श्रीकृष्ण के सामने (उनको देखने के लिए) निमेष रहित नेत्रोंवाली देह से नगर की देवता जैसी शोभा दे रही थी।[2]

आयुर्वेद

चरक का विचार है कि नूतन रोग सरलता से अच्छा हो जाता है या असाध्य हो जाता है।[3]

माधकवि ने श्रीकृष्ण के शब्दों में चरक के उक्त सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। उद्धव तथा बलराम के सम्मुख अपनें विचारों को प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण कहते है कि हिताभिलाषी व्यक्ति को बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा नही करनी चाहिए, क्योंकि बढ़ने वाले रोग तथा शत्रु को शिष्टों ने समान (घातक) कहा है।[4]

जब तक ज्वर की आमावस्था रहे या रोगी निर्बल हो उसके लिए स्नान का निषेध है।[5]

---

1. ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया।
   मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन।। शि.व. 2/20
2. निजसौरभभ्रमितभृङ्ग. पक्षतिव्यजनानिलक्षयितघर्मवारिणा।
   अभिशौरि काचिदनिमेषदृष्टिना पुरदेवतेव वपुषा त्याभाव्यत।। शि.व. 13/45
3. चरक नि.अ. 5/20-23
4. उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
   समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च।। शि.व. 2/10
5. चरक चि.अ. 3/138

बलराम, श्रीकृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि दण्ड के द्वारा वश में करने योग्य शत्रु के साथ साम (शान्ति) का व्यवहार हानिकारक होता है, क्योंकि पसीना लाने योग्य ज्वर को कौन विद्वान जल से सींचता है ? बलराम के उत्तर द्वारा माघकवि ने चरक के उक्त वचन का समर्थन किया है।[1]

मनुष्य को चाहिए कि रसायन औषधियों का सेवन संयम तथा ध्यानपूर्वक करे। दिव्यौषधियों के प्रभाव को अकृतात्मा व्यक्ति सहन नहीं कर सकते।[2]

चरक के उक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर माघकवि कहते हैं कि शक्ति को चाहने वाले को षड्गुण रूपी रसायन (चन्द्रोदय, स्वर्ण, सिन्दूरादि रसायन औषध) का सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति के अंग स्थिर तथा बलवान होते हैं।[3]

चरक का कथन है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि अपने बल को देखकर उसके अनुरूप ही सब कार्यों को करना प्रारम्भ करे। क्योंकि कार्याधिक्य रोग का कारण बनता है।[4]

माघकवि ने चरक के उक्त वचन को इस प्रकार व्यक्त किया है कि शक्य विषय में क्षमाशील सप्ताङ्ग.वाले राजाओं को शक्ति के अनुसार व्यायाम करने पर (राजशक्ति, शारीरिक शक्ति) की वृद्धि होती है तथा बल के प्रतिकूल अर्थात् शक्ति से अधिक आरम्भ करना हानि (राजशक्ति के क्षय, क्षयरोग) का कारण होता है।[5]

चरक के अनुसार क्षयरोग के ग्यारह उपद्रव प्रसिद्ध हैं- शिर में भारीपन, कास, श्वास, स्वरभेद, कफ का आना, रक्त का आना, पार्श्वशूल, अंसपीड़ा, ज्वर, अतिसार और अरोचक अर्थात् क्षयरोग अनेक रोगों का संघटित रूप है।[6]

---

1. चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
   स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिन्चति।। शि.व. 2/54
2. चरक, चि.अ. 1/3/8-10
3. षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षो रसायनम्।
   भवन्त्यस्यैवमङ्ग.ानि स्थास्नूनि बलवन्ति च।। शि.व. 2/93
4. साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षन् जीवितमात्मनः।
   जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते।। चरक नि.रू. 6/6
5. स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्ग.नाम्।
   अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः।। शि.व. 2/94
6. चरक नि.अ. 6/16

बलराम का विचार सुन लेने के पश्चात् उद्धव कहते है कि वह चेदिनरेश अकेला है, ऐसा न समझें, क्योंकि जिस प्रकार यक्ष्मा रोगों का समूह है, उसी प्रकार वह राजाओं का समूह है।[1] यहां ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चित ही माघकवि ने उपर्युक्त चरक के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही शिशुपाल के विषय में उद्धव के मत को अभिव्यक्त किया है।

आयुर्वेद के अनुसार अपस्मार रोग में रोगी की स्मृति नष्ट हो जाती है। वह भूमि पर काष्ठ के समान गिर पड़ता है। हाथों को चारो ओर घुमाता है, उच्च स्वर से रोता है (आसाम्ना विलयन्तम्)। मुख से झाग का आना (उद्वमन्तं फेनम्) हाथ पैरों का इधर-उधर फेंकना (अनवस्थित सक्थिपाणिपादम्) आदि इस रोग में होता है।[2]

माघकवि ने समुद्र वर्णन प्रसङ्ग. में उक्त रोग के लक्षणों की ओर संकेत करते हुए उसे भी अपस्मार रोग के समान चेष्टा करता हुआ कहा है कि- श्रीकृष्ण ने भूमि का आलिङ्ग.न किये हुए (पृथ्वी पर पड़े हुए) उच्च ध्वनि करते हुए, चंचल बाहु के समान विशाल तरंग वाले, फेनयुक्त, फेन को गिराते हुए (समुद्र को) मिर्गी का रोगी समझा।[3]

बहुश्रुत कवि माघ आयुर्वेद में उल्लिखित स्वर्ण, रजत, मैनसिल और गेरू की भांति हरताल खनिज से सुपरिचित थे। कवि ने रैवतक पर्वत का वर्णन करते हुए उक्त खनिज का यह कहकर उल्लेख किया है- शोभा देता हुआ नवीन प्रभाव वाला जो चारो ओर दूर्वायुक्त स्वर्गमयी भूमि को धारण कर रहा है, वह यह रैवतक पर्वत हरताल के समान पीले नवीन वस्त्र वाले (पीताम्बर) आपके समान शोभा दे रहा है।[4]

माघकवि ने अपने काव्य में अगुरू का उल्लेख किया है। इसका धुआं मुख्यतः वहीं दिया जाता है, जहां पर दुर्गन्ध, कृमि या जीवाणु की समस्या रहती है। इसके धुएं से

---

1. मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति।
   राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्।। शि.व. 2/96
2. वाग्भट्ट-अष्टाङ्ग.हृदये उत्तरस्थानम् अ. 7/3, 10
3. अश्लिष्ट भूमिं रसितारमुच्चैः लोलद्भुजाकारवृहत्तरङ्ग.म्।
   फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के.।। शि.व. 3/72
4. वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः।
   अचलं एव भवानिव राजते स हरितालसमान नवांशुकः।। शि.व. 4/21

दुर्गन्ध नष्ट होती है, इसलिए शरीर तथा बालों पर धुआं देने का उल्लेख मिलता है।[1] माघकवि अगुरू के कार्य से सुपरिचित थे।

आयुर्वेद के उक्त वचन को ध्यान में रखकर ही माघकवि कहते है कि रैवतक पर्वत पुष्परूपी वस्त्र से अपने को ढककर भीतर घूमते हुए कपोतों के गर्दन के समान धूमिल तथा अगुरू के धुएं की कान्ति को धारण करते हुए अपनें अंगों को मानों धूपित(सुवासित)कर रहा है।[2]

सामरिक विज्ञान

शिशुपाल वध महाकाव्य में युद्धविषयक तत्त्वों का विशेष उल्लेख हुआ है। माघकवि नें सैनिक प्रयाण तथा युद्धसम्बन्धी बातों का यथावत् चित्रण किया है। शिशुपाल वध महाकाव्य में सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियो के चिंग्घाड़ने, घोड़ो के चलने, सैनिकों के समर्द से धूलि के उड़ने से आकाश के छा जाने, मृत सैनिकों के मांस खाने की अभिलाषाओं से एकत्र गिद्धों, कौवों, गीदड़ों की आवाज के तथा द्वन्द्वयुद्ध में जीजान से लगने के चित्रवत् वर्णन तथा पराक्रम के गीत गाने वाले चारणों तथा बन्दियो के उत्साहवर्धक गीत के वर्णन यथार्थयुद्ध का अनुभव कराने में समर्थ हैं।

शिशुपाल वध में अंकित युद्धचित्रों को देखने से यह अनुमान होने लगता है कि कवि को रणभूमि का प्रत्यक्ष अनुभव है।

घमासान युद्ध का चित्रण

युद्धस्थल में पैदल पैदल में, घोड़ा घोड़े में, हाथी हाथी में, रथ पर चढ़ा रथ पर चढ़े में मिल गया। इस प्रकार सेना ने युद्ध के अनुराग से शत्रु के (पैदल आदि) सेनाङ्गो को अपने पैदल आदि सेनाङ्गो से उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार कोई रमणी प्रियतम के (साथ रति विषयक) अनुराग से उसके हाथ पैर आदि अङ्गो से प्राप्त करती है।[3]

1. धन्वन्तरि निघण्टु में अगुरु का उपयोग बालों को धुआं के लिए बताया है-
   दाहा गुरुकटुकोष्णं केशानां वधनं च वर्म्न च।
   अपनयति केश दोषानातनुते सततं च सौगन्ध्यम्।।
2. आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्तरावर्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभैः।
   स्वाङ्ग.ानि धूमरुचिमागुरवीं दधानैर्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम्।। शि.व. 4/52
3. शि.व. 18/2

समर विज्ञान के अनुसार, हाथियो को युद्धाभ्यास कराने के लिए दो हाथियो के बीच में एक वेदी रखी जाती है।

माघकवि ने उक्त सिद्धान्त की ओर शिशुपालवध में युद्ध वर्णन के प्रसंग में इस प्रकार संकेत किया है-लड़ना चाहते हुए (अतएव) दूसरे आये हुए दो हाथियों के बीच में स्थित (पूर्व से मृत हाथी) मध्यगत वेदी के समान हो गया।[1]

धनुर्वेद

क्रुद्ध होने पर धनुष को ग्रहण करना और तुष्ट होने पर तरकस को ढीला करना (पृथक करना) युद्ध का नियम है।

माघकवि ने शिशुपालवध में उक्त नियम की रमणियों के मद्यपान प्रसङ्ग. में इस प्रकार सङ्केत किया है- मद्यपान की हुई मतवाली (अतएव) कभी रुष्ट तथा कभी तुष्ट हुई उन रमणियों पर कामदेव ने बाणसहित धनुष को ग्रहण किया था क्या? अथवा तरकस छोड़ दिया था क्या?

धनुर्विद्या के अभ्यास में गोधा का अत्यन्त महत्त्व होता है। यह एक चमड़े का पट्टा होता है, जो बायीं भुजा पर धनुष की रगड़ को बचाने के लिए बांधा जाता है।

माघकवि उक्त सिद्धान्त की ओर शिशुपालवध में युद्धवर्णन प्रसङ्ग. में कहते है कि- युद्धरूपी जंगल, बाणरूपी सर्पो से पूर्ण तरकसरूपी खोढरेवाले और धनुष की प्रत्यंचा के आघात को रोकने वाले केहुनी के नीचे बांधे गये चमड़े रूपी गोधाओं से लिपटी हुई भुजारूपी शाखावाले धनुषधारी रूपी वृक्षों से भयंकर हो गया।[2]

माघकवि को धनुर्वेद से इतना प्रगाढ़ परिचय रहा है कि रमणियों के सौन्दर्य का वर्णन करते समय उन्हें मदन के धनुष का तथा धनुर्वेद के किसी न किसी सिद्धान्त का स्मरण अवश्य हो आया है।

---

1. रयेण रणकाम्यन्त्रौ दूरादुपगताविभौ।
   गतासुरन्तरा दन्ती वरण्डक इवाभवत्।। शि.व. 19/65
2. बाणाहिपूर्णतूणीर कोटरैर्धन्विशाखिभिः।
   गोधाश्लिष्टभुजाशाखैरभदुभीमारणाटवी।। शि.व. 19/39

उदाहरणार्थ भौहों और कटिप्रदेश के वर्णन में माघकवि की कल्पना है- जिस प्रकार भ्रूद्वय एवं कटिप्रदेश में नम्र वेश्याएं कामीजनों को अपने सौन्दर्यादि गुणों से वशीभूत कर धन प्राप्ति हो जाने पर छोड़ देती है, उसी प्रकार दोनों छोरों एवं मध्यभाग में नम्र धनुष भी बाणों को अपनी प्रत्यंचा के साथ खीचकर बाणों के फल (लोहमय अग्रभाग) को पाने पर छोड़ा जाता है।[1]

अलङ्करण

माघकवि ने स्त्री प्रसाधन में अपनी अभिज्ञता व्यक्त की है, किन्तु इनका वर्णन प्रसङ्ग. भिन्न है, सुन्दरियों के वनविहार-जलक्रीडा आदि में प्रयुक्त पूर्वोक्त श्रृङ्गारादि प्रसाधनों का ही वर्णन मिलता है।[2]

वास्तव में स्नान करने के बाद ही मंडन द्रव्यों का उपयोग होता है। एक प्रकार से निर्मल जल से स्नान करना ही शरीर को अलंकृत करना है। विवाह के अवसर पर सोने के घड़े से मङ्गलस्नान की चर्चा है। माघकवि की दृष्टि में तो यथार्थ मण्डन यह है- स्वच्छ जल से धुले अङ्ग., ताम्बूल द्युनि से जगमगाते ओठ और महीन निर्मल हल्की सी साड़ी।[3]

तन्त्र मन्त्र शास्त्र

माघकवि ने एक स्थान पर मन्त्रविद्या में अपनी अभिज्ञता व्यक्त की है- इष्ट देवता पर ताजा फूल चढ़ाकर मन्त्र का उच्चारण कर उस फूल से जिसे मारा जाता है, वह व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है या मर जाता है।

कवि ने यन्त्रशास्त्र के उक्त नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है- सपत्नी का नाम लेना अङ्गनाओं के लिए मानों अभिचारमन्त्र (मारणमन्त्र) ही है क्योंकि उसे (सपत्नी के नाम से) बुलाकर कोमल (ताजे) फूल से आहत की गयी सुन्दर शरीरवाली नायिका मूर्च्छित हो गयी।[4]

---

1. शि.व. 19/61
2. शि.व. 7/60-68 हरिचन्दनादि का लेप, 8/51 से 70 तक सुवर्ण के आभूषण, चन्दनादि से रचित 'मकरादि चित्र।
3. शि.व. 8/70
4. शि.व. 7/58

मन्त्र जप तीन प्रकार का है 1. वाचिक, 2. उपांशु, 3. और मानस जो साधक को भी सुनायी न दे। मानसजप ही श्रेष्ठ है। ऐसा करने से मन्त्र गुप्त रहता है और सिद्धि भी निश्चित रूप से मिलती है।

माघकवि ने इसी रहस्य की ओर राजनीति की चर्चा के प्रसङ्ग में इस प्रकार व्यक्त किया है- बुद्धिरूपी शस्त्रवाला, प्रकृतिरूपी अङ्गोवाला, मन्त्र अत्यन्त गोपन रूप कवचवाला, गुप्तचर नेत्रों वाला और दूतरूपी मुखवाला कोई भी पुरुष राजा होता है।[1]

श्रुति

टंकार मात्र से जो क्षणिक ध्वनि उत्पन्न हुई, वह श्रुति है और तुरन्त ही वह आवाज ध्वनि स्थिर हो गयी तो वह स्वर है।

श्रुतिमण्डल

श्रुति समूह को श्रुतिमण्डल कहा जाता है। इनकी संख्या 22 मानी गयी है। ग्राम स्वरों का समुदाय है, इनके तीन प्रकार हैं- 1. षड्ज-ग्राम, 2. मध्यम-ग्राम, 3. गांधार-ग्राम।[2] ग्राम शब्द का अर्थ है, स्वर बदलकर गायन या वादन करना।

स्वर

षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद सङ्गीत के सात स्वर हैं।[3] विभिन्न पशु पक्षियों के स्वर से उत्पन्न माने जाते हैं।

मूर्च्छना

सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार सात स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह करना मूर्च्छना कहलाता है।[4] इनकी संख्या 21 होती है।

---

1. शि.व. 2/82
2. रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्न श्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
   स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः।। शि.व. 1/10
3. निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः।
   पंचमश्चेत्यमी सप्ततन्त्री कण्ठोत्थिता स्वराः इत्यमरः।।
4. क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
   मूर्च्छनेत्युच्यते। मूर्च्छना स्वराऽरोहावरोहक्रमं, स्वराणां सान्ताः मूर्च्छनाः
   सप्तसप्तहि इति सङ्गीतरत्नाकरे। टीका मल्लिनाथ।
   क्रमयुक्ताः स्वरास्तत्र मूर्च्छना परिकीर्तिता इति भरतः। मल्लिनाथ, टीका कुमार 8/85

सङ्गीत के उक्त परिभाषिक शब्दों का माघकवि ने एक ही श्लोक में इस प्रकार उल्लेख किया है- वायु के आघात से पृथक ध्वनि करते हुए, अवस्थित भेद को प्राप्त श्रुतिसमूह वाले स्वरों में स्पष्ट होते हुए (षड्ज आदि तीन स्वर समूहों वाले) ग्राम विशेषों की मूर्च्छना (स्वरों के आरोहावरोह चढ़ाव उतार के क्रमभेद) वाली महती नाम की अपनी वीणा को बार-बार देखते हुए देवर्षि नारद को श्रीकृष्ण ने देखा।[1]

आलाप

आलाप को ही स्वर विस्तार कहा जाता है। गायक जब अपना गाना आरम्भ करता है, तो राग के अनुसार उसके स्वरों को विलम्बित लय में फैलाकर यह दिखाता है कि कौन सा राग गा रहा हूँ।

माघकवि उक्त आलाप विषयक जानकारी की ओर संकेत करते हुए कहतें हैं- कातरता आदि दोषों से रहित पैदल सैनिकों से वह युद्ध इस प्रकार सुशोभित होने लगा, जिस प्रकार गाना आरम्भ करने के पूर्व प्रयुक्त किये गये, बराबर दुहराये गये और स्वरों की आवृत्ति से निर्दोष अलापों से गान शोभा देता है।[2]

ताल

भरतमुनि ने सङ्गीत में काल के मापने के साधन को ताल कहा है।

माघकवि ने कबन्ध नृत्य के अवसर पर ताल शब्द का प्रयोग किया है।[3]

तन्त्रीगत वाद्य

तन्त्रीगतवाद्य यन्त्र को ही सामान्यतः वीणा कहा जाता है। संगीत दामोदर में 29 प्रकार की वीणाओं का उल्लेख मिलता है।[4] सङ्गीत दामोदर में उल्लिखित वीणा प्रकारों में वल्लकी और परिवादिनी का भी उल्लेख किया गया है।[5] माघकवि ने भी वल्लकी शब्द का प्रयोग

1. रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्न श्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
   स्फुटीभवद्ग्राम विशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः।। शि.व. 1/10
2. पुरः प्रयुक्तैर्युद्ध तच्चलितैर्लब्धशुद्धिभिः।
   आलापैरिव गान्धर्वमदीप्यत पदातिभिः।। शि.व. 19/47
3. तुर्यारावैराहितोत्तालतालैर्गायन्तीभिः काहलं काहलाभिः।
   नृत्ते चक्षुः शून्यहस्तप्रयोगं काये कूजन्कम्बुरुच्चैर्जहास।। शि.व. 18/54
4. भारतीय संस्कृति, डा. गायत्री वर्मा द्वारा उद्धृत पृ0 332, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय प्रकाशन वाराणसी।
5. वीणा तु वल्लकी विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी।

किया है।[1]

माघकवि वीणा बजाने में निपुण थे। निपुणवादक के द्वारा बजाई गयी वीणा के मधुर स्वर का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है- प्रियतम के कराग्र को नीविका अतिक्रमण (जघन स्पर्श) करने पर हर्षातिरेक से नेत्रों को आधा बन्द की हुई रमणी गाने व वीणा बजाने में निपुण व्यक्ति के द्वारा बजाए गये अधर तन्त्री समूह को झंकार के समान मनोहर अव्यक्त कूंजन करने लगी।[2]

प्रातःकाल पञ्चम, षड्ज तथा ऋषभ स्वर से गायन का निषेध है।[3] माघकवि ने उक्त निषेधात्मक आदेश की ओर संकेत करते हुए अपने सङ्गीतशास्त्र विषयक वैदुण्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार किया है- बहुत दूर तक सुनाई पड़ने वाली विकारहीन ध्वनि वाले एवं मधुर कण्ठ वाले बन्दीगण श्रुति से अतिशयित षड्ज स्वर को छोड़कर एवं पंचम स्वर का त्याग करके वीणादि वाद्यों के साथ ऋषभ स्वर को भी छोड़कर रात्रि की समाप्ति पर इस प्रकार श्रीकृष्ण से गायन द्वारा कहने लगे।

भूगोल

माघकवि को विविध विषयों का ज्ञान था। कवि द्वारा वर्णित शिशुपाल वध महाकाव्य के कुछ दृश्यों का आधार भौगोलिक है। उदाहरणार्थ प्रथम दृश्य - नारदमुनि का द्वारकानगरी में आगमन। द्वारकापुरी श्रीकृष्ण की राजधानी थी, जो गुज़रात के पश्चिमी भाग पर स्थित है। इसको कुशस्थली के नाम से भी जाना जाता है। इस समय यह सौराष्ट्र प्रान्त में है।

द्वितीय दृश्य है श्रीकृष्ण का सेनासहित इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान इन्द्र का सन्देश कहकर नारद के चले जाने पर श्रीकृष्ण बलराम और उद्धव के साथ सभा भवन में जाकर इस पर विचार करते है कि शिशुपाल वध के लिए प्रस्थान किया जाए अथवा इन्द्रप्रस्थ जाकर

1. अजस्त्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतो ज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया।
   पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया।। शि.व. 1/9
2. आशु लङ्घितवतीष्टकराग्रे नीविमर्धमुकुलीकृतदृष्ट्या।
   रक्तवैणिकहताधरतन्त्रीमण्डलक्वणितचारू चुकूजे।। शि.व. 10/64
3. श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
   प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय।। शि.व. 11/1

युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित हुआ जाए, निर्णय लेने के पश्चात् श्रीकृष्ण सेना सहित इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान करते हैं। श्रीकृष्ण सेना के साथ क्षार समुद्र के निकट कच्छ भूमि के प्रदेशों में से होकर चलते हैं, जहाँ ताड के वन, केतकी के पौधे, नारियल, सुपारी एवं लवङ्ग लताओं की कमी नहीं है। कच्छ का समुद्र भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में है। आज इसका नाम कच्छ की खाड़ी है।

श्री कृष्ण की सेना कच्छ भूमि को पारकर रैवतक गिरि की ओर पहुंचती है। प्रकृति के इस मनोरम क्रीड़ा प्राङ्गण को देखकर श्रीकृष्ण वहां मनोविनोदार्थ कुछ समय के लिए अपनी सेना का वहां पड़ाव डालते हैं और प्रातःकाल होने पर वहां से इन्द्रप्रस्थ के लिए सेना चल पड़ती है।

यह रैवतक गिरि भारत के पश्चिमी भाग में कच्छ की खाड़ी की ओर है। आज इसकी स्थिति जूनागढ़ सौराष्ट्र के पास है।

पशु विज्ञान

तुरग-लक्षण

शिशुपालवध महाकाव्य में माघकवि ने तुरग लक्षण के विषय में अपनी विशेष बहुज्ञता व्यक्त की है। कवि के द्वारा अश्व, गज, ऊँट आदि पशुओं का यथावत् चित्रण किया गया है।

माघकवि अपनी एकमात्र वाङ्मयी कृति शिशुपाल वध में एक ही श्लोक में अपने शालिहोत्री के रूप का परिचय, घोड़े की गति एवं चाबुक के प्रयोग के शास्त्रीय लक्षणों की ओर इस प्रकार संकेत किया है। कवि का कथन है कि- वेग को रोकने वाली लगाम को थामने में सावधान तीनों प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम चाबुकों के प्रयोग जानने वाले घुड़सवारों से भलीभांति हांके गये ऊँचे आट्ट (अरब) देश में उत्पन्न घोड़े अपने विचित्र पाद विक्षेप द्वारा कभी चञ्चल और कभी कठोर भाव के मण्डलाकार गति विशेष से चल रहे थे।[1]

---

1. तेजोनिरोधसमतावहितेन यन्त्रा सम्यक्कशात्रयविचारवता नियुक्तः।
आट्टजश्चटुलनिष्ठुरपातमुच्चैश्चित्रं चकार पदमर्धपुलायितेन।। शि.व. 5/10

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में घोड़ो की चाल के पांच भेदों का उल्लेख है- 1. वल्गन, 2. नीचैर्गति, 3. लंघन, 4. घोरण, 5. नारोष्ट्र, इनमें मंडलकार चक्कर लगाने को वल्गन कहते है।[1] माघकवि ने यहां मण्डलाकार गति का संकेत किया है। घोड़े की तीन प्रकार के चाबुकों से चलाया जाता है। कभी तो वह कठोर चाबुकों से चलाया जाता है और तदनुसार गति में भी भेद हो जाता है- ये घोड़े कभी अत्यन्त तेज गति से टपटप करते हुए आगे की और दौड़ते, लपकते से चलते हैं तो कभी मध्यगति का अनुसरण करते है और कभी अत्यन्त ही मन्द गति से चलते है।[2] माघकवि ने एक स्थान पर अश्वसंचालन का वर्णन करते हुए वल्गा के कुशल प्रयोग की बात कही है- लगाम के (चौदह प्रकार के) विभाग करने में निपुण अर्थात् अश्व की षड्विध प्रेरणाओं को जाननेवाला कोई घुड़सवार, नहीं घबड़ाने वाले सुसज्जित तथा छः दिशाओं में मुख को मोड़ने में अभ्यस्त घोड़े को युद्धोत्तर कर्तव्य के लिए पृथक-पृथक धाराओं अश्वों की पांच प्रकार की चाल को सिखाने के लिए नव प्रकार की वीथियों में चलाने लगा।[3]

भूमि पर लोटने के पूर्व पृथ्वी को सूंघना घोड़े का स्वभाव होता है- इस गुण को माघकवि नें शिशुपालवध में इस प्रकार व्यक्त किया है- मस्तक झुकाकर सूंघने पर नाक के छिद्रों की हवा से उड़ी सूक्ष्मतम धूल मानों उस घोड़े के (लोटने से होने वाले) शरीर समागम

---

1. वल्गनो नीचैर्गतो लंघनो घोरणा नारोष्ट्रश्चौपवाह्याः।
   कौटिल्य अर्थशा, अधि-2, प्रकरण 46, अध्याय 30
2. शालिहोत्र ग्रन्थ में भोजराज लिखते है-
   तेजो निसर्गजं सत्वं वाजिनां स्फुरणं रजः।
   क्रोधस्तम इति ज्ञेयास्त्रयोऽपि सहजाः गुणाः।।
   मृदुनैकेन घातेन दंडकालेषु ताडयेत्।
   तीक्ष्णमध्ये पुनर्द्वाभ्यां जघान्यं निष्ठुरैस्त्रिभिः।। मल्लिनाथ टीका
3. सृक्काधरोष्ठसितफेनलवा भिरामफूत्कारवायुपदमुन्नतकन्धराग्रम।
   नीत्वोपकुंजितमुखं नवलोहसम्यमश्वं चतुष्कसमये मुख्यसिद्धमाहुः।। शि.व. 5/60 की टीका मल्लिनाथ
   अव्याकुलं प्रकृतमुत्तर धेयकर्मधाराः प्रसाधयितुमव्यतिकीर्णरूपाः।
   सिद्धं मुखे नवसु वीथिषु कश्चिदश्वं वल्गाविभाग कुशलो गमयाम्बभुव।। शि.व. 5/60

जन्य सुख के लिए उत्कण्ठित (नायिका रूपिणी) पृथ्वी के रोमाञ्च (सात्त्विक भाव विशेष) सा हो गया।[1]

माघकवि ने अश्व में सत्त्वगुण का आधिक्य बताया है। उनका कथन है कि- अपनी तीव्र गति से मृगों की गति को तुच्छ करने वाले, बहुत लम्बे मार्ग को तय किये हुए तथा तेज के आविर्भाव होने से अर्थात् तेज दौड़ने से निकले हुए फेनजल के फैलने से स्पष्ट दिखलायी पड़ रहे है, जीन की रस्सी बांधने के चिन्ह जिनके, ऐसे घोड़ो को भूमि पर लोटाने के लिए धीरे-धीरे खींचते हुए लाए।[2]

श्रीवृक्ष में अर्थात् अश्व के गले की (छाती, मुख या कंठ) भंवरी या देवमणि शुभ लक्षण मानी गयी है। माघकवि का अश्व श्रीवृक्ष में भंवरी होने से शुभलक्षण वाला था।[3]

शिशुपालवध में माघकवि रैवतक पर्वत पर एकत्र अश्वों का वर्णन करते हुए शुभलक्षण युक्त अश्वों का वर्णन करते है- आवर्त छाती आदि दशस्थानों में सुलक्षणरूप से स्थित ध्रुव संज्ञक बालों के घुमाव वाले, राज्यादि श्रेष्ठ फल देने वाले, शुक्तियों से युक्त, देवमणि वाले भरे हुए अत्यन्त सुन्दर दिखायी देते हुए अश्वों ने समुद्रो के समान पृथ्वी को शीघ्र आच्छादित कर दिया।[4]

गजशास्त्र

हाथी का मदजल गन्ध से युक्त होने पर भी कटु तिक्त और कषायपूर्ण होता है। परिणामत: जल में उक्त मदजल मिश्रित होने पर अन्य हाथी उस जल गंध को सहन नही करता।[5]

---

1. आजिघ्रति प्रणतमूर्धनि बाह्लिजेऽश्वे तस्याङ्ग. सङ्ग.मसुखानुभवोत्सुकाया:।
नासाविरोक पवनोल्लसितं तनीयो रोमांचतामिव जगाम रज: पृथिव्या:।। शि.व. 5/54
2. गत्यूनमार्गगतयोऽपि गतोरुमार्गा: स्वैरं समाचकृषिरे भुवि वेल्लनाय।
दर्पोदयोल्लसितफेन जलानुसारसंलक्ष्य पल्ययनवर्ध्रपदास्तुरङ्ग.ा।। शि.व. 5/53
3. श्रीवृक्षकी वक्षिसि चेद्रोमावर्तो मुखेऽपि च। इति तु वैजयन्ती। मल्लिनाथ 5/56 की टीका
4. आवर्तिन: शुभफल प्रदशुक्तियुक्ता: सम्पन्नदेवमणयो भृतरंन्ध्रभागा:।
अश्वा:प्यधुर्वसुमतीमति रोचमानास्तूर्ण पयोधय इवोर्मिभिरापतन्त:।। शि.व. 5/4
5. कटुतिक्त कषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिता:। इति केशव:। 5/33 की टीका में मल्लिनाथ

माघकवि शिशुपालवध में मदजल की तीव्र गन्ध से क्रुद्ध हाथी का वर्णन करते हुए कहते हैं- दूसरे हाथियों से (जल में) छोड़े गये मदजल से तीते पानी को लेने तथा (जलक्रीड़ा करने) छोड़ने की भी इच्छा नहीं करते हुए तथा अंकुश की परवाह नहीं करने वाले क्रोधयुक्त हाथी से नदी के तट पर रूक जाने पर लोग हाथ में खाली जलपात्र लिए देर तक ठहरे रह गये।[1]

गजशास्त्रोक्त नियमानुसार हाथी के पीछे वाले पैर लोहे की जंजीर से बांध दिये जाते हैं।[2] माघकवि कहते हैं कि - गजराज ने सहसा योग्य तथा बड़े खम्भे को तोड़ दिया, आर्द्र सूंड में लिए हुए मदजल को गिरा दिया और सब ओर से पीछे वाले पैरों को बांधनेवाली बेड़ियों को तोड़ दिया।[3]

राजपुत्रीय शास्त्र में (गजशास्त्र में) लिखा है कि- जो हाथी मारने से, चमड़ा छूट जाने, रक्त निकल जाने तथा मांस बाहर हो जाने पर भी अपने को नहीं जानता, सम्हालता या कहना नहीं मानता, उसे मतवाले हाथी को गम्भीरवेदी हाथी कहते हैं और मृगचर्मीयशास्त्र में लिखा है- जो हाथी चिरपरिचित शिक्षा को भी बहुत विलम्ब से ग्रहण करता है, उस हाथी को गम्भीर वेदी कहते हैं।[4]

शिशुपालवध महाकाव्य में माघकवि कहते हैं- गम्भीरवेदी हाथी क्रुद्ध महावत द्वारा अत्यन्त निष्ठुरतापूर्वक चाबुक लगाए जाने पर भी आंखे मूंदकर खड़ा ही रहा और उसनें ग्रास को भी नहीं लिया, तब लोगो ने जान लिया कि मन्द जाति वाला हाथी बलपूर्वक वश में नहीं किया जाता।[5]

---

1. नादातुमन्य करिमुक्त मदाम्बुक्तिं धूतांकुशेन विहातुमपीच्छताम्भः।
   रुद्धे गजेन सरितः सरुषावतारे रिक्तोदपात्रकरमास्त चिरं जनौघः।। शि.व. 5/33
2. अपरः पश्चिमः पादः इति गजप्रकरणे। वैजयन्ती-5/48 की टीका मल्लिनाथ।
3. स्तम्भं महान्तमुचितं सहसामुचोच दानं ददावतितरां सरसाग्रहस्तः।
   बद्धापराणि परितो निगडान्यलावीत्स्वातन्त्रय मुज्जवलमवाप करेणुराजः।।
4. त्वम्भेदाच्छोणितस्तावान्मासस्य च्यवनादपि।
   आत्मानं यो न जानाति तस्य गम्भीरवेदिता।। इति राजपुत्रीये।
   चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि।
   गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः।। 'इति मृगचर्मीये। शि.व. 5/49 की टीका मल्लिनथ
5. जज्ञे जनैर्मुकुलिताक्षमनाददाने संब्धहस्तिपकनिष्ठुरचोदनाभिः।
   गम्भीरवेदिनि पुरः कवलं करीन्द्रे मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्यः।। शि.व. 5/49

गजविद्याशास्त्र में गज के इतने भेद कहे गये है- **भद्रोमन्दो मृगश्चैव विज्ञेयास्त्रि-विधा गजाः।**[1]

शिशुपालवध का पूर्वोक्त उदाहरण 'मन्द गम्भीर वेर्दीगज का ही है।'

माघकवि मन्द हाथी का उदाहरण उपन्यस्त करते हुए कहते हैं- किसी गजराज ने सामने डाले गये गन्ने को ग्रहण नही किया तथा समीप में स्थित हथिनी की इच्छा भी नहीं की, किन्तु आनन्दप्रद स्वेच्छा विहारवाले वनवास को ही नेत्रों को बन्द किये हुए स्मरण करता रहा।[2]

गजशास्त्र में हाथियों की बोली शब्द को बृहति तथा अश्व के शब्द को हेषा या ह्रेषा कहा जाता है। माघकवि ने शिशुपालवध में हाथी के तथा घोड़े के शब्दों का उल्लेख किया है।[3]

गजशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार हाथियों की पूर्ण आयु 120 वर्ष होती है, इसमें 12 दशाएं होती हैं। अतएव चतुर्थी दशावाले हाथी की अवस्था 40 वर्ष तक जाती है।[4]

शिशुपालवध में युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग. में कवि कहते हैं कि सघन कवचवाले, पृष्ठवंश से सटाकर बांधे गये रस्सेवाले शरीर सम्बन्धी चौथी शोभा को प्राप्त अर्थात् चालीस वर्ष की अवस्था वाले हाथी, प्रलयकाल में वायु से संचालित पर्वतों के बड़े-बड़े चट्टानों के समान चल पड़े।[5]

महाभारत में उल्लिखित है कि धूलि पड़ने से हाथियों के हर्षित होकर अधिक मदजल का प्रवाहित करना गजशास्त्र में प्रसिद्ध है।[6]

माघकवि युद्धवर्णन के प्रसंग में सेना संघर्ष के कारण उड़ी हुई धूलि का वर्णन करते

---

1. टीका 5/49 मल्लिनाथ
2. क्षिप्तं पुरो न जगृहे मुहुरिक्षुकाण्डं नापेक्षतेस्म निकटोगतां करेणुम्।
   सस्मारवारणपतिः परिमीलिताक्षमिच्छाविहारवनवास महोत्सवानाम्।। शि.व. 5/50
3. वृहतिं करिणां शब्दो हेषा ह्रेषा च वाजिनाम्। शि.व. 12/15 टीका मल्लिनाथ
4. शि.व. 18/6 टीका मल्लिनाथ।
5. शि.व. 18/6
6. स्त्रियो जारेण तुष्यन्ति गावः स्वच्छन्द चारतः।
   कुजराः पाशुवर्षेण ब्राह्मणाः परनिन्दया।। शि.व. 17/57 की टीका, मल्लिनाथ

हुए कहते हैं- सेना से उड़ी हुई अत्यधिक धूलि के दिगन्तरूपी हाथियों के अग्रभागरूपी मुख में पड़ने पर कोयल समूह के समान काले मेघरूपी मदजल धाराएं बढ़ गयीं।[1]

गजशास्त्र के अनुसार हाथी सात स्थानों से मद बहाते हैं- वे सात स्थान गजविद्या के अनुसार ये है- दोनों नेत्र, दोनो कपोल, सूंड, मूत्रेन्द्रिय तथा मलेन्द्रिय।[2]

माघकवि युद्ध के मैदान में उड़ी हुई धूलि के प्रसङ्ग. में कहते हैं सात स्थानों से गिरते हुए मदजल से नीचे की धूलि-समूह हो नष्ट किये हुए तथा ऊपर से उड़कर स्थित सघन धूलि समूह वाले हाथियों को लोगों ने मानों उन हाथियों के ऊपर चंदोवा टांगा गया है, ऐसा समझा।[3] कवि की सूक्ष्म दृष्टि ने गजों और अश्वों के शास्त्रीय लक्षणों तथा उनके स्वाभाविक क्रियाकलापों का निरीक्षण करने के पश्चात् अन्य पशुओं की नैसर्गिक विशेषताओं को भी निकट से देखा है। ये हैं- ऊँट, सांड, वृषभ, गर्दभ तथा खच्चर।

ऊँट नीम की कड़वी पत्तियों तथा बबूल के कांटों से युक्त पत्तियों को तो आनन्द से खा लेता है, किन्तु वह भूल से भी आम की पत्तियों को नहीं खाता, यह उसका स्वभाव है।

शिशुपालवध में माघकवि ऊँट की इस प्रकृति की विशेषता की ओर संकेत करते हुए एक स्थान पर कहते है- सदा खाये जाने से अभ्यस्त नीम के पत्तों के साथ में किसी प्रकार मुख में गये हुए कोमल आम के पत्ते को ऊँट ने तत्काल उस प्रकार उगल दिया, जिस प्रकार (अनेक बार खाये जाने से) अभ्यस्त निषादों के साथ किसी प्रकार मुख के भीतर गये हुए ब्राह्मण को पहले गरुड़ ने उगल दिया था।[4]

इसके अतिरिक्त ऊँट कभी-कभी चढ़ने वाला भलीप्रकार से आसन जमाने भी नहीं पाता

---

1. महीयसां महति दिगन्तदन्तिनामनीकजे रजसि मुखानुषंगिणि।
   विसारितामजिहत कोकिलावलीमसा जलदमदाम्बुराजयः।। शि.व. 17/57
2. करात्कटाभ्यां मेदाच्च नेत्रभ्यां च मदस्रुतिः।
   चक्षुषी च कपोलौ च करौ मेदं गुदस्तथा।।
   सप्तस्थानानि मातंग-मदस्य स्तुति हेतवः।। शि.व. 17/68
3. मदाम्भसा परिगलितेन सप्तधा गजाननः शमितरजश्चयानधः।
   उपर्यवस्थित धनपांशुमंडलानलोक यत्ततपटमंडपानिव।। शि.व. 17/68
4. सार्धं कथंचिदुचितैः पिचुमर्दपत्रैरास्यान्तरालगतमाम्रदलं म्रदीयः।
   दासेरकः सपदिसंवलितं निषादैर्विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार।। शि.व. 5/66

तब तक त्वरा से चलने के लिए उठ बैठता है और कभी पीठ पर भारयुक्त गोणी रखने पर, उठने का संकेत समझकर उठने को होता है और बलपूर्वक नकेल खीचने पर कर्णपटु शब्द करने लगतां है। रसदार वृक्षों के स्वादिष्ट एवं ताजे नवपल्लवो को खाने की त्वरा में जल्दी-जल्दी हिलने वाले ओष्ठ आदि बातों का उल्लेख ऊँट के यथार्थ चित्र को, उसकी प्रकृति तथा क्रियाकलापों को पाठक के सम्मुख अंकित कर देता है।[1]

एक स्थान पर कवि ने जुगाली करते बैल का स्वाभाविक चित्रण किया है। उनका कथन है कि- बोझ उतारने से हलके होने पर भी बढ़े हुए उलप नामक घास को भरपेट खाने से आलस्यपूर्ण बैलों के झुण्ड, जुगाली करने से गलकम्बल को हिलाते तथा आलस्य से नेत्रों को बन्द किये हुए वृक्षों के नीचे विश्राम करने लगे।[2].

बहुज्ञ माघकवि ने अपने काव्य में पशु-पक्षी जगत का विशेषत: (5वें और 12वें सर्गो में) सूक्ष्म निरीक्षण कर समलंकृत किया है।

पक्षी-विज्ञान

शिशुपालवध में युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग. में पक्षियों के स्वभाव आदि का उल्लेख हुआ है, जिससे 'कवि की पक्षी-विज्ञान सम्बन्धित बहुज्ञता का परिचय मिलता है।

प्राय: यह देखा गया है कि जब कोई बड़ा पक्षी वेग के साथ उड़ता है तो उसके पंखों से एक प्रकार की भयजनक ध्वनि उत्पन्न होती है, जिससे नीचे बैठे अन्य छोटे पक्षी भय से आतंकित होकर अपनी गर्दन को नीचे कर उसकी ओर तिरछी आंखों से देखते हैं। पक्षियों की यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा स्वाभाविक क्रिया है।

शिशुपालवध में इसी प्रकार वेग से उड़कर आने वाले पक्षी का एक स्वाभाविक चित्रण हुआ है- दिशाओं में पंखों के अग्रभाग के ध्वनि को फ़ैलाते हुए तथा दूर से शीघ्र अर्थात् वेगपूर्वक आये हुए पक्षियों ने (बाणों ने) तीक्ष्ण मुखाग्र (नोंक) से सैनिको के रक्त को पहले पिया।[3]

कोयल के बच्चों को पहले कौवे पालते हैं। इसलिए उसे परभृत कहा जाता है। इसके

---

1. शि.व. 12/7, 9 तथा 5/65
2. उत्तीर्णभारलघुनाप्यलघूलपौघ सौहित्यनि सहतरेण तरोरधस्तात्।
   रोमन्थमन्थरचलद्गुरुसास्नमासां चक्रे निमीलदलसेक्षणमौक्षकेण।। शि.व. 5/62
3. शि.व. 18/74

पश्चात् जब कोयल बड़ी हो जाती है, तब वह कौवों का साथ छोड़कर कोयलों में मिल जाती है।

उक्त कथन की ओर संकेत करते हुए माघकवि राजनीति की चर्चा के प्रसङ्ग. में उद्धव के मुख से कहते हैं- जिस प्रकार कोयल के बच्चों को पहले कौवे पालते हैं, किन्तु कोयल बड़ी हो जाती है, तब वह कौओं का साथ छोड़कर अपने पक्ष में (कोयलों में) मिल जाती है, उसी प्रकार इस समय तुम्हारे पक्ष के जो राजा शिशुपाल के साथ रहकर समृद्धिमान हो रहे हैं, वे युद्धारम्भ हो जाने पर तत्काल उसको छोड़कर आपका साथ देंगे।[1]

माणिक्य-ज्ञान

शिशुपालवध कहाकाव्य में बहुविध आभरणों तथा आभूषणों का उल्लेख किया गया है। आभूषणों के वर्णन प्रसङ्ग. में रत्नों के पृथक-पृथक नाम दिये गये हैं। यथा- वैदूर्यमणि, इन्द्रनीलमणि इत्यादि।

सभामण्डप रत्नजड़ित स्तम्भों का था, उनमें वे तीनों श्रीकृष्ण, बलराम और उद्धव-सप्रतिबिंबित होकर पुरुष समुदाय से घिरे हुए की भांति प्रतीत हो रहे थे।[2]

द्वारिकापुरी का वर्णन करते हुए कवि कहते है कि - महलों की देहलियां मरकतमणियों से निर्मित थी, उनकी कान्ति बाहरी द्वार पर पड़कर उन्हें गोबर से लिपे हुए के समान हरित वर्ण का बना रही थी, अतएव उनको गोबर से लिपा हुआ समझकर मुग्धा अङ्ग.नाओं ने उन्हें नहीं लिया।[3]

नीलम मणि यदि दूध में डाल दिया जाए तो दूध भी नीले रंग की छटा धारण कर लेता है।[4]

---

1. शि.व. 2/116
2. शि.व. 2/4
3. शुकाङ्ग.नीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भाषा गृहदेहलीनाम्। शि.व. 3/48
4. क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरं चेन्नीलतां व्रजेत्।
   इन्द्रनीलमिति ख्यातम्। शि.व. 4/44 की टीका में मल्लिनाथ

माघकवि कहते है कि रैवतक पर्वत पर भीतर डूबे हुए इन्द्रनील (नीलम) मणियों के टुकड़ों वाली बावलियों में, मेघ से बरसाया गया, मोती के समान शुभ्र दूध के समान स्थित पानी श्यामल किरणों से शीघ्र ही नीली कान्ति को पा लेता है।[1] इसी प्रकार का वर्णन शिशुपालवध के त्रयोदश सर्ग में पुरसुन्दरियों के औत्सुक्य वर्णन के प्रसङ्ग. में अंकित है- माघकवि की पुरसुन्दरी अपनें कंकण में जड़े नीलम की कान्ति से सूक्ष्म रोमराजि को सघन बनाती हैं।[2]

रैवतक पर्वत से प्रवाहित होने वाली नदी का जल, स्फटिक मणि एवं इन्द्रनीलमणि दोनों मिश्रित प्रभा से, तीर्थराज प्रयाग में गङ्गा और यमुना के सङ्गम के दृश्य को उपस्थित कर देता है।[3]

---

1. शि.व. 4/44
2. वलयार्पितासितमहोपल प्रभा बहुलीकृत प्रतनुरोमराजिना। शि.व. 13/44
3. एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्न नीरा नीलाश्मद्युतिभिर्भि दुराम्भसोऽपरत्र।
   कालिन्दीजलज्ञजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः।। शि.व. 4/26

लोकचित्रण

शिशुपालवध में राजनीतिक दशा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हर्ष के पश्चात् देश अनेक राज्यों में विभक्त हो गया था। परिणामतः भारत की राजनैतिक एकता क्षीण हो चुकी थी। गुजरात और राजस्थान दो शक्तियों में विभक्त था। प्रथम शक्ति वलभी राजाओं की थी और द्वितीय पूर्वी राजस्थान के उत्तरभाग में स्थित राज्य के शासको की थी। सभी. छोटे-छोटे नरेश चक्रवर्ती सम्राट बननें की अभिलाषा कर रहे थे। ऐसी स्थिति में सर्वत्र अशान्ति थी किन्तु उस अशान्ति को दूर कर प्रतिहार-वंशीय राजाओं द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा था। शिशुपालवध कहाकाव्य में इसका संकेत मिलता है। डा. मनमोहनलाल जगन्नाथ शर्मा[1] ने अपने प्रबन्ध में लिखा है कि-श्रीकृष्ण शान्ति की व्यवस्था करते हुए द्वारिकापुरी में रहते थे। कहीं कोई उपद्रवकारी शिशुपाल जैसे का संकेत हुआ तो वे सेनासहित उस उपद्रवकारी शासक के शासन को नष्ट करने के लिए चल पड़ते थे। यही स्थिति प्रतिहार भोज के समय में थी। नागभट्ट प्रथम के पूर्वसमय तक तो उपद्रव, युद्ध, अशान्ति तथा अव्यवस्था सी रही, जिसको दूर करने के लिए नागभट्ट ने पूर्ण प्रयत्न किया था। देश में आगे चलकर जिस प्रकार साम्राज्य विस्तार हुआ उसी का प्रतिरूप माघकाव्य में अंकित है। कही युद्धस्थल में युद्ध हो रहा है तो कहीं कारागार से बन्दियों को मुक्त किया जा रहा है, तो कहीं महाराजाधिराज के निकट दरबारी प्रातःकाल नमन, आशीर्वाद आदि कि लिए आ रहे हैं। द्वितीय तथा एकादश सर्ग में मित्र और शत्रु के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए? इस नीति का वर्णन हुआ है। तत्कालीन युद्धकला का दिग्दर्शन 18वें और 19वें सर्ग में किया गया है। उस समय के नरेश सन्धिविग्रह के नियमों से परिचित रहते थे। तत्कालीन राजनीति की बातों का ज्ञान श्रीकृष्ण, उद्धव और 'बलराम तथा धर्मराज युधिष्ठिर और भीष्म के संवादों से होता है। माघकवि ने राजनीति में स्पशों का महत्व स्वीकार किया है।[2] बलराम और उद्धव के संवादो के अनुशीलन

---

1. माघकवि माघ, पृ0 432 डा. मनमोहनलाल शर्मा
2. शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा। शि.व. 2/112

से यह सुस्पष्ट रूप से विदित होता है कि माघकवि को शुक्रनीति और कामन्दकीय नीतिसार जैसे राजनीति ग्रन्थों का प्रगाढ़ ज्ञान था।

सामाजिक अवस्था

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कवि भी समाज का मेधाशक्ति सम्पन्न प्राणी होता है। अतएव वह तत्कालीन समाज के लोकरीतियों से प्रभावित होता रहता है जिससे वह स्वलेखनी से तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण अपने काव्य में करता है। कवि के काव्य का अनुशीलन करने से तत्कालीन समाज के बहुविध लोक-व्यवहार का 'ज्ञान होता है। शिशुपालवध महाकाव्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि तत्कालीन समाज में अभ्यागतों का विशेष आदर सम्मान किया जाता था। ज्ञानवृद्ध पूजनीय थे। देवर्षि नारद के इन्द्रसन्देश हेतु द्वारिका आने पर श्रीकृष्ण के द्वारा उनका समुचित स्वागत किया गया। हाथ जोड़कर प्रणाम किया जाता था। माघकवि के काल में प्रचलित अतिथि सत्कार की प्रथा समाज में आज भी दृष्टिगोचर होती है। अभ्यागत को बैठने के लिए आसन देना, अपने आसन से उठकर खड़े हो जाना तथा विधिपूर्वक उसकी पूजा करना, शिष्टाचार समझा जाता था।[1] ज्येष्ठ, कनिष्ठ का स्नेहवश मस्तक सूंघते तथा परस्पर आलिङ्गन करते थे।

तत्कालीन समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था पूर्ववत् थी। पंक्तिपावन ब्राह्मण का विशेष सम्मान था।[2] राजा ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियन्ता थे।[3] वर्णसङ्कर सन्तान समाज में तिरस्कृत था।[4] वेदपाठी द्विजों का सम्मान किया जाता था।[5]

तत्कालीन समाज में निश्चित ही लोग षड्रस युक्त भोजन करते थे क्योंकि शिशुपाल वध में विविध प्रकार के मसालों से युक्त भोज्य पदार्थों का तथा उनके परोसने का उल्लेख हुआ है।[6]

---

1. शि.व. 1/12, 1/15, 1/14
2. दक्षिणीयमवगम्य पंक्तिशः पंक्ति पावनमथ द्विजव्रतम्।
   दक्षिणः क्षितिपतिर्व्य शिश्रणद्दक्षिणाः सदसि राजसूयकीः।। शि.व. 14/33
3. तत्प्रतीतमनसामुपेयुषां द्रष्टुमाहवनमग्रजन्मनाम्।
   आतिथेयथियमनिवारितातिथिः कर्तुमाश्रमगुरुः स नाश्रमत्।। शि.व. 14/38
4. शुद्धमश्रुतिविरोधि बिभ्रतं शास्त्र मुज्जवलमवर्णसंकरैः।
   पुस्तकैः सममसौ गणं मुहुर्वाच्य मानमश्रृणोद् द्विजन्मनाम्।। शि.व. 14/37
5. शि.व. 14/37

नगर के दीर्घ व विस्तृत मार्गों पर निर्मित बाजारों में रत्नों की राशियां रखी रहती थी। नरेशों के ऊँचे-ऊँचे धवल प्रासाद निर्मित थे। जिनमें स्फटिक रत्नों से निर्मित श्रेणियां थीं। उनमें चन्द्रकान्तमणियों के फर्श बने रहते थे। प्रासादों में पृथक-पृथक कक्ष बने रहते थे। हवा एवं प्रकाश के लिए खिड़कियां बनी रहती थीं। प्रासादों की दीवारें अत्यन्त चिकनी रहती थीं। अतः उन पर चित्र बनाना असम्भव था। उनमें सुवर्ण के स्तम्भ थे। महलों की देहलियां मरकत मणियों की बनी रहती थीं।[1] नगर की खाई, परकोटा आदि से सुरक्षित किया जाता था। नगर की सुरक्षा के लिए रात्रि के समय पहरे लगा करते थे। पहरेदार पारी-पारी से अपने-अपने पहरे बदलते रहते थे।[2] प्रातःकाल मृदङ्ग. की मधुर ध्वनि से तथा बन्दीगण वीणादि वाद्यों के साथ गान करते थे।[3] अग्निहोत्रियों की यज्ञशालाओं में मंत्रोच्चारणों से अग्नि में आहुतियां दी जाती थी।[4] हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट तथा पैदल सेना के अङ्ग. थे। ब्राह्मण यज्ञोपवीत धारण करते थे।[5] गृहस्थ ब्राह्मण त्रिकाल सन्ध्यावन्दन करते थे तथा गृहस्थ अपने निर्दिष्ट कर्मों का यथावत पालन करते थे। स्त्रियां पातिव्रत्य का पालन करती थीं।[6] उस समय सतीप्रथा का प्रचलन था।[7] सगोत्र में विवाह नहीं होता था। विवाहोपरान्त कन्या अपने पिता के गोत्र को त्यागकर पति के गोत्र को स्वीकार करती थी।[8] इसीलिए पति को गोत्रभित् कहा जाता है।

नवोढा वधू अपने पति के उठनें के पूर्व ही ब्रह्ममुहूर्त में उठ बैठती थीं।[9] स्त्रियां स्वयं

---

1. शि.व. 3/33-60 तक द्वारका वर्णन
2. प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
   मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां दददपि गिरमलर्बुध्यते नो मनुष्यः।। शि.व. 11/4
3. शि.व. 1/1, 2
4. शि.व. 1/7
5. शि.व. 1/72
6. सतीव येषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि। शि.व. 1/72
7. रुचिरधाम्निभर्तरि भृशं विमलाः परलोकमभ्यु पगते विविशुः।
   ज्वलनं त्विषः कथमिवेतरथा सुलभोऽन्यजन्मनि स एव पतिः।। शि.व. 9/13
8. तदयुक्तमंग तव विश्वसृजा न कृतं यदीक्षणसहस्रतयम्।
   प्रकटीकृता जगति येन खलु स्फुटमिन्द्रताद्य मयि गोत्रभिदा।। शि.व. 9/80
9. उदमज्जि कैटभजितः शयनादपनिद्रपाण्डुर सरोजरूजा।
   प्रथमप्रबुद्धनदराजसुतावदनेन्दुनेव तुहिनद्युतिना।। शि.व. 9/30

कूप से जल भरती थी।[1] स्त्रियां पर्दाप्रथा का पालन करती थीं।[2] माघकवि का राजदरबार से सम्पर्क था। मद्यपान करना निषिद्ध नहीं था। पुरुषों के साथ स्त्रियां भी मद्यपान करती थी।[3] माघकवि तत्कालीन समाज में वासना की उद्दाम स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- अपूर्ण कहे वचन, गिरे हुए हार वस्त्र तथा भूषणों की उपेक्षा और निष्कारण जाने के लिए उठ जाना ये सब कार्य इन रमणियों के नशे के विकार को प्रकट करते थे।[4]

पिता नवविवाहिता पुत्री को अपनी गोद में बिठाकर पहनने का आभूषण देता था। पतिगृह जाते समय कन्या के मात-पिता रुदन करते थे।[5]

सामान्य जनता पौराणिक अवतारवाद में विश्वास करती थी तीर्थों का जल पवित्र माना जाता था।[6] लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते थे और भू-तल पर पापाचार बढ़ने पर, भगवान् किसी न किसी रूप में अवतार ग्रहण करते हैं।

पुरुष दो वस्त्रों का उपयोग करते थे- एक अधोवस्त्र और दूसरा उत्तरीय। स्त्रियां कौसुम्भ (गुलाबी) साड़ी पहनती थीं। तथा गले में मुक्ताहार, कर्णों में कर्णफूल, कटिप्रदेश में मेखला, पैरों में नूपुर, अधरों में लाक्षारस, कपोलप्रदेश में लोध्रपुष्प का पराग, नेत्रों में अंजन लगाती थी।[7] ताम्बूल खाती थी तथा माथे पर तिलक लगाती थीं।[8]

माघकवि का समय हिन्दूधर्म की पूर्णविजय तथा बौद्ध धर्म के पराभव का काल था। महात्मा बुद्ध के पश्चात् भारत में बौद्ध धर्म रहा किन्तु सातवीं शती से चौदहवी शती तक उद्योतकर, कुमारिल, शङ्कर, वाचस्पति मिश्र उदयनाचार्य, रामानुज आदि दार्शनिको तथा भवभूति

1. शि.व 11/44
2. नाज्जनः नरिजनैरपतार्यमाणां राज्ञोर्नरापनयनाकुलसौविदल्लाः।
   प्रस्तावगुण्ठनपटः क्षणमक्ष्यमाणवक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म।। शि.व. 5/17
3. शि.व. 11/49, 51
4. शि.व 10/16
5. शि.व. 4/47
6. अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाऽभ्युदीरिताः।
   अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः।। शि.व. 1/18
7. शि.व 9/44, 45, 46
8. शि.व. 8/70, 61

और माघ जैसे कवियों ने भारतभूमि में एक बार पुनः ब्राह्मणधर्म का पुनरुद्धार किया और वैदिक क्रिया कलाप का पौराणिक संस्करण हुआ। तत्कालीन समाज में धर्म समन्वय की भावना जागृत थी।[1] माघकवि बौद्धधर्म की शिक्षाप्रद बातों को लिखकर सहृदय का ध्यान एक ओर आकर्षित करते हैं तो दूसरी ओर यज्ञ, हवन, कर्मकाण्ड आदि बातें लिखकर ब्राह्मणधर्म को पुनर्जीवित रूप में प्रस्तुत करते दृष्टिगत होते हैं। धर्म का यह समन्वय भाव शिशुपालवध महाकाव्य में दृष्टिगोचर होता है। माघकवि ने समन्वयात्मक भावना को इस प्रकार व्यक्त किया है- जिन (महावीर) का अवतार धारण करने वाले श्रीकृष्ण ने शत्रुओं की उस सेना की जो भयङ्कर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित थी, ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित थी एवं घोर युद्ध कर चुकी थी, भूमि को रक्त से प्लावित कर दिया।[2]

यहां श्रीकृष्ण को जिन शब्द से अलङ्कृत किया है। नागानन्द में प्रथम अङ्क. के प्रथम श्लोक के अन्त में जिनः शब्द का प्रयोग करते हुए हर्ष लिखते हैं- **बोधौ जिनः पातु वः** जिन शब्द का अर्थ उस समय बुद्ध भगवान् भी लिया जाता था। इस प्रकार माघकवि ने शङ्कर, विष्णु[3] तथा उनके विभिन्न अवतारों के वर्णन के साथ-साथ बौद्ध सिद्धान्तो के प्रति अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की है। राजनीति की चर्चा करते हुए बलराम कहते हैं कि सन्ध्यादि समस्त कार्यो में सहायादि पांच अंगो के अतिरिक्त राजाओं का उस प्रकार दूसरा कोई स्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञान स्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कार स्कन्ध के अतिरिक्त बौद्धों के मत से दूसरा कोई आत्मा नही है।[4]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट विदित होता है कि माघकवि बौद्ध धर्म से प्रभावित थे और यह युग की देन है। इसका स्पष्ट ज्ञान निम्नस्थ श्लोक से होता है, जिसमें माघकवि नें श्रीकृष्ण (हरि) को भगवान् बुद्ध और शिशुपाल के राजाओं को काम की सेना माना है।[5]

---

1. महाकवि माघ-डा. मनमोहन लाल शर्मा, पृ0 140
2. भीमास्त्रराजिनस्तस्य बलस्य ध्वजराजिनः।
   कृतघोराजिनश्चक्रे भुवः सरूधिरा जिनः।। शि.व. 19/112
3. विष्णु भक्ति 1/1, 14, 33, 34 शि.व.
   शिव भक्ति 4/19, 28, 64, 65, 9/27, 28, 14/18
4. सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वांगस्कन्धपंचकम् ।
   सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्।। शि.व. 2/28
5. इति तत्तदा विकृतरूपमभजत्तदविभिन्न चेतसम्।
   मारबलमिव भयंकरतां हरिबोधिसत्त्वमभि राजमण्डलम्।। शि.व. 15/58

नवम अध्याय

आदान
प्रदान

(क) आदान

माघकवि पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

वस्तुतः जहाँ कवि काव्यनिर्मिति में लोक शास्त्रादि के गहन अनुशीलन से उपार्जित व्युत्पत्ति का प्रयोग अपने काव्य में करता है वहाँ पूर्ववर्ती विविध काव्यों के अनुशीलन से भी प्रेरणा ग्रहण करता है। जिस प्रकार जगत्प्रकृति अतीतकल्प परम्परा से बहुविध-वस्तु प्रपञ्च का आविर्भाव करती हुई प्रतिपल नवीन पदार्थ का निर्माण स्वतः करती चलती है, कभी विनष्ट नही होती, उसी प्रकार यह काव्यस्थिति भी अनन्त कवि-वाचस्पतियों की प्रतिभाओं द्वारा उपयुक्त होकर भी कदापि क्षीण नहीं होती, अपितु विदग्ध कवि की नूतन व्युत्पत्ति से बढ़ती ही जाती है।[1]

वस्तुतः साहित्य के विकास की परम्परा में 'आदान-प्रदान' प्रक्रिया का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यह एक गतिशील जीवंत प्रबल प्रक्रिया है। पूर्ववर्ती से आधार रूप में साहित्य को जो भी उपलब्ध होता है, उस पर आधृत होकर ही वह आगे के लिए अपना कदम उठाता है। इसी तथ्य को नीतिवाक्य में इस प्रकार व्यक्त किया गया है- **'चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान'** अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति अपने एक पैर से खड़ा रहता है और दूसरे पैर से चलता है। यह केवल व्यक्ति सत्य नहीं है, अपितु साहित्यिक सन्दर्भ में भी यहीं शाश्वत सत्य है। खड़े पैर का आधार पूर्ववर्ती उपजीव्य साहित्य होता है। इसी उपजीव्य परम्परागत साहित्य की भूमि पर कवि का पैर आधृत रहता है। यही कवि का 'आदान' है और गतिशील पैर 'प्रदान' है, जो उत्तरवर्ती साहित्य पर उसकी कृति का प्रभाव होता है। जिस प्रकार शशि की रमणीयता लेकर रमणी का मुखमण्डल और अधिक सुशोभित होता है, उसी प्रकार पुरातन विदग्ध कवि की रमणीयता को ग्रहण करने से कवि की काव्यवस्तु और अधिक शोभा धारण करती है, पुनरुक्त नहीं प्रतीत होती।[2] वैसे तो कवि को व्युत्पन्न काव्य का अभ्यास करना

---

1. वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपियत्नतः।
   निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव।। ध्व. 4/10
2. आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यापि।
   वस्तुभातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्।। ध्व. 4/14

नितान्त आवश्यक होता है क्योंकि इन्हीं से कवि को काव्यनिर्मिति की प्रेरणा मिलती है। अपनी काव्य रचना की प्रारम्भिक अवस्था में कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का गहन अध्ययन करता ही है तथा उसकी अपनी कृति में ज्ञात या अज्ञात रूप से पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

शिशुपालवध महाकाव्य के अध्ययन से यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि माघकवि पर रामायण, महाभारत के अतिरिक्त 'कालिदास, भारवि तथा भट्टि' इन तीन पूर्ववर्ती महाकवियों का अधिक प्रभाव पड़ा है। शिशुपालवध महाकाव्य में इन्हीं की छाया-पदयोजना में, वस्तुयोजना में तथा भावनिष्पत्ति में भी यत्र-तत्र झलकती है।

कालिदास

कविकुलगुरु कालिदास का गुरुत्व अपनी अपूर्व काव्यकला के कारण तो है ही, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से भी वे संस्कृत काव्य मार्ग के प्रदर्शक ठहरते हैं। कालिदास की कृति में ही हमें सर्वप्रथम भाव और कला दोनों का पूर्ण तथा मनोरम समन्वय मिलता है। सर्वप्रथम कालिदास की ही रचना है जिससे माघकवि का पर्याप्त मात्रा में प्रभावित होना सिद्ध होता है। वास्तव में तो कालिदास के ही प्रबन्ध शिशुपालवध की प्रबन्ध-कल्पना के आदर्श रहे हैं। रघुवंश तथा कुमारसंभव दोनों से ही माघकवि ने अपनी प्रबन्ध-रचना की प्रेरणा पाई है। किन्तु शिशुपालवध पर रघुवंश की अपेक्षा कुमारसंभव का प्रभाव कम है।

महाकवि माघ ने कविकुलगुरु कालिदास से पद, भाव, छन्द तथा बहुत कुछ प्रबन्धयोजना में भी शिक्षा अर्जित की है।

रघुवंश

रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में राम सीता से महोदधि की महत्ता का यशोगान करते हुए कहते है- 'युगान्त के समय योगनिद्रा के अभ्यासी पुराणपुरुष विष्णु समस्त भुवन को अपने उदर में समाविष्ट कर इसी महोदधि में शयन करते हैं।[1]

शिशुपालवध महाकाव्य के तृतीय सर्ग का अध्ययन करनें से यह सुस्पष्ट होता है कि माघकवि ने रघुवंश के उपर्युक्त कथन का अनुकरण इस प्रकार किया है- 'जब समुद्र ने

---

1. अमुंयुगान्तोचित् योगनिद्रः सहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते। रघुवंश 13/6

द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ जाते समय अपनी गोद में सोने वाले युगान्तबन्धु जगदाधार श्रीकृष्ण को आया देखा तो हर्षातिरेक में उत्तुंग तरंगरूप बाहुओं को फैलाकर मानों उनकी अगवानी की।[1]

रघुवंश में वर्णित है कि 'आकाश-गंगा की 'तरंगो के सम्पर्क से शीतल ऐरावत मदसुरभित आकाश वायु सीता के मुख पर दोपहर की गर्मी से उठी पसीने की बूंदों को दूर कर रहा है।[2]

माघकवि ने उक्त कथन का सङ्केत इस प्रकार किया है- 'समुद्र के तट से जाते हुए श्रीकृष्ण की पसीने की बूंदो को जल शीतल (सीकर-पूर्ण) इलाइची की लताओं के सम्पर्क से सुगन्धित नभस्वान् (आकाश वायु) पोंछ रहा था।[3]

रघुवंश के पञ्चम सर्ग में प्रभातवर्णन में हाथी दोनों करवटों में नींद पूरी कर उठते हैं।[4] शिशुपालवध में भी उसी प्रकार एक करवट में सोकर उठा हुआ हाथी पैर में बंधे श्रृंखला के शब्द के साथ दूसरे करवट में पीलवान द्वारा पुनः सुलाया जाता है।[5]

रघुवंश के 'इन्दुमती स्वयंवर' में मगधेश्वर परन्तप के द्वारा अपने यज्ञ में निरन्तर इन्द्र को बुलाये रहने के कारण 'शची' प्रोषितपतिका ही बनी रहती है और मन्दारपुष्प का श्रृंगार अपने अलकों में नहीं करती।[6]

---

1. तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्संग शय्याशयमम्बुराशिः।
   प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोद-प्रसारितोत्तुङ्ग.तरंगबाहुः।। शि.व. 3/78
2. असौमहेन्द्र-द्विपदानगन्धि स्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः।
   आकांशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान् मुखेते।। रघुवंश 13/20
3. उत्संगिताम्भः कणकोनभस्वानुदन्वतः स्वेदलवानूममार्जः।
   तस्यानुवेलं व्रजतोऽधिवेलमेलालतास्फालनलब्धगन्धः।। शि.व. 3/79
4. शय्याजहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखर शृंखलकर्षिपस्ते। रघुवंश 5/72
5. क्षितितटशयनान्तादुत्थितंदानपंक,
   प्लुतबहुलशीररं शाययत्येष भूयः।
   मदुचलदपरान्तोदीरितान्दूनिनादं,
   गजपतिमधिरोहः पक्षकव्यत्ययेन।। शि.व. 11/7
6. क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः।
   शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान् मन्दारशून्यानलकांश्चकार।। रघुवंश 6/23

शिशुपालवध में धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में भी रघुवंश के इन्दुमती-स्वयंवर की उक्त दशा अनेक देवपत्नियों की बतायी गयी है।[1]

रघुवंश के नवम सर्ग में कालिदास ने द्रुतविलम्बिन छन्द में यमक अलङ्कार का मनोरम जोड़ा बैठाया है। माघकवि को कालिदास की यह योजना इतनी आकर्षक लगी कि उन्होने स्वयं शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग में षड्ऋतु का वर्णन उसी प्रकार द्रुतविलम्बित छन्द में तथा यमक के पदमाधुर्य के साथ किया।

रघुवंश, कुमारसम्भव तथा शिशुपालवध का अनुशीलन करने से यह सुस्पष्ट होता है कि माघकवि ने अपनी अन्यतम कृति में यत्र-तत्र कालिदास की पदावलियां भी रखी है, जो दृष्टव्य है।

	कालिदास	माघ
1.	स्मरमते रमते स्ववधूजनः। रघु. 2/47	स्मरमयं रमयन्ति विलासिनः।। शि.व. 6/6
2.	ययावनुद्धातसुखेन मार्गम्। रघु. 2/72	ययावनुद्धात सुखेन सोऽध्वना।। 12/2
3.	प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गंगाम्। रघु. 16/23	प्रतीपनाम्नी कुरुतेस्म निम्नगाः।। 12/57
4.	गणं निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्य-सन्धः। रघु. 14/52	तीर्त्वाजवेनैवनितान्तदुस्तरां नदीं प्रतिज्ञामिव तां गरीयताम्।। 12/74
5.	आकुमारकथोद्धातम्। रघु. 4/68	आकुमारमरिवलाभिधानवित्।। 13/68
6.	स्वमेवमूर्त्यत्यन्तरमष्टमूर्तिः कु. 1/57	अष्टमूर्तिधर मूर्तिरष्टमी।। 14/18
7.	पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरंगसादी तुरगाधिरुढम्। यन्ता गजस्याभ्यपदद् गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम्।। रघु. 7/37	पत्तिः पत्तिं वाहमेयाय वाजी नागं नागः स्यन्दनस्थोरस्थम्। इत्थं सेना वल्लभस्येव रागाद अंगेनांगं प्रत्यनीकस्य भेजे।। 18/2
8.	यावत्प्रतापनिधिराक्रमतेन भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्। रघु. 5/71	व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमालीन यावत्तिमिरमरखिल मस्तं तावददेवारुणेन।। 11/25
9.	स्त्रीणां प्रियालोकफलोहि वेशः। कु. 17/22	कामिनां मण्डनश्रीर्वजतिहिसफलत्वं वल्लभालोकनेन।। 11/33
10.	नमोविश्वसृजे पूर्व विश्वं तदनुबिभ्रते। अथविश्वस्य संहर्त्रेतुभ्यं त्रेधास्थितात्मने।। रघु. 10/16	पद्मभूरितिसृजन् जगद् रजः सत्त्वमच्युत इति स्थितिंनयन्। संहरन हरइतिश्रितस्तम् स्त्रैधामेवभजसि त्रिभिर्गुणैः।। 14/61

---

1. तत्र नित्यविहितोपतिष्ठुप्रोषितेषु पतिषुद्युयोषिताम्।
   गुम्फिताः शिरसिवेणयो भवन्नप्रफुल्लसुरपादपस्रजः।। शि.व. 14/30

कुमार संभव में शंकर की वरयात्रा के समय शंकर को देखने[1] तथा रघुवंश में नगर-राजमार्ग पर साथ-साथ जाते समय अज-इन्दुमती को देखने[2] पुरांगनाओं की चेष्टाओं का जैसा मनोरम वर्णन कालिदास ने किया है, उसी के आधार पर माघकवि ने श्रीकृष्ण को देखने इन्द्रप्रस्थ की पुरयोतिओं की चेष्टाओं का वर्णन किया है- 'श्रीकृष्ण के इन्द्रप्रस्थ नगर में प्रवेश करने के पश्चात् दुन्दुभियों के बजने से आहूत रमणियां उनको (श्रीकृष्ण को) देखने के लिए अन्य कार्यो को छोड़कर शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक मार्गो में आ गयी।[3]

जिस प्रकार इन्दुमती के स्वयंवर में इन्दुमती के प्रति राजाओं की विविध चेष्टाएं हुई थीं[4], उसी प्रकार इन्द्रप्रस्थ में श्रीकृष्ण को देखकर रमणियों की चेष्टाएं वर्णित हैं- श्रीकृष्ण को भलीभांति देखने की इच्छुक रमणियां अत्यधिक फैलाये गये नेत्ररूपी अञ्जलि से शीघ्रतापूर्वक पान किये गये मद्यरस के आधिक्य से बोझिल एवं मद से आलसी शरीरों से होकर अपने घर को धीरे-धीरे लौटती है।[5]

भारवि

भारवि का किरातार्जुनीय उनकी अलंकृत काव्य-शैली के कारण एक स्पृहणीय एवं स्पर्धनीय काव्य बन गया। वस्तुतः भारवि द्वारा चलायी गयी अलंकृत काव्य-शैली से उस युग में काव्य-रचना का मानदण्ड ही बदल गया। अन्य उदीयमान कवियों की भांति माघकवि भारवि से विशेषरूप से प्रभावित माने जाते हैं। माघकवि का भारवि से प्रभावित होने का प्रमुख कारण उनकी यशोलिप्सा ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि में सुकविकीर्ति को प्राप्त करने का ऐसा दुर्निवार अभिलाष था, जिससे विवश होकर उसे अपनी व्युत्पन्नता का परिचय हठात् देना पड़ा है। वस्तुतः यह निश्चित है कि कवि के हृदय में भारवि के काव्य और उसकी कीर्ति को देखकर यह प्रतिक्रिया जागृत हो चुकी थी कि 'किरातार्जुनीयम्' की प्रसिद्धि और लोकप्रियता

1. कुमारसम्भव 7/57-68
2. रघुवंश 7/5-15
3. अवलोकनाय सुरविद्विषां द्विषः पटहप्रणादविहितोपहूतयः।
   अवधीरितान्यकरणीयसत्वराः पतिरथ्यमीयुरथ पौरयोषितः।। शि.व. 13/30
4. रघुवंश 6/12-19
5. अलसैर्मदेन सुदृशः शरीरकैः, स्वगृहान्प्रति प्रतिययुः शनैः शनैः।
   अलघुप्रसारितविलोचनाञ्जलिद्रुतपीतमाधवरसौघनिर्भरैः।। शि.व. 13/48

को कम करके अपना काव्य 'शिशुपालवध' उससे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करे। इसीलिए माघकवि न सादृश्यवाद को स्वीकार किया है और पूर्ववर्ती सभी काव्यों विशेषरूप से 'किरातार्जुनीयम्' के वस्तु और शिल्प का सादृश्य स्वीकार कर उस पर अपनी मौलिकता और अगाध व्युत्पन्नता की छाप लगा दी है।

माघकवि कथावस्तु की योजना, सर्गों का विभाजन और वर्ण्य विषयों का प्रस्तुत करने में भारवि के पदचिन्हों पर चलते प्रतीत होते है। भेद केवल दोनों कवियों के इष्ट देवों के कारण है। भारवि ने शिव भक्त होने के कारण महाभारत से शिव से सम्बन्धित इतिवृत्त को ग्रहण किया है और माघकवि ने कृष्णभक्त होने के कारण कृष्ण से सम्बन्धित इतिवृत्त को ग्रहण किया है।

शिशुपालवध और किराताजुर्तनीय के साम्य का प्रारूप इस प्रकार समझा जा सकता है-

	शिशुपाल वध	किरातार्जुनीय
1.	काव्य के प्रारम्भ में 'श्री' शब्द का प्रयोग मंगलाचरण के लिए है।	काव्य के प्रारम्भ में 'श्री' शब्द का प्रयोग मंगलाचरण के लिए है।
2.	प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' शब्द का प्रयोग हुआ है।	प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग हुआ है।
3.	प्रथम सर्ग में देवर्षि नारद के आगमन पर श्रीकृष्ण ने प्राय: वैसे शब्दों में नारद का स्वागत किया है।	तृतीय सर्ग में व्यास के आने पर युधिष्ठिर ने उनका श्रद्धा-विनय के साथ स्वागत किया है।
4.	नारद द्वारा इन्द्रसन्देश के पश्चात् बलराम, उद्धव के साथ श्रीकृष्ण की मन्त्रणा में राजनीतिक परिसंवाद।	किरात के समाचार बता देने के पश्चात् युधिष्ठिर, भीम तथा द्रोपदी के बीच परिसंवाद।
5.	शिशुपाल की सेना में अंगना, प्रियतम को युद्धार्थ विदा करते समय द्रोपदी के समान आंसू नहीं गिरने देती।[1]	अर्जुन के प्रस्थान के समय मंगल भंग भीरु द्रोपदी अपने पर्यश्रु नेत्रों के पलक नहीं गिराती थी कि कही आंसू न टपक पड़े।[2]

1. नमुमोचलोचनजलानि दयित जयमंगलैषिणी। शि.व. 18/85
2. तुषारलेखाकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणीमंगलभंगभीरु।
   अगूढभावापि विलोकनेसा न लोचने मीलयितुं विषेहे।। कि. 3/66

6. षष्ठ सर्ग में षड्ऋतु वर्णन किया गया है।	चतुर्थ सर्ग में शरद् वर्णन है।
7. चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का मनोरम वर्णन किया गया है।	पंचम सर्ग में हिमालय वर्णन किया गया है।
8. शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग में 22 छन्द प्रयुक्त हुए हैं।	किरातार्जुनीय के सर्ग 5 तथा सर्ग 18 में विविध 16 छन्द प्रयुक्त हुए हैं।
9. पञ्चम सर्ग में शिविर सन्निवेश का वर्णन है।	सप्तम सर्ग में शिविर सन्निवेशवर्णन।
10. सप्तम सर्ग में पुष्पावचय वर्णन है।	अष्टम सर्ग में पुष्पावचय वर्णन है।
11. अष्टम सर्ग में रमणियों के जलक्रीडा का वर्णन है।	अष्टम सर्ग में जलक्रीडा का वर्णन है।
12. एकादश सर्ग में प्रभात-वर्णन किया गया है।	नवम सर्ग में प्रभात-वर्णन है।
13. नवम सर्ग में ही सन्ध्या एवं चन्द्रोदय वर्णन है।	नवम सर्ग में सन्ध्या एवं चन्द्रोदय वर्णन है।
14. दशम सर्ग में सुरतपान-गोष्ठी वर्णन है।	नवम सर्ग में सुरतपान गोष्ठी वर्णन है।
15. दशम सर्ग में दुर्वादी शिशुपाल-दूत से सात्यकि आदि का वाद-विवाद वर्णित है।	त्रयोदश सर्ग में शिव-दूत से अर्जुन का वाद-विवाद वर्णित है।
16. सर्ग 15, 17 तथा 18 में सैन्य सन्नाह एवं युद्ध-वर्णन किया गया है।	चतुर्दश सर्ग में सैन्य सन्नाह तथा युद्ध-वर्णन है।
17. उन्नीसवें सर्ग में चित्रालंकार द्वारा युद्ध-वर्णन है।	पन्द्रहवें सर्ग में चित्रालंकार द्वारा युद्ध वर्णन है।
18. रैवतक पर्वत के वर्णन में यमक का प्रयोग है।	हिमालय पर्वत वर्णन में यमक अलङ्कार का प्रयोग है।
19. भीष्मपितामह द्वारा श्रीकृष्ण स्तुति की गयी है।	अर्जुन द्वारा शिव-स्तुति की गयी है।

इसके अतिरिक्त दोनों महाकाव्यों में वर्ण्य विषय एक जैसे हैं। यथा- शत्रुवर्णन, राजनीति वर्णन, जलक्रीडा वर्णन, सायं तथा रात्रिवर्णन, सुरत-क्रीड़ा वर्णन आदि। ऐसा प्रतीत होता है मानो माघकवि किरातार्जुनीय को अपने स्मृति-पथ पर निरन्तर प्रतिष्ठित कर अपने काव्य का प्रारूप बनाया था।

भट्टि

माघकवि पर भट्टि का भी शास्त्रीय प्रभाव पड़ा है। माघकवि की व्याकरणप्रियता तथा व्याकरण-प्रयोग प्रदर्शन भट्टि की देन प्रतीत होते हैं, साथ ही कहीं-कहीं कवि के श्लोक-भाव भी भट्टि से अनुकृत लगते हैं। जैसा कि भट्टि के वर्णन से सुस्पष्ट होता है- कहां तो स्त्रियों द्वारा न सहने योग्य नख, कहां पर्वतशिला के समान विशाल एवं कठोर दैत्य हिरण्यकशिपु का वक्षस्थल ? देवताओं की नीति तो देखो कि उन्हीं नाखूनों से नृसिंह ने उस वक्ष:स्थल को विदीर्ण कर डाला।[1]

भट्टि के उपर्युक्त कथन का संकेत शिशुपालवध महाकाव्य के इस श्लोक में प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है- हे नृसिंह तुमने मुग्धा सुन्दरियों के स्तन स्पर्श से मुड़ जाने वाले अपने नाखूनों से ही उस हिरण्यकशिपु के वक्ष:स्थल को विदीर्ण कर दिया था।[2]

वस्तुत: माघकवि स्वयं महावैय्याकरण थे। इसका प्रमाण शिशुपालवध में यत्र-तत्र अंकित व्याकरण के सूक्ष्म नियमों में माघकवि ने जितने नवीन शब्दों का प्रयोग किया है, वह केवल व्याकरण के सूक्ष्म नियमों के ज्ञान के कारण ही सम्भव हो सका है; इतना अन्य कवि से नहीं बन पड़ा है।

---

1. क्वस्त्रीविसह्यः करजाः क्ववक्षोदैत्यस्यशैलेन्द्रशिलाविशालम्।
   संपश्यतैतद द्युसदांसुनीतं विभेद तैस्तान्नरसिंहमूर्तिः।। भट्टि 12/49
2. सटाच्छटाभिन्नघनेन विभ्रता नृसिंहसैहीमतनुं तनुं त्वया।
   समुग्धकान्तास्तनसंगभंगुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करेनखैः।। शि.व. 1/47

(ख) प्रदान

परवर्ती काव्यों पर माघ का प्रभाव

यद्यपि 'प्रदान' किसी कवि के काव्य विश्लेषण का उसके विषय पर शोध करते समय अपेक्षित नहीं है तथा माघ इतने बड़े प्रेरणास्रोत परवर्ती कवियों के लिए बने कि यहां एक हलकी सी झलक देना अवांछित न होगा।

विदग्ध कवि किसी अन्तर्भावना विशेष से प्रेरित होकर ही काव्य की रचना करता है तथा उस काव्य का वही मूल प्रयोजन एवं प्राणरूप होता है। इसलिए उस काव्य की समीक्षा करते समय समालोचक का यह प्रथम कर्तव्य होता है कि वह उस प्रयोजन को वस्तुतः समझने का प्रयत्न करे क्योंकि उस प्रयोजन का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते ही समालोचक स्वयं कवि की आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है फिर उसकी समालोचना भी यथार्थ ही होती है।

शिशुपालवध में श्रीकृष्ण का चरित्र ही प्रधान वस्तु है। इस प्रकार आज की समालोचना की भाषा में हम उसे 'चरित्र प्रधान' काव्य कह सकते है किन्तु उससे घटनाओं के संघटन, वस्तुओं के रोचक विवरण और भावों तथा रसों के निरूपण में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचने पायी है। सब का पूर्णतम निर्वाह हुआ है। यहां तक कि हम चाहें तो शिशुपालवध को घटना प्रधान, भाव या 'रस प्रधान' अथवा वर्णन प्रधान भी नाम दे सकते हैं। किन्तु ध्यान से देखने पर घटना, भाव रस तथा वर्णन के सौष्ठव से नायक के चरित्र का ही विकास होता दिखायी पड़ता है, जिसका विवेचन कथानक के औचित्यवाले अध्याय में किया जा चुका है।

उपर्युक्त प्रयोजन के साथ माघकवि जीवन में धर्म, अर्थ और काम के मञ्जुल सन्तुलन का भी सन्देश देते हैं। वीररस प्रधान होते हुए भी शिशुपालवध में अर्थ, धर्म तथा मोक्षोपाय का भी समान महत्त्व माना गया है। इस प्रकार माघकवि शिशुपालवध द्वारा पूर्ण आदर्श जीवन की प्रतिष्ठा· चाहते थे।

माघकवि के परवर्तीकाल की संस्कृत काव्य-रचनाओं पर सर्वाधिक प्रभाव शिशुपाल वध का पड़ा है। परवर्ती काव्य रचना शैली पर माघ का आतंक सा छा गया था। अतः कहा जाता था- **'माघेन विघ्निहोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।'** परवर्ती कवि माघ की शैली का यथाशक्ति अनुकरण करता था। परवर्ती महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ स्थान श्रीहर्ष के नैषधीयचरित का है, जो अपनी काव्यकल्पना, व्युत्पत्ति तथा पदलालित्य के कारण किरात, माघ दोनों काव्य

से उत्कृष्ट माना जाता है। जैसा कि कहा गया है- **'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघुः क्व च भारविः।'** किन्तु उस नैषध पर माघकवि का प्रतिबिम्ब यत्र-तत्र दृष्टिगोचर पड़ ही जाता है। श्रीहर्ष ने, माघ से प्रेरणा लेकर अपनी कल्पना के भव्य प्रासाद निर्मित किये हैं। हां श्रीहर्ष की प्रतिभा, माघकवि से कुछ और आगे बढ़ गयी है। यहां केवल माघ के प्रति श्रीहर्ष की अधमर्णता का विवेचन किया जायेगा और 'प्रधानमल्लनिर्वहणन्याय' से अन्यों की अधमर्णता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। यहां माघकवि तथा श्रीहर्ष के काव्य कथानक के कुछ स्थल दृष्टव्य है-

माघकवि ने द्वारिकापुरी वर्णन प्रसङ्ग. में द्वारिकानगरी को मानो दर्पण-निर्मल जल में प्रतिबिम्बित स्वर्गपुरी उत्प्रेक्षित किया है[1] तो श्रीहर्ष ने भी कुण्डिनपुर को किसी जलाशय में प्रतिबिम्बित सुरनगरी के सदृश माना है और उस नगरी के चारों ओर जलपूर्ण परिखा को उस जलाशय का प्रतिबिम्ब के बाहर का अंश बताया है।[2] रात्रि की चमकती चांदनी में धवल-स्फटिक निर्मित द्वारिका की सौध-राजि पृथक नहीं प्रतीत होती। अतः उन महलों की अट्टालिकाओं पर चढ़ने पर स्त्रियां आकाशस्थ देवाङ्गनाओं के समान शोभित होती थीं।[3] इसी प्रकार कुण्डिनपुर की भी सुन्दरी गगनचुम्बी सौधशिखर से, अपने प्राणेश्वर के क्रीडागृह में जाती हुई साक्षात् देवाङ्.ना ही प्रतीत होती थी।[4] जिस प्रकार द्वारिकापुरी में चन्द्रकान्तमणियों की निर्मित अट्टालिकाएं इतनी ऊँची है कि मेघ उनके अधोभाग में रहते हैं। फिर भी रात्रि में चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से उन अट्टालिकाओं से जल की धारा गिरती है।[5] उसी प्रकार कुण्डिनपुर में भी

1. अदृश्यतादर्शतलामलेषुच्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु। शि.व. 3/35
2. विलसास जलाशयोदरे क्वचनद्यौरनुबिम्बितेव या।
   परिरवाकपटस्फुटस्फुरत् प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि।। नैषध 2/79
3. स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुताः स्फाटिकसौध पङ्.क्तीः।
   आरुह्य नार्यः क्षणादासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन्।। शि.व. 3/43
4. स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं,
   पाथोदंनिजकेलिसौधशिखरादारुह्यत्कामिनी।
   साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभवद्,
   यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि।। नैषध 2/104
5. कान्तेन्दुकान्तोत्पलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
   उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपिसमूहमूहुः पयसांप्रणाल्यः।। शि.व. 3

भवनों की उच्च अट्टालिकाओं की चन्द्रकान्त मणियों से प्रतिचन्द्रोदय के समय इतना जलस्राव होता है कि आकाश-गंगा अपने पातिव्रत्य धर्म को नहीं छोड़ती। यादवाङ्गनाओं के शारीरिक सौष्ठव का वर्णन करते हुए माघकवि ने एकावली अलङ्कार का शोभन प्रयोग किया है- उन यादवाङ्गनाओं को सुन्दरता ने अलंकृत किया, उस सुन्दरता को यौवनागम ने, यौवनागम को मदनविलास ने और मदनविलास को प्रिय संगमजन्य हर्ष ने अलंकृत किया।[1] नैषध में श्रीहर्ष ने दमयन्ती की रमणीयता के वर्णन में ऐसे ही भाव व्यक्त किये गये हैं- पहले तो ब्रह्मा ने ही इसे लोकोत्तर बनाया, फिर यौवन ने इसे और ऊपर पहुंचाया और अन्त में अनङ्ग. ने विभ्रम कलाओं को पढ़ाकर तो अवर्णनीय ही बना डाला।[2] भीष्मपितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में श्रीकृष्ण के कूर्म, वराह आदि विविध अवतारों की महिमा का यशोगान किया है।[3] इसी प्रकार नैषध में भी राजा नल के मध्याह्न अर्चना के प्रसङ्ग. में विष्णु के अवतारों का स्तुतिगान किया गया है। धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा से क्रुद्ध होकर शिशुपाल ने श्रीकृष्ण के प्रति जो दुर्वचन कहे, उनमें इतनी भर्त्सना तथा कटुता थी कि महाभारत का वह अंश[4] माघ जैसे कृष्ण-भक्त के लिए असहनीय था। अतः माघकवि ने अपने काव्य में शिशुपाल के उन दुर्वचनों को श्लिष्ट पदो से अलंकृत कर उनमें द्वितीय अर्थ की भी सम्भावना रख छोड़ी है।[5] पुनश्च षोडशसर्ग में युद्ध में तत्पर शिशुपाल का दूत द्वारा भेजा गया सन्देश प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार का श्लिष्ट अर्थ वहन करता है।[6] माघकवि ने युद्धवर्णन प्रसङ्ग. में एक श्लोक को तीन अर्थों वाला बनाया है।[7] यहीं से श्रीहर्ष को त्रयोदश सर्ग की श्लेषमयी रचना करने की प्रेरणा मिली और उन्होंने पांच अर्थों वाला तक श्लोक बना डाला। शिशुपाल वध में माघ कवि ने रैवतक-गिरि पर अपनी रमणियों के साथ मदमस्त होकर गाते हुए सिद्धों के स्वर को विशेषण 'भाविक' दिया है।[8] नैषध में श्रीहर्ष ने भी प्रभात वर्णन करने वाले

1. चारुतावपुरभुषयदासा तामनूनवयौवनयोगः।
   त पुनर्मकरकेतनलक्ष्मी स्तां मदो दयितसंगमभूषः।। शि.व. 10/33
2. सृष्टातिविश्वाविधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरि यौवनेन।
   वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवे यमवापिता वाक्पथपारमेव।। नै. 7/108
3. शि.व. 14/71-86
4. महाभारता सभापर्व, अध्याय 41
5. शि.व. 15/1-34 तथाकथित प्रक्षिप्त श्लोक।
6. शि.व. 16/2-15
7. शि.व. 19/116
8. प्रगीयते सिद्ध गणैश्चयोषितामुदारमन्ते कलभाविक स्वरैः। शि.व. 4/23

वैतालिकों के पदों को 'भाविक' विशेषण दिया है।[1] पहुंचकर भीम एवं अर्जुन के मध्य रथ पर आरूढ़ श्रीकृष्ण ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे दो ग्रहों के मध्य स्थित चन्द्रमा दुरुधर योग प्राप्त कर होता है।[2] इसी प्रकार नैषध में भी कानों में दो दमकते कुण्डलों के मध्य दमयन्ती का मुखचन्द्र निश्चित 'दौरुधरी' स्थिति को प्राप्त कर रहा था।[3] इनके अतिरिक्त श्रीहर्ष ने अनेक पदों तथा वाक्यों के प्रयोग को माघ से लिया है।

व्यापकता और लोकप्रियता की दृष्टि से उत्तरकालीन अलंकृत महाकाव्यो में 'शिशुपालवध' महाकाव्य का वृहत्त्रयी किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित; में अपना विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान आज भी सहस्त्रों वर्ष के पश्चात् भी बना हुआ है। उसकी लोकप्रियता प्रचार-प्रसार में आज भी कोई कमी नहीं आयी है। इसका एकमात्र कारण उसकी वह जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता ही है जो संस्कृत के अन्य पुराने तथा उसके उत्तरवर्ती अलंकृत महाकाव्यों में नहीं है। अतः समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में माघकवि का स्थान कालिदास से दूसरा है। शिशुपालवध महाकाव्य निश्चित ही संस्कृत काव्य साहित्य का एक देदीप्यमान अनमोल रत्न है। शिशुपालवध की महत्ता केवल माघकवि की वैयक्तिक महत्ता नहीं अपितु उसमें उस युग की समस्त प्राण-धारा भी मिली हुई है; जिसे माघकवि ने आत्मसात् कर लिया था।

1. श्रुतिमधुपदस्रग्वैदग्धीविभावितभाविकस्फुटरसभृशाभ्यक्ता वैतालिकैर्जगिरे गिरः। नैषध 19/1
2. पवनात्मजेन्द्रसुतमध्यवर्तिनानितरामरोचि रुचिरेणचक्रिणा।
   दधतेवयोगमुभयग्रहान्तरस्थितिकारितंदुरुधराख्यमिन्दुना।। शि.व. 13/22
3. अवादिभैमीपरिधाप्यकुण्डले वयस्ययाभ्यामभितः समन्वयः।
   त्वदाननेन्दो प्रियकामजन्मनि श्रयत्ययं दौरुधरीधुरं ध्रुवम्।। नैषध 15/42

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. ऋग्वेद संहिता
2. शुक्लयजुर्वेद संहिता
3. शतपथ ब्राह्मण
4. तैत्तिरीय आरण्यक
5. अष्टाध्यायी-पाणिनि
6. पाणिनीय शिक्षा
7. वृहत् संहिता-वराह मिहिर
8. छान्दोग्य उपनिषद्
9. बृहदारण्यक उपनिषद
10. तैत्तिरीय उपनिषद
11. मुण्डक उपनिषद
12. नारायण उपनिषद
13. आश्वलायन श्रौतसूत्र
14. वाल्मीकि रामायण - नि.सा.प्रे.
15. महाभारत चित्रशाला प्रेस, पूना
16. वायुपुराण
17. मत्स्यपुराण
18. स्कन्दपुराण
19. लिङ्ग.पुराण
20. कूर्मपुराण
21. अग्निपुराण
22. श्रीमद्भागवत पुराण
23. शिवपुराण
24. देवीभागवत
25. विष्णुपुराण
26. पद्मपुराण

27. ब्रह्माण्डपुराण
28. हरिवंशपुराण
29. भविष्यपुराण
30. ब्रह्मपुराण
31. ब्रह्मवैवर्त पुराण
32. महिम्नः स्तोत्र
33. चरक संहिता
34. सुश्रुत संहिता
35. तर्कभाषा
36. सर्वदर्शन संग्रह अभ्यंकर प्रतिपादित
37. सांख्यकारिका ईश्वरकृष्ण
38. भगवद्गीता
39. पंचदशी विद्यारण्यमुनि
40. सूर्यसिद्धान्त इन्द्रनारायण द्विवेदी
41. वृहज्जातक
42. पातंजल योगदर्शन
43. वाक्यपदीय भतृहरि
44. वेदान्तसार
45. मीमांसा सूत्र जैमिनी
46. कठोपनिषद
47. रतिरहस्य
48. कामसूत्र (वात्स्यायन प्रणीत) चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
49. जातक बी. फाउसबोल द्वारा सम्पादित टूबर एण्ड क. लन्दन
50. काव्यप्रकाश - आचार्य विश्वेश्वर
51. काव्यामीमांसा - राजशेखरकृत, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा
52. काव्यादर्श - दण्डीप्रणीत
53. काव्यानुशासन - हेमचन्द्रप्रणीत, निर्णयसागर प्रेस
54. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति - वामनप्रणीत

55. किरातार्जुनीय - चौखम्भा प्रकाशन

56. कामन्दक - नीतिसार

57. शिशुपालवध - चौखम्भा प्रकाशन

58. नैषधीयचरित नारायण की नैषध प्रकाश टीका सहित

59. दशरूपक - धनञ्जय प्रणीत

60. ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धनाचार्य विरचित

61. नाट्यदर्पण - रामचन्द्र गुणचन्द्र प्रणीत

62. नाट्यशास्त्र - भरतमुनि प्रणीत

63. साहित्यदर्पण - विश्वनाथ

64. रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ

65. नैषधपरिशीलन - डा. चण्डिका प्रसाद शुक्ल

66. संस्कृत के महाकाव्य पञ्चक में व्युत्पत्ति - डा. श्याम के. मुसलगांवकर

67. माघकवि - डा. चण्डिका प्रसाद शुक्ल, साहित्य अकादमी नई दिल्ली 1982

68. समीक्षाशास्त्र - पण्डित सीताराम चतुर्वेदी

69. वृहत्त्रयी एक आलोचनात्मक अध्ययन - डा. सुषमा कुलश्रेष्ठ, ईष्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली 1983

70. शिशुपाल वध आलोचनात्मक अध्ययन - चुन्नीलाल शुक्ल, साहित्य भण्डार, मेरठ

71. संस्कृत कवि दर्शन - भोलाशङ्कर व्यास, चौखम्भा संस्कृत विद्याभवन, वाराणसी तृतीय संस्करण 1986

72. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डा. जयनाराण वर्मा, डा. पुष्पा गुप्ता

73. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डा. बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान वाराणसी 1978

74. संस्कृत साहित्य का इतिहास - ए.बी. कीथ, अनुवादक मङ्गलदेवशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1967

75. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

76. संस्कृत सुकवि समीक्षा - बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1963

कोशग्रन्थ

77. अमरकोश
78. आदर्श हिंन्दी संस्कृत कोश
79. प्रत्ययकोश
80. शब्दकल्पद्रुम
81. संस्कृत हिंन्दी कोश